



"राही मासूम रज़ा के लेखन में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ"

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की
पी-एचडी (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध-सार

शोध-निर्देशक:

डा० वेद प्रकाश

एसोशिएट प्रोफेसर

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़-202002

शोधार्थी :

शहबाज अली खान

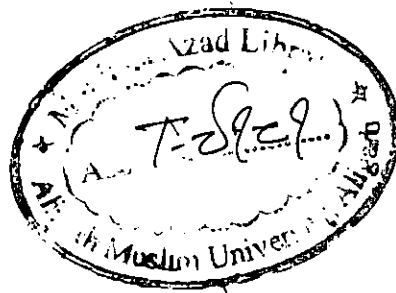
THESIS

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

2012

THESIS



शोध—प्रबंध—सार

उत्तर उपनिवेशवाद पर बहस अभी जारी है। आज यह विश्व-साहित्य-जगत पर अधिकाधिक व्यवहृत होने वाला अनुशासन है। 'उत्तर उपनिवेशवाद' अंग्रेजी के 'Post Colonialism' का हिंदी पर्याय है। इसकी अर्थ-छवियों को लेकर काफी बहस हो चुकी है। अपने आरंभिक रूप में यह उपनिवेशवाद से राजनीतिक मुक्ति से जुड़ा था और तब इसे 'उत्तर-उपनिवेशवाद' (Post-Colonialism) यानी उपनिवेशवाद के बाद- अर्थ में ग्रहण किया जाता था। किंतु इस अर्थ-छवि में औपनिवेशिक साम्राज्यवादी इतिहास एवं उस औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के खिलाफ उपनिवेशित द्वारा किया गया प्रतिरोध-अर्थ नेपथ्य में चला जाता था। इसके कारण यह अनुशासन अपने तमाम दोषों के बावजूद औपनिवेशिक विमर्श को विस्थापित कर खुद ही एक वर्चस्वकारी विमर्श में तब्दील होने लगा था। इसी कारण तीसरी दुनिया के बहुत से बुद्धिजीवियों ने उत्तर-औपनिवेशिकता का विरोध किया। उनका मानना था कि यह देशी स्वतंत्रता-संघर्ष की उपेक्षा करता है और उपनिवेशित देशों पर किये गये दमन एवं अत्याचार एवं उस अत्याचार के विरुद्ध किये जाने वाले प्रतिरोध के एक लंबे इतिहास की उपेक्षा करता है। अकादमिक संदर्भ में भी इस पर यह आरोप लगा कि यह केवल अंग्रेजी साहित्य का ही अध्ययन करता है। इसमें केवल अधिवासी (Settler) देशों के ही साहित्य को पठन-पाठन का केंद्र बनाया जाता है। ये आरोप सही भी प्रतीत होते हैं। चूँकि उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी एक उदार सैद्धांतिकी है, इसलिए इसमें सुधार की गुंजाइश निरंतर बनी रहती है। आज यह सैद्धांतिकी पूरे विश्व में जब पढ़ी एवं पढ़ाई जा रही है तो यह इसके लचीले रूप के कारण ही संभव हो सका है। हालाँकि इसका मूल तत्त्व है साम्राज्यवाद तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का विरोध तथा किसी भी तरह की औपनिवेशिक मानसिकता का विरोध करना। यही कारण है कि वह न तो उपनिवेशवादी विमर्श को और न ही पूर्व-औपनिवेशिक काल की परिस्थितियों की अनदेखी करता है। वह पूर्व-औपनिवेशिक काल में विद्यमान असमानताओं और अंतर्भेदों के विवेचन-विश्लेषण के बाद ही औपनिवेशिक काल की विवेचना करता है। यह मानता

है कि उपनिवेश बनने से पूर्व तीसरी दुनिया के देशों की अपनी देशी विषम समस्याएँ थीं। औपनिवेशिक काल में उनमें कोई सुधार तो न हुआ बल्कि औपनिवेशिकता प्रदत्त अन्य अनेक समस्याओं ने जकड़ लिया। उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी इसका विवेचन—विश्लेषण करती है।

उत्तर औपनिवेशिक विमर्श ने औपनिवेशिक विमर्शों द्वारा विकसित किये लगभग पूरी दुनिया (ऐसा कहा जाता है कि प्रथम विश्वयुद्ध तक अंग्रेजी साम्राज्यवाद 85 प्रतिशत विश्व के भू-भाग पर काबिज था) को देखने—दिखाने वाले नज़रिये को खारिज कर दिया, क्योंकि औपनिवेशिकता द्वारा निर्मित इतिहास ने आगामी समय के विन्यास की संरचना की। यही कारण है कि उत्तर औपनिवेशिक विमर्श ने इतिहास की एकरैखिक अवधारणा का विरोध किया और इसके स्थान पर इतिहास की भिन्नतामूलक गति की अवधारणा को प्रतिष्ठित किया। इसी क्रम में उसने औपनिवेशिक शासन और नीतियों के विरोध में किये जाने वाले स्वतंत्रता—संघर्षों को पहचाना तथा उन्हें अपनी राजनीतिक प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया। साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ किये जाने वाले हर प्रतिरोध को उत्तर उपनिवेशवादी विमर्श में विशेष रूप से तवज्जो दी जाती है। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श में किसी भी साम्राज्यवादी एवं वर्चस्वकारी चिंतन, विचार, अवधारणा, संस्कृति एवं सत्ता का नकार किया जाना सबसे मुख्य पहलु है। औपनिवेशिक विमर्श में श्रेष्ठता—बोध की ग्रंथि केंद्र में थी। नस्ल, भाषा, संस्कृति, सभ्यता तथा शासन का श्रेष्ठता—बोध औपनिवेशिक विमर्श में खूब प्रसारित—प्रचारित किया गया। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श ने इस श्रेष्ठता—बोध को सिरे से खारिज कर दिया।

इसके साथ ही यह मार्क्सवाद तथा उत्तर आधुनिकतावाद के बीच एक पुल बनाने का भी काम करती है। मार्क्सवाद ने जहाँ वैश्विक वर्ग—दृष्टि के आधार पर प्रस्ताव रखा दिया कि पूरे विश्व के शोषितों और वंचितों को एक मंच पर आकर संघर्ष करने से ही साम्राज्यवाद के विरुद्ध जीता जा सकता है, वहीं उत्तर आधुनिकता ने इस आधार को नकार दिया क्योंकि उसके अनुसार प्रत्येक अस्मिता महत्वपूर्ण है। उत्तर आधुनिक विचारकों के अनुसार समग्रतावाद में कमज़ोर अस्मिताओं का हाशियाकरण किया जाता है। उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी इन

दोनों ही राजनीतिक धुनों के बीच एक तालमेल बिठाती हुई नज़र आती है। वह यह तो मानती है कि प्रत्येक अस्मिता को रेखांकित किया जाना चाहिए, वह देशभक्ति एवं राष्ट्रवाद का विरोध करती है, किंतु साथ ही यह भी संकेत करती है कि तीसरी दुनिया में एक व्यापक मानवीय संस्कृति का निर्माण करना होगा।

चिंतन के स्तर पर उत्तर औपनिवेशिता की शुरुआत तो पहले से उपनिवेशवाद-विरोध के रूप में विद्यमान थी (विवेकानंद, गांधी, टैगोर, फूको, देरिदा, ग्राम्शी, अल्थ्यूस्सर आदि के चिंतन ने निःसंदेह उत्तर औपनिवेशिक विमर्श की नींव डाली), किंतु एक विमर्श के रूप में इसकी विधिवत शुरुआत एडवर्ड सईद के 'प्राच्यवाद' से ही मानी जाती है। सईद से पहले फ़ैनन ने उत्तर औपनिवेशिक विमर्श की आधारशिला रख दी थी। बाद के उत्तर औपनिवेशिक रचनाकारों ने इसको आगे बढ़ाया। औपनिवेशिकता से ग्रस्त देशों के लिए अपने साहित्य एवं संस्कृति को समझने के लिए उत्तर औपनिवेशिक विमर्श ने एक नयी दृष्टि दी। वह तमाम तत्त्व जो उपनिवेशित देशों के साहित्य एवं चिंतन में पहले से मौजूद थे, किंतु औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त होकर उनका अध्ययन न करने के कारण उपेक्षित थे, उनके महत्त्व को उत्तर औपनिवेशिक विमर्श ने विश्व-साहित्य-जगत पर रेखांकित करने का एक अवसर मुहैया कराया।

औपनिवेशिक स्थितियों और विमर्शों तथा हिंदी साहित्य में उनका रेखांकन एवं विरोध, उत्तर औपनिवेशिक विमर्श के साहित्य-जगत में चलन से काफी पहले से विद्यमान रहा है। हालाँकि औपनिवेशिक स्थितियों और विमर्शों के इस विरोध को अलग से रेखांकन करने का प्रयास न के बराबर हुआ। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श ने इस प्रकार का अध्ययन करने की एक नई दृष्टि दी। हिंदी साहित्य को इस दृष्टि से देखा जाए तो काफी सामग्री उपलब्ध होगी। 1857 की महान क्रांति के बाद, जब औपनिवेशिक सत्ता दृढ़ता से स्थापित हो गयी, तब से लेकर आज तक साहित्य में इस विमर्श के तत्त्व रेखांकित किये जा सकते हैं। खुद 1857 ही औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध संभवतः दुनिया का सबसे बड़ा प्रतिरोध था। यह प्रतिरोध वर्चस्ववादी ताकत के विरुद्ध था। इसके बाद का साहित्य भी प्रतिरोध का साहित्य है। हिंदी-जगत में भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग का साहित्य अनेक स्तरों पर इस औपनिवेशिक सत्ता और उसके विमर्शों से टक्कर लेता है। विशेष रूप से भारतेन्दु हरिश्चंद्र और बालमुकुंद गुप्त के साहित्य का इस दृष्टि से अध्ययन किया जा

सकता है। तत्पश्चात् प्रेमचंद का पूरा साहित्य औपनिवेशिक सत्ता और औपनिवेशिक विमर्शों से न केवल टक्कर लेता प्रतीत होता है, बल्कि उनका प्रतिकार और खंडन भी करता है। प्रेमचंद इसी मायने में स्पष्ट रूप में हिंदी-जगत के न केवल पहले उत्तर औपनिवेशिक लेखक ही साबित होते हैं, बल्कि वह उत्तर औपनिवेशिक चिंतक भी साबित होते हैं। अगर प्रेमचंद का इस दृष्टि से गहराई से विश्लेषण किया जाए तो कहा जा सकता है कि उनके लेखन में उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी के कुछेक तत्त्व बीज रूप में मौजूद हैं। स्वातंत्र्योत्तर लेखकों में फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राही मासूम रज़ा, गुलशेर ख़ाँ शानी, मनोहर श्याम जोशी, अमरकांत, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह आदि ऐसे हैं; जिनके लेखन में औपनिवेशिकता प्रदत्त मानसिकता पर चोट करने के साथ औपनिवेशिक विमर्शों का ज़ोरदार विरोध भी किया गया है। इन लेखकों के यहाँ औपनिवेशिकता के दबाव से बदल रहे सांस्कृतिक परिदृश्य का ऐतिहासिक वर्णन है। उपर्युक्त लेखकों में से भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, अज्ञेय, रामविलास शर्मा और मनोहरश्याम जोशी— पाँच नाम ऐसे हैं— जिनका इस संदर्भ में विशेष महत्त्व है। दलित-अस्मिता और स्त्री-अस्मिता के बोध का साहित्य भी औपनिवेशिक विमर्शों का नकार करता है। शोध की विषय-वस्तु और सीमा को देखते हुए इन सभी रचनाकारों के साहित्य का उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन संभव नहीं था, अतः यहाँ केवल प्रेमचंद के 'रंगभूमि', फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' तथा भीष्म साहनी के 'मय्यादास की माड़ी' का उत्तर औपनिवेशिक पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

राही मासूम रज़ा स्वातंत्र्योत्तर भारत के एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं। उन्होंने उपन्यास, नाटक, पटकथा, कविता आदि विधाओं में खूब लिखा। उनके लेखन में सामासिक संस्कृति की पक्षधरता केंद्रीय तत्त्व है। वह गंगा-जमुनी संस्कृति के प्रबल पैरोकार हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं का ताना-बाना हिंदु-मुस्लिम संबंधों को लेकर बुना गया है। उनके लेखन का मुख्य उद्देश्य आम इंसान के दैनंदिन जीवन का चित्रण करना रहा है। एक सच्चे हिंदुस्तानी की तलाश उनके लेखन का आधार बिंदु है। राही के लिए भारतीयता इंसानियत का पर्याय रहा है। यह सभी तत्त्व राही के लेखन में उत्तर औपनिवेशिक चेतना को रेखांकित करते हैं। राही के लेखन में प्रत्यक्ष रूप से औपनिवेशिक विमर्श, विशेषकर औपनिवेशिक

इतिहास—लेखन तथा औपनिवेशिक प्रणालियों का विरोध मिलता है। इसी क्रम में राही का लेखन नव—औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का भी विरोध करता है। अपने लेखन में राही नव सत्तारूढ़ देशी बुजूर्आ नेतृत्व वर्ग की नीतियों की कटु आलोचना करते हैं। इस प्रकार नव—औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के साथ—साथ औपनिवेशिक इतिहास—लेखन तथा औपनिवेशिक प्रणालियों का विरोध भी उत्तर औपनिवेशिक विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।

राही के लेखन में उत्तर औपनिवेशिक तत्त्वों की पड़ताल हम तीन संदर्भों में कर सकते हैं। पहला संदर्भ देश—विभाजन तथा सांप्रदायिकता के साथ—साथ बूर्जुआ किस्म की राजनीति और सरकारी व्यवस्था—तंत्र के विरोध का है। दूसरा संदर्भ अपनी परंपरा, उसकी स्मृति तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत को सहेज कर रखने का है तथा तीसरा संदर्भ भाषा के प्रति अत्यधिक संवेदनशील दृष्टिकोण का है। पहला संदर्भ तथा तीसरा संदर्भ राही के उपन्यासों के साथ—साथ उनके लेखों में भी दिखायी पड़ता है। दूसरा संदर्भ, कविता के साथ—साथ लेखों में स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। राही इस प्रकार प्रेमचंद की परंपरा के साहित्यकार के रूप में हमारे सामने आते हैं जिनके विचार उनके रचनात्मक साहित्य के साथ—साथ उनके चिंतन में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रस्तुत शोध—विषय को निम्नलिखित सात अध्यायों में बाँटा गया है—

- 1- उत्तर औपनिवेशिक चेतना : पृष्ठभूमि और प्रासंगिकता
- 2- उत्तर औपनिवेशिक चिंतन : हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में
- 3- राही मासूम रज़ा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- 4- राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ
- 5- राही मासूम रज़ा के लेखों एवं कविताओं में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ
- 6- राही मासूम रज़ा की भाषा और उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ
- 7- उपसंहार

अध्याय एक 'उत्तर औपनिवेशिक चेतना : पृष्ठभूमि और प्रासंगिकता' दो खंडों और नौ उपखंडों में विभाजित है। पहले खंड 'उत्तर औपनिवेशिक चिंतन के विकास' के अंतर्गत विऔपनिवेशिकरण के इतिहास को दर्शाया गया है। पहले खंड के पहले उपखंड 'कामनवेल्थ साहित्य' के अंतर्गत कामनवेल्थ साहित्य में अंतर्निहित आंग्लकेंद्रिकता और यूराकेंद्रिकता की आलोचना की गयी है। पहले खंड में उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी के निर्माणकर्ताओं, फ्रांज फ़ैनन, एडवर्ड सईद, होमी. के. भाभा, गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक तथा एजाज़ अहमद के चिंतन एवं उनके विमर्शों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है। इन चिंतकों का काम उत्तर औपनिवेशिक विमर्श की आधारशिला तैयार करता है। द्वितीय खंड 'उत्तर औपनिवेशिक साहित्य' के अंतर्गत द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लातीन अमेरिका तथा अफ़्रीका के नव स्वतंत्र देशों में औपनिवेशिक सत्ता और विमर्शों के खिलाफ़ हुए जनांदोलनों और बौद्धिक आंदोलनों की चर्चा करते हुए समाज एवं साहित्य पर उनके प्रभाव को रेखांकित किया है। पहले तथा दूसरे उपखंड— क्रमशः 'लातीनी अमेरिकी साहित्य और उत्तर औपनिवेशिक चेतना' तथा 'बूम' में लातीनी अमेरिकी साहित्य पर उत्तर औपनिवेशिक चेतना के प्रभाव की चर्चा की गयी है। तीसरे उपखंड 'अफ़्रीकी साहित्य और उत्तर औपनिवेशिक चिंतन' में अफ़्रीकी साहित्य पर उत्तर औपनिवेशिक चेतना के प्रभाव की चर्चा की गयी है।

अध्याय दो 'उत्तर औपनिवेशिक चिंतन : हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में' में उत्तर औपनिवेशिक विमर्श से प्रभावित होने तथा उपयोग की संभावना पर विचार करते हुए हिंदी साहित्य की कुछ महत्वपूर्ण रचनाओं में मौजूद उत्तर औपनिवेशिक चेतना को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में कालक्रम में तीन उपन्यासों प्रेमचंद के 'रंगभूमि' (1925), फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' (1954) तथा भीष्म साहनी के 'मय्यादास की माड़ी' (1988) को चुना गया है। 'रंगभूमि' प्रेमचंद के उपन्यास—संसार में अपने विषयवस्तु के कारण एक विशिष्ट पहचान रखता है। यह उपन्यास मुख्यतः भूमि—अधिग्रहण तथा औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप देसी संस्कृति पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों का विवेचन—विश्लेषण करता है। औपनिवेशिक नीतियों के परिणामस्वरूप देशज संस्कृति पर भारी दबाव

पड़ता था। औपनिवेशिक एजेंडे में देशी संस्कृति को नष्ट करना, औपनिवेशिक संस्कृति की तुलना में उसको हीन सिद्ध करना सर्वोपरि था। औपनिवेशिक चेतना से मुक्त रचनाकार सदैव इस एजेंडे का विरोध करता था। 'रंगभूमि' एक ऐसी ही रचना है। इसमें न केवल इसी एजेंडे बल्कि औपनिवेशिक प्रणालियों पर तीखा प्रहार किया गया है। औपनिवेशिक साम्राज्यवाद को भी यह उपन्यास बेनकाब करता है। होमी. के. भाभा ने Ambivalence और Mimicry And Mockery का जो सिद्धांत अस्सी के दशक में दिया, उसे 'रंगभूमि' 1925 में मिस जानसेवक एवं प्रभुसेवक के माध्यम से प्रकट कर रहा था। 'रंगभूमि' न केवल देश में तेज़ी से निर्मित हो रही औपनिवेशिक स्थितियों का ही चित्रण करता है, बल्कि आने वाले समय में उन स्थितियों के कारण देश में उत्पन्न होने वाले भयावह वातावरण की ओर भी संकेत करता है। 'रंगभूमि' में जिन समस्याओं को उठाया गया था, आगे चलकर उन समस्याओं ने विकराल रूप धारण कर लिया। 'मैला आँचल' उन समस्याओं और स्थितियों को दर्ज करते हुए उनसे टकराता है। 'मैला आँचल' बहुत बारीकी से Civilising Mission की पोल खोलता है। वह औपनिवेशिक शासन में देशी जगहों के नामकरण (इस प्रकार का प्रसंग 'रंगभूमि' में भी वर्णित है), औपनिवेशिक शासन में गाँवों में शिक्षा-समस्या तथा विज्ञानवाद की समस्या को उठाता है, किंतु उपन्यास में मुख्य रूप से नव स्वतंत्र देश के नेतृत्व की बागडोर दलाल पूँजीपति वर्ग के हाथ में चले जाने की समस्या को उठाया गया है। 'मैला आँचल' इस रूप में देश के नव-उपनिवेशवादी या आंतरिक उपनिवेशवादी परिस्थितियों में फँस कर रह जाने की कथा कहता है। भीष्म साहनी का उपन्यास 'मय्यादास की माड़ी' कालक्रम की दृष्टि से 'रंगभूमि' और 'मैला आँचल' के बाद का है, किंतु यह भारत में सामंतवादी व्यवस्था के ढहने और औपनिवेशिक शासन और बाज़ारवाद के निर्माण-प्रक्रिया को ऐतिहासिक तथा नैतिक संदर्भों में उठाता है। यह उपन्यास भारतीय अंतर्विरोधों की भी पड़ताल करता है। इस प्रकार इस अध्याय में औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की निर्माण-प्रक्रिया से लेकर नव औपनिवेशिक साम्राज्यवाद निर्माण तक को हिंदी-लेखन में रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय तीन 'राही मासूम रज़ा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में राही मासूम रज़ा के व्यक्तित्व और कृतित्व का अध्ययन किया गया है। रचनाकार का सामाजिक परिवेश का प्रभाव उसके रचनाकार रूप के ऊपर पड़ता है। अपने आस-पास के सामाजिक स्थितियों और परिस्थितियों से उसके संस्कार निर्मित होते हैं। राही मासूम रज़ा के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले सामाजिक प्रभावों के अध्ययन के साथ-साथ उनके कृतित्व का भी उल्लेख किया गया है।

अध्याय चार 'राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ' में राही के चार उपन्यासों में देश-विभाजन और सांप्रदायिकता और किसानों की समस्या के साथ-साथ हमारी साझी संस्कृति के टूटन, कुलीन समाज में व्याप्त नस्लीय चेतना आदि का भी चित्रण किया गया है। लेकिन इनमें सांप्रदायिकता और देश-विभाजन की समस्या ही मुख्य रूप से चित्रित है। राही के संपूर्ण लेखन में सांप्रदायिकता एक ज्वलंत मुद्दा है। 'आधा गाँव', 'टोपी शुक्ला' और 'ओस की बूँद' में पाकिस्तान-विमर्श, सांप्रदायिकता, उससे उभरता अल्पसंख्यक मुसलमानों का भय, साथ ही मुसलमानों का विस्थापन, मुसलमानों की कांग्रेस निष्ठा और मुस्लिम लीग का विरोध, सांप्रदायिकता से ग्रसित भाषा—हिंदी-उर्दू विवाद और साझी संस्कृति का चित्रण हुआ है। राही अपने उपन्यासों 'आधा गाँव', 'टोपी शुक्ला' और 'दिल एक सादा कागज़' में सांप्रदायिकता को औपनिवेशिक लेखन का परिणाम मानते हुए औपनिवेशिक इतिहास-लेखन का विरोध करते हैं। राही मासूम रज़ा सामासिक संस्कृति के प्रबल समर्थन करते हैं। वह इस औपनिवेशिक मानसिकता का विरोध करते हैं कि भारतीय मुसलमान एक अलग कौम हैं जो इस देश में समाहित नहीं हो सकता है। राही यह मानते हैं कि भारतीय मुसलमान भले ही बाहर से आये हैं लेकिन उन्होंने इस देश में खुद को समाहित कर लिया है। वहीं 'कटरा बी आर्जू' में वह नव-औपनिवेशिक स्थितियों का विरोध करते हैं, जिसमें देश की बागडोर उपनिवेशवादियों द्वारा प्रभावित पूँजीपतियों के एक ऐसे वर्ग के पास चली गयी, जिसे आज़ादी का झंडा फहराने के साथ ही विरासत में औपनिवेशिक प्रबंध-व्यवस्था भी मिल गयी थी। इस वर्ग ने औपनिवेशिक शासन द्वारा प्रदत्त प्रणालियों के साथ-साथ औपनिवेशिक नीतियों में भी बिना कोई फेर-बदल किये उसे जस का

तस इस देश में लागू कर दिया। इसी सोच और नीतियों का नतीजा था इमरजेंसी लगाना। 'कटरा बी आर्जू' इमरजेंसी में मानवीय आशा-आकांक्षा तथा आम जनता के अधूरे सपनों को कुचलने की बहुत ही मार्मिक तथा संवेदनात्मक प्रस्तुति की है। इस प्रकार इस अध्याय में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि राही ने अपने उपन्यासों के माध्यम से औपनिवेशिक इतिहास-लेखन तथा औपनिवेशिक नीतियों से उत्पन्न तथा पोषित सांप्रदायिकता का खुलकर विरोध किया है तथा साथ ही नव स्वतंत्र भारत के नेतृत्वकारी दल की भी आलोचना करते हैं, जिसने औपनिवेशिकता प्रदत्त इन विषयों का मुकाबला करने के बजाए इन्हें परोक्ष रूप से समर्थन ही दिया।

अध्याय पाँच 'राही मासूम रज़ा के लेखों एवं कविताओं में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ' में उत्तर औपनिवेशिक विमर्श में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और उसके खतरों का विश्लेषण करते हुए राष्ट्रवाद जैसी अवधारणा के प्रति उत्तर औपनिवेशिक विमर्श के दायरे के भीतर ही एक भिन्न विचार रखने की कोशिश की गयी है। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श में राष्ट्र की कल्पित अवधारणा का विरोध किया पाया जाता है, क्योंकि उत्तर औपनिवेशिक विमर्शकार इसे एक साम्राज्यवादी एवं आधिकारिक अवधारणा मानते हैं। राष्ट्रवाद एवं देशभक्ति ही वह अवधारणा है जिसके चलते औपनिवेशिक विमर्श अपने औपनिवेशन की प्रक्रिया को वैध ठहराता है। 'एक झंडे के तले' वाले सिद्धांत में झंडे के नीचे आने से मना करने वाला देशद्रोही और गद्दार ठहरा दिया जाता है। राष्ट्रवाद के नाम पर लोगों की वफ़ादारी एवं निष्ठा पर सवाल उठाकर उसे संदेह की नज़र से देखा जाता है। इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो औपनिवेशिक विमर्श में सामंतवादी युग की झलक मिलती है। यही कारण है कि इस राष्ट्रवादी सिद्धांत में एक वर्ग, जो कि पूँजी के आधार पर शक्तिशाली होता है, केंद्र में काबिज हो जाता है। कमज़ोर वर्गों का हाशियाकरण कर दिया जाता है।

उत्तर उपनिवेशवाद में राष्ट्रवाद को कल्पित अवधारणा मानते हुए इन्हीं कारणों से उसका विरोध किया गया। अस्मिताओं की एकल पहचान को रेखांकित करने पर बल दिया गया। यहीं यह विमर्श मार्क्सवाद से मूलभूत रूप से भिन्न हो

जाता है और उत्तर आधुनिकतावाद के करीब हो जाता है। मार्क्सवादी सिद्धांत में स्पष्टतः इस बात पर बल है कि चूँकि साम्राज्यवादी और पूँजीपति शक्तियाँ एक मंच पर इकट्ठा होकर कमजोर वर्गों का शोषण करती हैं, इसलिए उनका मुकाबला करने के लिए सभी कमजोर वर्गों एवं अस्मिताओं को एक मंच पर आने से ही साम्राज्यवादी एवं पूँजीवादी शक्तियों से लड़ा जा सकता है। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श के ही एक महत्त्वपूर्ण चिंतक एवं लेखक न्यूगी वा थ्योंगो ने साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ तीसरी दुनिया के वंचित एवं शोषित तबकों के साथ-साथ खुद पहली दुनिया के शोषित एवं वंचित वर्गों को एक मंच पर आने की परिकल्पना करते हैं। वह एक विश्वव्यापी मानवीय संस्कृति निर्मित करने की बात करते हैं। इसके अतिरिक्त एक पहलू यह भी है कि संकट की घड़ी में राष्ट्रवादी अवधारणा ही कार्य करती है। प्राकृतिक आपदा के समय अस्मिताओं में बँटे रहने से आम जन का ही अहित होगा। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श मानवीय संस्कृति का पक्षधर होता है। वह सभी अस्मिताओं को साथ लेकर चलने की हिमायत करता है, किंतु इस बात का वर्चस्व स्थापित न होने पाये। वह हाशियाकरण का विरोधी होता है। वह प्रतिमानीकरण का विरोधी होता है। उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार बहुलतावादी संस्कृति का पक्षधर होता है। राही मासूम रज़ा अपने लेखों में इसी मानवीय संस्कृति के पक्ष में खड़े दिखायी देते हैं। उनका समूचा चिंतन सामासिक संस्कृति, मानवीय संस्कृति को स्थापित करता है। वह अपने लेखों में मानवीय संस्कृति के सभी विरोधियों का पर प्रहार करते हैं। उनके लेखों में उनका यह आग्रह स्पष्टतः झलकता है। वह औपनिवेशिककालीन नीतियों एवं प्रणालियों पर चल रहे स्वतंत्र भारत के राजनीतिज्ञों की कटु आलोचना करते हैं और साथ ही साथ नव-औपनिवेशिक स्थितियों और नव-औपनिवेशिक देश अमेरीका पर तो ज़ोरदार शब्दों में प्रहार करते हैं। राही भारत की आज़ादी को देश के अवसरवादी नेताओं द्वारा ब्रिटिश सरकार से किये समझौते के तहत आयी हुई मानते हैं। वह अंग्रेज़ों द्वारा बनायी गई चुनाव-प्रणाली और राजनीतिक तंत्र की भी आलोचना करते हैं।

राही की कविताओं का उत्तर औपनिवेशिक पाठ करने पर यह ज्ञात हुआ कि उनकी सभी कविताओं में उत्तर औपनिवेशिक तत्त्वों का रेखांकन करना, एक हठ

होगा। यहाँ 1857 पर एक लंबी कविता 'क्रांति-कथा (1857)' में हम स्पष्टतः उत्तर औपनिवेशिक चेतना के अभिव्यक्ति पाते हैं। इस लंबी कविता की भूमिका में राही 1857 पर एक साहित्यहार की तरह सोचते हैं और इस लड़ाई को सैनिक-विद्रोह न मानकर अंग्रेजी शासन के अत्याचार और दमन विरुद्ध भारतीय जनता का महाविद्रोह मानते हैं। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि राही यह विचार 1957 में प्रस्तुत कर रहे थे, तब 1857 पर इस उत्तर औपनिवेशिक दृष्टि से कुछ चंद 1857 के विशेषज्ञों ने ही की थी। यही कारण है कि राही 1857 को अपनी कविता का विषय बनाते हैं। इस लंबी कविता के माध्यम से राही ने सर्वप्रथम तो औपनिवेशिक इतिहास-लेखन को कठघरे में खड़ा किया। तदुपरांत 1857 के भारत में अंग्रेजों के बढ़ते हुए जुल्म तथा दमन का चित्रण कर अपने को महानतम् कहने वाले शासन की कार्रवाईयों को अवैध ठहराया। राही की इस कविता का अवलोकन 1857 पर किये जा रहे नवीन शोधों के आधार पर किया गया है।

अध्याय छह 'राही मासूम रज़ा की भाषा और उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ' में राही की भाषा-दृष्टि पर विचार प्रस्तुत किया गया है। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श में भाषाई साम्राज्यवाद का सचेत प्रतिकार किया गया है। इसके चिंतकों में न्यूगी ने भाषा को लेकर उल्लेखनीय काम किया है। वह भाषा को संस्कृति का वाहक मानते हैं। यही कारण है कि वह देसी भाषा में लिखने की वकालत करते हैं। अफ्रीका के ही एक अन्य उत्तर औपनिवेशिक चिंतक एवं रचनाकार चिनुआ अचेबे न्यूगी से ठीक उलट औपनिवेशिक भाषा में ही लिखने की बात करते हैं, किंतु उस भाषा को अपने परिवेश एवं वातावरण के अनुकूल बनाते हुए। चिनुआ मानते हैं कि ऐसा करने से उपनिवेशकों के इस दंभ कि उनकी भाषा श्रेष्ठ है, ईश्वरीय भाषा है, और इसे असभ्य (उपनिवेशिक) नहीं बोल सकता है, को तोड़ा जा सकता है। भारत एक बहुभाषी देश है। यहाँ क्षेत्रीय आधार पर भाषाएँ बोली जाती हैं। भाषा को लेकर यहाँ कभी भी धार्मिक आधार नहीं रहा। यह सर्वथा अवैज्ञानिक तथा असंगत विचार है। किंतु औपनिवेशिक काल में कुछ इस तरह की नीतियाँ अपनाई गईं कि भाषा धार्मिक अस्मिता से जुड़ गयी। भाषा को धर्म से जोड़ने में औपनिवेशिक इतिहास-लेखन का भी समर्थन हासिल रहा। औपनिवेशिक विमर्श में भाषाई वर्चस्व कायम एक अहम विचार है। यह भाषाई वर्चस्व उपनिवेशित देश में व्यवहृत भाषाओं

के बीच एक विभाजक रेखा खींचकर कर ही हासिल होता है। भारत में भी यही हुआ। अंग्रेजी का वर्चस्व स्थापित करने के क्रम में भारत की दो बड़ी भाषाओं को सर्वप्रथम धार्मिक आधार देकर उनके बीच हमेशा के लिए एक दीवार खड़ी कर दी गयी। हिंदी-उर्दू विवाद ने इस देश के दो टुकड़े कराने में अपनी भूमिका निभाई। उत्तर औपनिवेशिक चिंतक इस औपनिवेशिक चाल का प्रतिकार करता है। रामविलास शर्मा ने इस औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की हित-पूर्ति के निमित्त खड़े किये गये ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की मूलभूत स्थापनाओं को तार्किक चुनौती दी। उन्होंने उपनिवेशित समाज और उनकी भाषाओं के संदर्भ में वैज्ञानिक भाषाविज्ञान के जिन सूत्रों को प्रतिपादित किया था, वे आज भाषा-वैज्ञानिकों की नवीन खोजों से लगातार पुष्ट होते जा रहे हैं। रामविलास शर्मा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह स्थापित करते हैं कि भाषा का आधार जातीय होता है न कि धार्मिक। उर्दू भाषा पर काम करने वाले विद्वान- अब्दुल हक, सैयद एहतेशाम हुसैन और मुहम्मद हसन भी भाषा को धार्मिक आधार पर देखने का विरोध करते हैं। राही मासूम रज़ा भी हिंदी-उर्दू विवाद को औपनिवेशिक नीतियों की उपज मानते हुए भाषा को क्षेत्रीय आधार पर निर्मित मानते हैं, न कि उसको धार्मिक आधार से जोड़ कर देखते हैं। वह फोर्ट विलियम कालेज की नीतियों का विरोध करते हैं। राही लिपि-विवाद को भी तत्कालीन राजनीति की देन मानते हैं। वह गिलक्राइस्ट की नीतियों का विरोध करते हैं। वह अपने लेखों के साथ-साथ अपने उपन्यासों में भी इस प्रवृत्ति पर चोट करते हैं।

अंत में उपसंहार है। इसमें शोध-कार्य के निष्कर्षों पर पहुँचा गया है।

इस प्रकार उत्तर उपनिवेशवादी सैद्धांतिकी की संभावनाशीलता को हिंदी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश की गई है। इस सैद्धांतिकी के आलोक में राही मासूम रज़ा के साहित्य का अवलोकन करने पर उसमें उत्तर औपनिवेशिक चेतना को कई संदर्भों में देखा जा सकता है।

Recd



"राही मासूम रज़ा के लेखन में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ"

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की
पी-एच०डी० (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक:

डा० वेद प्रकाश

एसोशिएट प्रोफेसर

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़-202002

शोधार्थी :

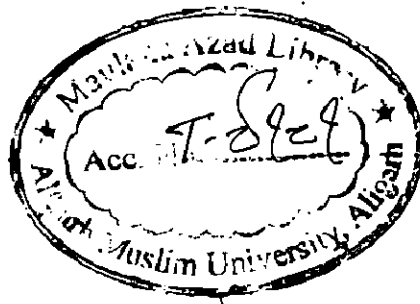
शहबाज अली खान

THESIS

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

2012



20 NOV 2014



T9181



CHIARMAN

DEPARTMENT OF HINDI
FACULTY OF ARTS
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY, ALIGARH-202002

Telex : 564-230 AMU IN

Phones : Off. 27000921 } Ext.
2700921 } 1460
2700922 } 1461

Res. (0571) 2742279

Dated:.....

Certificate

This is to certify that **Mr. Shahbaz Ali Khan** has submitted his
Ph.D. thesis entitled "**RAHI MASOOM RAZA KE LEKHAN MEIN**
UTTAR AUPNIVESHİK YATHARTH" on 22-10-2012.

He has been a regular research scholar for a period of two years
since the date of admission i.e. 25-11-2006 in the Department and has
completed his thesis under the supervision of **Dr. Ved Prakash**, Associate
Professor, Department of Hindi, A.M.U, Aligarh.


(Prof. M.E. Zuberi)

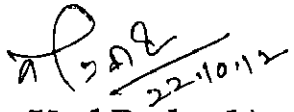
Dr. Ved Prakash
(Associate Professor)



Department of Hindi
A.M.U., Aligarh-202002

Certificate

This is to certify that this thesis entitled "**RAHI MASOOM
RAZA KE LEKHAN MEIN UTTAR AUPNIVESHIK
YATHARTH**" has been carried out by **Mr. Shahbaz Ali Khan**
under my supervision. This is the original work of the candidate
and suitable for submission for the award of Ph.D. Degree in
Hindi.


(Dr. Ved Prakash)
Supervisor

THESIS

मेरे प्रेरणास्रोत नाना
स्वर्गीय मुहम्मद इरशाद ख़ान
और
प्रिय भतीजी स्वर्गीय मरियम
की स्मृति को समर्पित

विषय-सूची

अध्याय	पृष्ठ संख्या
भूमिका	i-viii
अध्याय एक	उत्तर औपनिवेशिक चेतना : पृष्ठभूमि और प्रासंगिकता 1-44
	1-1 उत्तर औपनिवेशिक चिंतन का विकास
	1-1.1 कामनवेल्थ साहित्य
	1-1.2 फ्रांज़ फैनन
	1-1.3 एडवर्ड सईद
	1-1.4 होमी. के. भाभा
	1-1.5 गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक
	1-1.6 एजाज़ अहमद
	1-2 उत्तर औपनिवेशिक साहित्य
	1-2.1 लातीन अमेरिकी साहित्य और उत्तर औपनिवेशिक चेतना
	1-2.2 बूम
	1-2.3 अफ्रीकी साहित्य और उत्तर औपनिवेशिक चिंतन
अध्याय दो	उत्तर औपनिवेशिक चिंतन : हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में 45-114
	2-1 रंगभूमि
	2-2 मैला आँचल
	2-3 मय्यादास की माड़ी

अध्याय तीन	राही मासूम रज़ा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	115—126
अध्याय चार	राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ	127—186
	4-1 औपनिवेशिक नीतियाँ और देश—विभाजन तथा सांप्रदायिकरण	
	4-2 आधा गाँव : सांप्रदायिकता के खिलाफ़ राष्ट्रीय एकता की बुलंद आवाज़	
	4-3 टोपी शुक्ला और ओस की बूँद : असुरक्षा और अस्मिता का संकट	
	4-4 कटरा बी आर्जू : उत्तर औपनिवेशिक राजनीति का भयावह चेहरा	
अध्याय पाँच	राही मासूम रज़ा के लेखों एवं कविताओं में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ	187—228
अध्याय छह	राही मासूम रज़ा की भाषा और उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ	229—244
अध्याय सात	उपसंहार	245—253
ग्रंथ—सूची		254—270

आधार ग्रंथ—सूची

सहायक ग्रंथ—सूची (हिंदी)

सहायक ग्रंथ—सूची (अंग्रेज़ी)

लेख तथा पत्र—पत्रिकाएँ

वेब—लेख

शब्दकोश

भूमिका

उत्तर उपनिवेशवाद एक नया और संभावनाशील अध्ययन-क्षेत्र है। इसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं है, बल्कि यह विमर्श किसी निश्चित परिभाषा एवं अवधारणा का विरोधी है। यह अपने आप में एक लचीला विमर्श है। यही कारण है कि जब से साहित्य-जगत में इस पद का प्रयोग होना शुरू हुआ, तब से लेकर आज तक इस विमर्श में परिवर्तन आया है। आरंभ में यह उपनिवेशवाद से राजनीतिक मुक्ति का अर्थ देता था। तब इसे 'उत्तर-उपनिवेशवाद' (Post-Colonialism) यानी उपनिवेशवाद के बाद- के अर्थ में ग्रहण किया जाता था। किंतु इस अर्थ-छवि में औपनिवेशिक साम्राज्यवादी इतिहास एवं उस औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के खिलाफ उपनिवेशित द्वारा किया गया प्रतिरोध-अर्थ नेपथ्य में चला जाता था। इसके कारण यह अनुशासन अपने तमाम दावे के बावजूद औपनिवेशिक विमर्श को विस्थापित कर खुद ही एक वर्चस्वकारी विमर्श में तब्दील होने लगा था। इसी कारण तीसरी दुनिया के बहुत से बुद्धिजीवियों ने उत्तर-औपनिवेशिकता का विरोध किया। उनका मानना था कि यह देसी स्वतंत्रता-संघर्ष की उपेक्षा करता है और उपनिवेशित देशों पर किये गये दमन एवं अत्याचार एवं उस अत्याचार के विरुद्ध किये जाने वाले प्रतिरोध के एक लंबे इतिहास की उपेक्षा करता है। अकादमिक संदर्भ में भी इस पर यह आरोप लगा कि यह केवल अंग्रेज़ी साहित्य का ही अध्ययन करता है। इसमें केवल अधिवासी (Settler) देशों के ही साहित्य को पठन-पाठन का केंद्र बनाया जाता है। ये आरोप सही भी प्रतीत होते हैं। यह पश्चिम से आयातित विमर्श था, अतः इसे संदेह से परे नहीं माना जा सकता था। किंतु उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी एक उदार सैद्धांतिकी है, इसलिए इसमें निरंतर सुधार की गुंजाइश बनी रही है। बाद में, औपनिवेशिक देशों ने इस विमर्श की सैद्धांतिकी को अपने स्थितियों के अनुकूल ढालने की कोशिश की। आज जब यह सैद्धांतिकी पूरे विश्व में पढ़ी-पढ़ाई जा रही है, तो यह इसके लचीले रूप के कारण ही संभव हो सका है। इसका मूल तत्त्व है साम्राज्यवाद तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद

का विरोध तथा किसी भी तरह की औपनिवेशिक मानसिकता का विरोध करना। यही कारण है कि इसमें न तो उपनिवेशवादी विमर्श को और न ही पूर्व-औपनिवेशिक काल की परिस्थितियों की अनदेखी की जाती है। इसमें पूर्व-औपनिवेशिक काल में विद्यमान असमानताओं और अंतर्भेदों के विवेचन-विश्लेषण के बाद ही औपनिवेशिक काल की विवेचना की जाती है। अब यह विमर्श उपनिवेश बनने से पूर्व तीसरी दुनिया के देशों की अपनी देसी विषम समस्याओं को भी परखने लगा है। उन समस्याओं में औपनिवेशिक काल में औपनिवेशिकता प्रदत्त अन्य अनेक समस्याएँ भी जुड़ गईं। उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी इसका विवेचन-विश्लेषण करती है। अब इस सैद्धांतिकी का फलक व्यापक हो गया है। अब इसके तीन स्तर हैं। पहला— पूर्व-औपनिवेशिक स्थितियों का विवेचन, दूसरा— औपनिवेशिक स्थितियों का विवेचन-विश्लेषण, तीसरा— स्वातंत्र्योत्तर स्थितियों का विवेचन। इस सैद्धांतिकी के कारण एक वैश्विक साहित्यिक-सांस्कृतिक मंच निर्मित होता प्रतीत होता है, जहाँ से खड़े होकर पूँजीवादी और साम्राज्यवादी नीतियों के खिलाफ लड़ा जा सके।

ब्रिटिश उपनिवेशवादी दौर के ख़त्म होने के बाद अनेक नव स्वतंत्र देशों में नया साहित्य रचा जाने लगा। इस नये साहित्य के सृजन के साथ ही, एक विचार के रूप में, उत्तर उपनिवेशवादी विमर्श की स्थितियाँ तैयार हुईं। 20वीं सदी के अंतिम दशक तथा 21वीं सदी के आरंभ के साथ ही इसे एक सिद्धांत के रूप में विश्वव्यापी प्रचार मिला। पहले यह सिद्धांत-अध्ययन केवल उच्च संस्थानों एवं प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों तक ही सीमित रहा, किंतु अब अनेक अनुशासनों में इस विषय पर केंद्रित पाठ्यक्रमों का भी प्रारंभ हुआ, जिससे इसका प्रसार-प्रचार तीव्रता से हुआ। भारतीय साहित्य-जगत ने इस विमर्श का स्वागत तो किया, किंतु इसे प्रश्नांकित भी किया। अंग्रेज़ी और उर्दू साहित्य-जगत में भी इस दृष्टि से पठन-पाठन का कार्य किया जाने लगा। हिंदी साहित्य-जगत ने इसे कुछ देर से अपनाया। हिंदी साहित्य को इस दृष्टि से देखा जाए तो काफ़ी सामग्री उपलब्ध होगी। 1857 की महान क्रांति के बाद, जब औपनिवेशिक सत्ता दृढ़ता से स्थापित हो गयी, तब से लेकर आज तक साहित्य में इस विमर्श के तत्त्व रेखांकित किये जा सकते हैं। खुद 1857 ही औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध संभवतः दुनिया का सबसे बड़ा प्रतिरोध था। यह

प्रतिरोध वर्चस्ववादी ताक़त के विरुद्ध था। इसके बाद का साहित्य भी प्रतिरोध का साहित्य है। हिंदी-जगत में भारतेंदु युग और द्विवेदी युग का साहित्य अनेक स्तरों पर इस औपनिवेशिक सत्ता और उसके विमर्शों से टक्कर लेता है। विशेष रूप से भारतेंदु हरिश्चंद्र और बालमुकुंद गुप्त के साहित्य का इस दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है। तत्पश्चात् प्रेमचंद का पूरा साहित्य औपनिवेशिक सत्ता और औपनिवेशिक विमर्शों से न केवल टक्कर लेता प्रतीत होता है, बल्कि उनका प्रतिकार और खंडन भी करता है। स्वातंत्र्योत्तर लेखकों में हजारीप्रसाद द्विवेदी, फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, अज्ञेय, हरिशंकर परसाई, भीष्म साहनी, नामवर सिंह, कमलेश्वर, अमरकांत, निर्मल वर्मा, राही मासूम रज़ा, गुलशेर ख़ाँ शानी, मनोहरश्याम जोशी, रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा अलका सरावगी आदि ऐसे हैं; जिनके लेखन में औपनिवेशिकता प्रदत्त मानसिकता पर चोट करने के साथ औपनिवेशिक विमर्शों का ज़ोरदार विरोध भी किया गया है। इन लेखकों के यहाँ औपनिवेशिक-प्रणालियों, औपनिवेशिक नीतियों, नव-औपनिवेशिक स्थितियों के विरोध के साथ औपनिवेशिकता के दबाव से बदल रहे सांस्कृतिक परिदृश्य का ऐतिहासिक वर्णन है।

राही मासूम रज़ा एक महत्त्वपूर्ण स्वातंत्र्योत्तर लेखक हैं। उनके लेखन के केंद्र में औपनिवेशिक इतिहास-लेखन, सांप्रदायिकता, देश-विभाजन, विस्थापन तथा भाषाई विभेद का विरोध आदि तत्त्व मौजूद हैं। राही के लेखन में उत्तर औपनिवेशिक तत्त्वों की पड़ताल तीन संदर्भों में कर सकते हैं। पहला संदर्भ देश-विभाजन तथा सांप्रदायिकता के साथ-साथ बूर्जुआ किस्म की राजनीति और सरकारी व्यवस्था-तंत्र का है। दूसरा संदर्भ अपनी परंपरा, उसकी स्मृति तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत को सहेज कर रखने का है तथा तीसरा संदर्भ भाषा के प्रति अत्यधिक संवेदनशील दृष्टिकोण का है। पहला संदर्भ राही के उपन्यासों के साथ-साथ उनके लेखों में भी दिखायी पड़ता है। दूसरा संदर्भ कविता के साथ-साथ लेखों में स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। तीसरा संदर्भ उनकी समूची लेखन-शैली में दिखायी पड़ता है। इस दृष्टि से देखें तो राही मासूम रज़ा के साहित्य का अध्ययन भी संभव दिखाई देता है। यही हमारे शोध-अध्ययन का मुख्य आधार है।

इस शोध-प्रबंध को सात अध्यायों में बाँटा गया है, जो निम्नलिखित हैं—

1. उत्तर औपनिवेशिक चेतना : पृष्ठभूमि और प्रासंगिकता
2. उत्तर औपनिवेशिक चिंतन : हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में
3. राही मासूम रज़ा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
4. राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ
5. राही मासूम रज़ा के लेखों एवं कविताओं में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ
6. राही मासूम रज़ा की भाषा और उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ
7. उपसंहार

अध्याय एक 'उत्तर औपनिवेशिक चेतना : पृष्ठभूमि और प्रासंगिकता' में उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी के विमर्शकारों, फ्रांज़ फ़ैनन, एडवर्ड सईद, होमी. के. भाभा, गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक तथा एजाज़ अहमद के चिंतन एवं उनके विमर्शों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है। इन चिंतकों का काम उत्तर औपनिवेशिक विमर्श की आधारशिला तैयार करता है। इसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के नव स्वतंत्र देशों और स्वतंत्र औपनिवेशिक सत्ता और विमर्शों के खिलाफ हुए जनांदोलनों और बौद्धिक आंदोलनों की चर्चा करते हुए समाज एवं साहित्य पर उनके प्रभाव को संक्षेप में रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श में लातीन अमेरिकी तथा अफ़्रीकी साहित्य का ज़िक्र आवश्यक हो जाता है। अतः इन देशों के उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक परिदृश्य का जायज़ा लेने का प्रयास किया गया है।

अध्याय दो 'उत्तर औपनिवेशिक चिंतन : हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में' में उत्तर औपनिवेशिक विमर्श से प्रभावित होने तथा उपयोग की संभावना पर विचार करते हुए हिंदी साहित्य की कुछ महत्वपूर्ण रचनाओं में मौजूद उत्तर औपनिवेशिक चेतना को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में कालक्रमानुसार

तीन उपन्यासों— प्रेमचंद के 'रंगभूमि' (1925), फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' (1954) तथा भीष्म साहनी के 'मय्यादास की माड़ी' (1988) को चुना गया है। 'रंगभूमि' में मुख्यतः भूमि-अधिग्रहण तथा औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप देसी संस्कृति पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों का विवेचन-विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। 'मैला आँचल' में मुख्य रूप से नव स्वतंत्र देश के नेतृत्व की बागडोर दलाल पूँजीपति वर्ग के हाथ में चली जाने की समस्या को उठाया गया है। 'मैला आँचल' इस रूप में देश के नव-उपनिवेशवादी या आंतरिक उपनिवेशवादी परिस्थितियों में फँस कर रह जाने की कथा कहता है। 'मय्यादास की माड़ी' में यह उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है कि वह भारत में सामंतवादी व्यवस्था के ढहने और औपनिवेशिक शासन और बाज़ारवाद की निर्माण-प्रक्रिया को ऐतिहासिक तथा नैतिक संदर्भों में उठाता है।

अध्याय तीन 'राही मासूम रज़ा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में राही मासूम रज़ा के व्यक्तित्व और कृतित्व का अध्ययन किया गया है। रचनाकार का सामाजिक परिवेश का प्रभाव उसके रचनाकार रूप के ऊपर पड़ता है। अपने आस-पास के सामाजिक स्थितियों और परिस्थितियों से उसके संस्कार निर्मित होते हैं। राही मासूम रज़ा के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले सामाजिक प्रभावों के अध्ययन के साथ-साथ उनके कृतित्व का भी संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

अध्याय चार 'राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ' राही के चार उपन्यासों में देश-विभाजन और सांप्रदायिकता और किसानों की समस्या के साथ-साथ हमारी साझी संस्कृति के टूटन, कुलीन समाज में व्याप्त नस्लीय चेतना आदि के विवेचन-विश्लेषण पर केंद्रित है। इस अध्याय में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि राही किस प्रकार अपने उपन्यासों के माध्यम से औपनिवेशिक इतिहास-लेखन तथा औपनिवेशिक नीतियों से उत्पन्न तथा पोषित सांप्रदायिकता का खुलकर विरोध करते हैं, साथ ही नव स्वतंत्र भारत के नेतृत्वकारी दल की भी आलोचना करते हैं, जिसने औपनिवेशिकता प्रदत्त इन विषयों का मुकाबला करने के बजाए इन्हें परोक्ष रूप से समर्थन ही दिया।

अध्याय पाँच 'राही मासूम रज़ा के लेखों एवं कविताओं में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ' में उत्तर औपनिवेशिक विमर्श में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और उसके ख़तरों का विश्लेषण करते हुए राष्ट्रवाद जैसी अवधारणा के प्रति उत्तर औपनिवेशिक विमर्श के दायरे के भीतर ही एक भिन्न सैद्धांतिकी को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत सैद्धांतिकी के आलोक में राही मासूम रज़ा के लेखों तथा एक लंबी कविता को विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय छह 'राही मासूम रज़ा की भाषा और उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ' में भाषा के प्रति औपनिवेशिक साम्राज्यवादी विमर्श की पड़ताल करते हुए राही मासूम रज़ा की भाषा-दृष्टि का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में हिंदी और उर्दू साहित्य के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत भाषा-दृष्टि को भी समाहित करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय सात 'उपसंहार' में समग्र अध्ययन के निष्कर्षों का संक्षेप में उल्लेख है।

उत्तर औपनिवेशिक विमर्श जैसा संभावनाशील विषय एक अध्येता को जितनी छूट देता है, उसके सामने उतनी दिक्कतें भी खड़ी करता है। भारतीय साहित्य में इस विमर्श की उपयोगिता और संभावना की पड़ताल तथा पठन-पाठन का सिलसिला अपने आरंभिक रूप में ही है, क्योंकि इस विमर्श की सैद्धांतिकी पूरी तरह से स्थापित नहीं हो पायी है। जहाँ तक हिंदी साहित्य की बात है, इस विषय पर अभी तक उल्लेखनीय कार्य प्रणय कृष्ण का है। सुधीश पचौरी और विनोद शाही ने भी इस विषय पर काम किया है।

इस शोध-प्रबंध में उत्तर औपनिवेशिकता के अन्य ज्ञानात्मक अनुशासनों—उत्तर-आधुनिकतावाद, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद, नस्लवाद, देशांतरण, दलित-अस्मिता तथा स्त्री-अस्मिता आदि का संक्षिप्त परिचय मात्र भी देना शोध की विषय-केंद्रिकता तथा उसकी सीमा को देखते हुए संभव न था। उत्तर उपनिवेशवाद से संबंधित अधिकतर सामग्री अंग्रेज़ी में उपलब्ध होने के कारण अनुवाद की भूमिका महत्वपूर्ण तथा चुनौतीपूर्ण सिद्ध हुई है। शोध में अनावश्यक विस्तार की आशंका से मूल पाठ देने के बजाए सीधे अनुवाद ही दिया गया है।

इस प्रकार के कठिन एवं चुनौतीपूर्ण विषय पर काम करने की छूट देकर मेरे शोध-निर्देशक डा. वेद प्रकाश ने मुझे उपकृत किया। उनके कुशल निर्देशन तथा स्नेह-भाव की छत्रछाया में ही यह शोध-कार्य संभव हो सकता था। एक शोधकर्ता के रूप में उन्होंने मुझमें जो विश्वास जताया, वह उल्लेखनीय है। मैं उनके प्रति श्रद्धावन्त हूँ। मैं उनके इस विश्वास पर कितना खरा उतर सका, इसका निर्णय परीक्षक करेंगे।

इस विषय से जुड़ी कठिनाइयों एवं अड़चनों का समाधान प्रस्तुत करते हुए मेरे मार्ग-निर्देशक के रूप में डा. आशुतोष कुमार ने मुझको एक नवीन दृष्टि से कार्य करने को प्रोत्साहित किया। उन्होंने निरंतर दिशा-बोध भी कराया। उनका मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

हिंदी विभाग के अध्यक्ष प्रो. मुफ़्ख़र एहतिशाम जुबैरी ने सदैव मुझको प्रोत्साहित किया तथा मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करते हुए शोध-कार्य को अबाध गति से करने में सहायता प्रदान की। मुझे उनके स्नेह पात्र होने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

प्रो. प्रदीप सक्सेना का भी मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मुझे पठन-पाठन की सामग्री उपलब्ध कराकर मेरी सहायता की।

श्री अजय बिसारिया का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपने विराट अनुभवों तथा परामर्शों से अनुगृहीत किया। मेरे लेखन को प्रोत्साहित करने और नई दिशा प्रदान करने में उनका बहुमूल्य योगदान रहा है।

डा. इफ़्त असगर का भी मैं ऋणी हूँ जिनके वात्सल्यपूर्ण स्नेह से जीवन के अन्य संदर्भों में भी मैं लाभान्वित होता रहा हूँ।

इस शोध-कार्य में रत रहते हुए जिन विभागीय गुरुओं से मुझे प्रभूत सहायता मिली, उनके प्रति अपना आभार प्रकट करना चाहूँगा। विशेष रूप से प्रो. अब्दुल अलीम, डा. राजीवलोचन नाथ शुक्ल, डा. मेराज अहमद, डा. तस्नीम सुहैल का मैं आभारी हूँ जिन्होंने मुझे अनेक प्रकार की सहायता और प्रेरणा प्रदान की।

इस अवसर पर अपने स्वर्गीय नाना मो. इरशाद ख़ान को पूरी श्रद्धा और पूज्य भाव से याद करता हूँ, जिन्होंने मुझे जीवन तथा शिक्षा से जुड़े अनेक दुर्लभ परामर्श दिए तथा जिम्मेदारी एवं ईमानदारी से अपने शोध-कार्य को करने की

सलाह दी। नानी श्रीमती सिराजुन्नीशा का भी मैं सदैव स्नेहपात्र रहा और उन्होंने कठिन समय में मुझे शोध-कार्य के मार्ग पर निरंतर बढ़ते रहने की ऊर्जा दी। इस अवसर पर अपनी पूजनीय माता श्रीमती नाहिद परवीन एवं पिता अफज़ाल अहमद ख़ान को विस्मृत नहीं कर सकता, जिन्होंने मुझे जीवन में किसी तरह का अभाव महसूस नहीं होने दिया और प्रतिकूल परिस्थितियों में मुझे आत्मबल प्रदान किया। मैं अपने बड़े भाई शहज़ाद अहमद ख़ान तथा भाभी नाहिद को विस्मृत करना अनैतिक समझता हूँ। उनका स्नेह और प्यार मुझे इस शोध-कार्य को पूर्ण कराने में सदैव प्रोत्साहित करता रहा है। छोटे भाई मोहम्मद उमर ख़ान तथा छोटी बहन शीबा का प्यार भी शोध-मार्ग में संबल रहा।

इस शोध-यात्रा में एक प्रेरणास्रोत के रूप में फ़रहाना शीरीन मेरा मार्ग प्रशस्त करती रही है। उसने भावनात्मक स्तर पर मुझे सहयोग देकर तमाम कठिनाईयों से उबारा। उसके प्रति आभार प्रकट करना, मात्र औपचारिकता का निर्वहन ही होगा।

मैं अपने परम् मित्रों आयशा ख़ातून, सरताज आलम, वाजिद रशीद, अबू बकर, इमरान अली, तारिक कलीम, जावेद आलम तथा डॉ. मुहम्मद महताब ख़ान को धन्यवाद देकर उनके सहयोग को कम नहीं करना चाहता। उन्होंने अपना अमूल्य सहयोग देकर मेरे शोध-प्रबंध को पूर्ण कराने में सहायता प्रदान की। उनके सहयोग के बिना मैं शायद यह कार्य तय समय-सीमा में नहीं कर पाता।

शोध-प्रबंध के लिए सामग्री संचयन का काम मैंने मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, साहित्य अकादमी पुस्तकालय, दिल्ली तथा हिंदी विभाग के सेमीनार से किया। यहाँ के कर्मचारियों ने भी मेरी पूरी सहायता की। पीर भाई तथा माज़ भाई का स्नेह मिला। इनका आभार प्रकट करता हूँ।

Shahbaz Khan

अध्याय एक

उत्तर औपनिवेशिक चेतना :
पृष्ठभूमि और प्रासंगिकता

उत्तर औपनिवेशिक चेतना : पृष्ठभूमि और प्रासंगिकता

कुछ वर्ष पूर्व भारतीय प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने औपनिवेशिक भारत के प्रति ब्रिटिश राज के अवदानों की प्रशंसा की। राजेंद्र यादव ने 'हंस' के अपने संपादकीय में कहा कि, यदि ब्रिटिश शासन का अंत 1857 में ही हो जाता तो आज भारत एक अत्यंत पिछड़ा हुआ देश होता। दोनों का एक ही आशय है कि ब्रिटिश शासन ने ही हमें विकसित बनाया वरना हम तो पिछड़े हुए थे। एक राजनेता और बुद्धिजीवी ने जिस तरह से अपनी गुलाम मानसिकता का प्रदर्शन किया है, उससे उत्तर औपनिवेशिक विमर्श प्रासंगिक हो उठा है। अब प्रश्न उठता है कि 'उत्तर उपनिवेशवाद' की सैद्धांतिकी क्या है ? इसकी पृष्ठभूमि क्या है ? इसका अर्थ क्या है ? इसका विकास कैसे हुआ? आदि।

उत्तर उपनिवेशवाद पद की व्यापकता तथा इसकी अर्थ-छायाओं को समझने के लिए 19 वीं व 20 वीं शताब्दी में हुए उपनिवेशवाद तथा विउपनिवेशीकरण (Decolonization) की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझना होगा तथा 20 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुये बौद्धिक विकास का भी विश्लेषण करना होगा। इस विश्लेषण का उद्देश्य मुख्य रूप से साहित्य के अध्ययन का मूल्यांकन होगा।

उपनिवेशवाद को समझने से पहले हमें उपनिवेश (Colony) के अर्थ को देखना होगा। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार Colony शब्द लैटिन शब्द Colonia से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका प्रयोग किसान, खेतिहर/कृषक, बागान मालिक या किसी नये देश में बसने वाले के लिए होता है। औपनिवेशिक (Colonial) शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है— किसी उपनिवेश से जुड़ा या संबंधित; विशेष रूप से ब्रिटिश उपनिवेश से। अमेरिकी संदर्भ में उन तरह ब्रिटिश उपनिवेशों से भी इसका संबंध है, जो बाद में यूनाइटेड स्टेट्स (संयुक्त प्रांत) बने। अब 'औपनिवेशिक' शब्द प्रायः अपमान सूचक रूप में प्रयुक्त होता है।

उपनिवेशवाद (Colonialism) शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है — 1. किसी वस्तु के औपनिवेशिक होने की प्रक्रिया या ढंग जो प्रायः उजड़ या गँवार के समानार्थी प्रयुक्त होता है। 2. औपनिवेशिक सिद्धांत या तंत्र—व्यवस्था आज प्रायः पिछड़े या असहाय एवं शक्तिहीन जनता पर शक्तिशाली राज्य द्वारा किये शोषण की नीतियों के लिए होता है। अपमानजनक रूप में भी इसका प्रयोग होता है।¹

इस प्रकार उपनिवेशवाद का तात्पर्य है— शक्तिशाली राज्य द्वारा अपनी भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए किसी अन्य राज्य के क्षेत्रफल पर कब्ज़ा जमाना तथा अपनी संप्रभुता का विस्तार करना। उपनिवेशकर्ता राज्य मुख्य रूप से उपनिवेशित देश के श्रम, स्रोत और उसके बाज़ार का अधिग्रहण करते हैं, साथ ही अपनी सामाजिक—सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई संरचनाओं का निर्माण करके देशी जनता पर उसे थोप देते हैं। इसे सांस्कृतिक साम्राज्यवाद (Cultural Imperialism) के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। सीधे—सीधे यह कहा जा सकता है कि यह बलशाली राज्य द्वारा अपेक्षाकृत कमज़ोर राज्य में एक राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हस्तक्षेप है।

औपनिवेशिक विमर्श में प्रायः यह यकीन दिलाया जाता है कि उपनिवेशकर्ताओं की नैतिकता तथा उनके मूल्य उपनिवेशितों से श्रेष्ठ हैं। नस्लवाद के साथ भी इसका संबंध जोड़ा जा सकता है। पश्चिमी जगत में यह मान्यता थी कि ग़ैर यूरोपीय असभ्य जनता के ऊपर शासन गोरे लोगों का एक दैवीय विधान है।

यह तर्क आज भी मान्य है, जबकि उपनिवेशवाद का अंत मान लिया गया है, साम्राज्यवाद ने इसका स्थान ले लिया है; विशेषकर पश्चिमी साम्राज्यवाद ने। आज अमेरिका, साम्राज्यवादी व्यवस्था का सबसे बड़ा पोषक है। वह अन्य राष्ट्रों का निरंतर आर्थिक शोषण करके अपनी ताक़त तथा अपने धन दोनों को सुरक्षित कर रहा है।

उत्तर उपनिवेशवाद पद को परिभाषित करते समय समस्या यह आती है कि मूल शब्दार्थ सीमित अर्थ देते हैं। साधारण ढंग से इस शब्द को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है— उत्तर (Post) और उपनिवेशवाद (Colonialism)। तब उसका अर्थ

उहरता है— उपनिवेशवाद के बाद का। किंतु यह अर्थ इतना साधारण नहीं है। हरीश त्रिवेदी ने अपने लेख 'भारत और उत्तर औपनिवेशिक विमर्श' (India and post colonial Discourse) में उत्तर उपनिवेशवाद पद पर विचार किया है। इसमें उपनिवेशवाद (Colonialism) का अर्थ तो सामान्य रूप से उपनिवेशवाद ही है, किंतु Post (उत्तर) शब्द के उन्होंने चार अर्थ किये हैं। उनके अनुसार इसका पहला अर्थ है— उपनिवेशवाद के बाद का। यहाँ उन्होंने 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'बाद का' किया है। लेकिन यह अर्थ बहुत सीमित है। यह केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की ओर संकेत करता है और यह भी आभास देता है कि उपनिवेशवाद का पूर्ण रूप से अंत हो गया। यह उपनिवेशवाद के गहरे तथा निरंतर पड़ते जाने वाले प्रभावों की उपेक्षा करता है। उपनिवेशवाद का दूसरा अर्थ है— उपनिवेशवाद की बाद की अवस्था या उत्तर अवस्था। इसमें बाद की अवस्था, पूर्व की अवस्था से अलग नहीं है— जैसे कि उत्तर रामचरितम या नव—उपनिवेशवाद। उत्तर—उपनिवेशवाद का तीसरा अर्थ है— उच्चतर एवं विकसित उपनिवेशवाद। यहाँ उन्होंने 'उत्तर' शब्द का प्रयोग 'और अधिक' के अर्थ में किया है। इस तरह से दूसरे तथा तीसरे अर्थ में भी समानता देखी जा सकती है। यह दोनों ही जिसकी ओर संकेत करते हैं, उसका एक नाम नव—उपनिवेशवाद भी हो सकता है। चौथा अर्थ है— उपनिवेशवाद का विरोध या प्रतिरोध। यहाँ 'उत्तर' शब्द का प्रयोग 'जवाब देने के रूप' में किया गया है।² इन चारों अर्थों से उत्तर उपनिवेशवाद का पद किसी कालक्रम का सूचक लगता है। इसके साथ-साथ यह भी प्रतीत होता है कि इसका संबंध विउपनिवेशीकरण (Decolonization) से भी है।

उपनिवेशवाद के दौरान उपनिवेशकर्ता देश एक नये मूल्य, नये विश्वास, विदेशी भाषाएँ अजनबी—रिवाज लेकर आते हैं, उन्हें स्थापित करते हैं और फिर उपनिवेश देश के ऊपर थोपकर चले जाते हैं, जिसे बाद में वह देश बिना—सोचे उन्हें ढोता रहता है।

जब उत्तर उपनिवेशवाद जैसा पद आया, तो इसके कालक्रम के सूचक के रूप में इन्हीं अर्थों को मान्यता मिली, किंतु बाद में तेज़ी से बदलते विश्व—परिदृश्य, जीवन—मूल्य तथा विभिन्न विचारों एवं व्यवहारों के बीच बदलते रिश्तों के कारण

उपनिवेशवाद के दौर के खत्म होने के बाद, अनेक आजाद देशों में नये साहित्य के सोल ने इस बाढ़ का प्रयोग किया।¹ हालाँकि एक विचार के रूप में ब्रिटिश लैसा पद आया। यह 1970 का समय था। सर्वप्रथम हमजा अल्वी लखा जॉन एंस से ग्रस्त कर दिया और यह हीनाला थापी हुई थी। यही पर उत्तर औपनिवेशिक के बाद भी वे इस बात को प्रचारित करते रहे। इस प्रकार ने उपनिवेशित को हीनाला ही बनाया है, ताकि काले एवं भूरे पुरुष वालों को समय बना सकें। यूरोपीय साम्राज्य बोझ थे— White men's burden। नियति ने श्वेत लोगों को शासन करने के लिए रहे कि जिन काले एवं भूरे लोगों पर वह राज कर रहे है, वे श्वेत लोगों के ऊपर अनुशासित ताकिक, समय एवं विकसित हैं। इसके साथ ही यह भी प्रचारित करते ब्याख्या की, जैसे पुरुष (प्रायः) संवेदनशील, पिछड़ा एवं असम्य है, जबकि पश्चिम रूप से दो हिस्सों में बाँट दिया— पश्चिम तथा पुरुष। दोनों की अलग-अलग यूरोपीय साम्राज्य ने औपनिवेशिक शासन के दौरान दुनिया को भौगोलिक

ऊँच-नीच से संबंध रखता है।²

कि उत्तर उपनिवेशवाद, उपनिवेशवादी विमर्शों के वर्चस्व के ढाँचे तथा सामाजिक समय है, जब एक राष्ट्र किसी देश से अपना शासन वापस ले लेता है। सही यह है राजनीतिक रूप से किसी देश की आजादी के बाद का समय उत्तर औपनिवेशिक सूँवक माना गया। यह मानना असंगत है कि उपनिवेशवाद के बाद का समय या उनका कहना है कि गलत अवधारणा के तहत उत्तर उपनिवेशवाद को कालक्रम का Colonial drama : Theory practice politics में इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। अपनी पुस्तक 'उत्तर औपनिवेशिक ड्रामा : सिद्धांत, अभ्यास, राजनीति' (Post हैलेन गिल्बर्ट (Helen Gilbert) और जॉन टॉमकिंस (Joanne Tomkins) ने

ही नहीं, बल्कि पश्चिम की मानक कृतियों का भी अपने नज़रिये से पुनर्पाठ किया। पूरी दुनिया मानती आयी थी। और आगे बढ़कर इस विमर्श ने पुरुष की कृतियों का पाठालोचनाओं एवं साहित्यिक कक्षाटियों पर प्रश्न खड़ा कर दिया, जिन्हें अब तक अवधारणा है, जिसकी मदद से गौर पश्चिमी अध्योताओं ने उन तमाम भ्रमक उपनिवेशवाद सिद्धांत के तौर पर किसी कालक्रम का सूँवक न होकर एक स्वतंत्र इसने एक नया स्वरूप ग्रहण कर लिया। अब माना जाने लगा कि उत्तर

सृजन के साथ ही इसका जन्म हो गया था। 20 वीं सदी के अंतिम दशक तथा 21 वीं सदी के आरंभ के साथ ही उत्तर औपनिवेशिक सिद्धांत को विश्वव्यापी प्रचार मिला। इससे पहले यह सिद्धांत तथा अध्ययन-दृष्टि केवल उच्च संस्थानों एवं प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों तक ही सीमित रही किंतु इस समय तक इस विषय पर केंद्रित पाठ्यक्रमों का भी प्रारंभ हुआ जिससे यह अपेक्षाकृत तेजी से प्रसारित हुआ।

सर्वप्रथम सन् 1978 में उत्तर उपनिवेशवाद को एक सिद्धांत में विकसित किया एडवर्ड सईद ने। उन्होंने उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन को नयी दिशा दी और उन्होंने यह कार्य अपनी प्रसिद्ध पुस्तकें 'Orientalism' (प्राच्यवाद) में किया। सईद से पहले भी मिशेल फूको, देरिदा, आदि ज्ञानशास्त्रियों ने यूरोपीय ज्ञान को वर्चस्व तथा आधिपत्य के सिद्धांतों को उद्घाटित किया था। इन्होंने केवल यूरोप के संदर्भ में अपनी बात कही जबकि सईद ने इस दोनों के सिद्धांतों को पूरब के संदर्भ में व्याख्यायित किया। सईद के इस कार्य से इस सैद्धांतिकी को साहित्यिक आयाम के साथ-साथ एक स्पष्ट राजनीतिक आयाम भी मिल गया।

दरअसल, उपनिवेशकर्ता देश उपनिवेशित देशों की देसी संस्कृतियों का अवमूल्यन तथा उनकी अभिव्यक्तियों का दमन करके अपना औपनिवेशिक ढाँचा खड़ा करता है। उनके अनुसार उपनिवेशित देश की संस्कृति, उपनिवेशकर्ता देश के संस्कृति के स्तर की नहीं होती है और उपनिवेशकर्ता देश का यह नैतिक कर्तव्य है कि उपनिवेशों की संस्कृति को स्तरीय बनाने के लिए वे कुछ करें। इस प्रचार का विरोध करने वाले का क्रूरतापूर्वक दमन कर देना भी औपनिवेशिक व्यवस्था का मुख्य हिस्सा रहा है। यूरोपीय साम्राज्य ने भी इसी नीति पर चलते हुए अधीन देशों में अपना ढाँचा खड़ा किया था। 'देशी संस्कृतियों का अवमूल्यन' तथा 'अभिव्यक्ति का दमन' की नीतियों से आज तक उपनिवेशित देश पूरी तरह नहीं निकल सके हैं। अतः यूरोपीय साम्राज्य के पतन के बाद भी उपनिवेशवाद के अंश बचे रहे हैं। राजनीतिक दासता से मुक्त होने के बाद भी वे वास्तविक रूप से मुक्त नहीं हो पायी। मानसिक गुलामी इसी का परिणाम है। इस मानसिक गुलामी को वहन करने का भार नव स्वतंत्र हुए देशों के देसी नेतृत्व तथा दलों ने अपने ऊपर ले लिया। उपनिवेशों के स्वतंत्र होने के पश्चात् साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ जिस प्रतिरोध को व्यवस्थित तथा संगठित रूप में आना चाहिए था; वह देसी दलों तथा उनके स्वार्थी नेतृत्व के कारण धीमा पड़ता गया। वस्तुतः इस नेतृत्व ने औपनिवेशिक राज्य

की प्रणाली को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था। अपने देश की संस्कृति के विकास एवं जनता की भलाई के लिए जो काम करने चाहिए थे, नहीं किये गये। अतः मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद भी अपने देश के इतिहास और संस्कृति के बारे में इन नेतृत्वकर्त्ताओं की समझ पुरानी साम्राज्यवादी नीतियों से मुक्त न हो पाने के कारण जस की तस बनी रही। यह स्थिति आज तक बनी हुई है।

राष्ट्रीय और सांस्कृतिक अस्मिता के इस यह क्षरण पर विचार करना उत्तर औपनिवेशिक विमर्श का महत्वपूर्ण हिस्सा है। वस्तुतः सदी बीत जाने पर भी मध्यपूर्व या तीसरी दुनिया के देश राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक अस्मिता की मौलिक समस्याओं से ग्रस्त रहे। उपनिवेशवादी दौर के पतन के बाद ये देश अपनी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक अस्मिता को बनाए रखने में असमर्थ रहे। यह बाहरी और भीतरी दोनों स्तरों पर हुआ। किसी देश के स्वतंत्र होने और उपनिवेशवादी शासन के खत्म होने का मतलब यह नहीं कि वहाँ सामाजिक विभाजन और आंतरिक कलहों का भी अंत हो गया हो। सीमाओं का नक्शा यूरोपीय शक्तियों ने ही खींचा था। इसलिए औपनिवेशिक शासन के दौरान राष्ट्रीय चेतना एवं संस्कृति की अस्मिता की खोज तथा उसके विकास को लेकर दुविधा की चिंताजनक स्थिति बनी रही। अधिकांशतः उपनिवेशित देश के लेखक अपनी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक अस्मिता को पुराने देश (Colonizer) से जोड़ देते हैं। इससे होता यह है कि देश का ज्ञानात्मक उत्पादन प्रायः उपनिवेशकर्त्ता के हितों में ही वृद्धि करता है। वह औपनिवेशिक ताकतों द्वारा रचित साहित्य का ही अनुगामी होता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या उपनिवेश रह चुके देशों के साहित्य एवं संस्कृति को उत्तर औपनिवेशिक विमर्श की एक ही कोटि में रखा जा सकता है ? क्या इन देशों के साहित्य एवं संस्कृति में समान विशेषताएँ पायी जाती हैं ? The Empire Rights Back के लेखकत्रय का कहना है— “हम उत्तर औपनिवेशिक पद का प्रयोग.. साम्राज्यवादी प्रक्रिया से आजतक प्रभावित संस्कृतियों के लिए करते हैं। ऐसा इसलिए है कि यूरोपीय साम्राज्यवादी आक्रमण द्वारा शुरू की गयी नितांत ऐतिहासिक प्रक्रिया में पूर्वाधिकार की निरंतरता है..... अतः अफ्रीकी देशों, आस्ट्रेलिया, बांग्लादेश, कानाडा, कैरेबीयाई देश, भारत, मलेशिया, माल्टा, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान, सिंगापुर, दक्षिण पैसिफिक द्वीप देश और श्रीलंका का साहित्य उत्तर औपनिवेशिक साहित्य है।”⁵

प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिंतक एजाज़ अहमद अपनी पुस्तक 'In Theory' में इस बात का विरोध करते हैं। वे इन देशों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक एकता से इंकार करते हैं। वे कहते हैं —“पहली और तीसरी दुनिया के बीच अंतर अन्यता की तरह परम है, किंतु 20 देशों की सामाजिक संरचना की विशाल सांस्कृतिक विजातीयता, जिसे तीसरी दुनिया कहते हैं, वह अनुभव के एकमात्र अस्मिता के भीतर डूब जाता है। अब, पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के देश लगभग दो सौ सालों से बहुत गहरे में बंधे हैं; इन देशों में पूँजीवाद खुद इतना ही पुराना है, उत्तरवर्ती पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क इन महानगरीय संरचनाओं में इतनी दृढ़ता से क्रियाशील है, इनके बीच सांस्कृतिक उत्पादों का प्रसार इतना शीघ्र, इतना विस्तीर्ण, इतना तेज़ है कि कोई भी समझदारी से इनके बीच एक निश्चित सांस्कृतिक सजातीयता को कह सकता है। लेकिन एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका? ऐतिहासिक रूप से ये देश कभी भी इतनी घनिष्ठता से नहीं बंधे रहे; पेरू और इंडिया साफ़-साफ़ उस तरह का सामान्य इतिहास नहीं रखते हैं, जिस तरह का जर्मनी और फ्रांस या ब्रिटेन और संयुक्त राज्य रखते हैं; यहाँ तक कि उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के एकमात्र अनुभव के भी विशेष तरीकें हैं.....तीनों महाद्वीपों के ये विभिन्न देश, पूँजीवाद की वैश्विक संरचना में एकमात्र सांस्कृतिक समष्टि के तौर पर नहीं, बल्कि बहुत ही भिन्न रूप में सम्मिलित किये गये, मेट्रोपोलिस से प्रत्येक वितरण (असमान) का अपना परिपथ तैयार कर रहा था, हर एक अपनी विशिष्ट वर्ग-संरचनाओं को अधिगृहीत कर रहा था। इनके बीच वितरण का परिपथ आरंभिक रूप से सर्वश्रेष्ठ था; एक औसत नाइजीरीयन भी, जो अपने देश के हिसाब से साक्षर है वह निश्चित रूप से इंग्लैंड और संयुक्त राज्य के बारे में किसी भी एशिया और लैटिन अमेरिका के देश की तुलना में अधिक जानता है, बल्कि अफ्रीका के अधिकांश देशों से भी ज़्यादा जानता है। इस तरह के परिपथों, जो विकसित पूँजीवाद की जटिल संस्कृति को बांधते हैं, सामान्यतः पिछड़े पूँजीवादी देशों के बीच विद्यमान नहीं रहते हैं, और पूँजीवाद खुद, जो प्रभावशाली तो होता है, किंतु सर्वथा सार्वभौमिक नहीं होता है, शहरी बुर्जुआ को छोड़कर, अभी तक इन ज़्यादातर देशों में अपने सांस्कृतिक तर्क में समान सजातीय शक्ति नहीं रखता है।”⁶

जॉन मैक्लायड ने भी अपनी पुस्तक *Beginning Post colonialism में The Empire*

Rights Back के लेखकों की इस मान्यता पर प्रश्न उठाया है। वे भी उपनिवेशित देशों की संस्कृति तथा साहित्यिक एकरूपता की बात को नकारते हैं — “उसी प्रकार, विभिन्न देशों के आंतरिक या अंतस्थ लेखन के बीच के फर्क को लेकर बहुत कम प्रयास किया गया। क्या विभिन्न अवस्थितियों में उपनिवेशवाद एकरूपता से घटित हुआ? क्या हम मान सकते हैं कि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक रूप से इतने भिन्न देशों के लेखन का संबंध ‘केंद्र’ के साथ एकरूप में ही घटित होता है ? न्यूजीलैंड के माओरी लोगों के लेखन को या अमेरिकी उपमहाद्वीप के पहले राष्ट्र के लोगों के लेखन को हम कौन-सा दर्जा देंगे, जो उपनिवेशित श्वेत समुदायों को उत्तरऔपनिवेशिक से ज़्यादा नव-औपनिवेशिक की तरह देखते हैं।”⁷ विजय मिश्र और बॉब हॉज ने अपने निबंध ‘What is post (-) colonialism ?’ में लेखकत्रय द्वारा बताये गये सांस्कृतिक एवं साहित्यिक एकरूपता के निरूपण पर तार्किक बहस करते हुए कहते हैं कि ऐशक्राफ्ट, ग्रिफिथ और टीफ़िन ने अनेक स्थानों के साहित्य के विषमांगी शरीर का परीक्षण करते हुए, इन साहित्यों के बीच के अंतर को सूक्ष्मता से नहीं देखा। यह पुस्तक ‘उत्तर उपनिवेशवाद के आधार सिद्धांत’ का निर्माण करती है, जो लेखकों के बीच के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विभिन्नताओं को नज़रअंदाज़ करती है; अतः विशेषताएँ एकरूप कर दी जाती हैं.... जिससे कि अन्य के लिए यह कमोबेश सरलीकृत हो जाता है। विभिन्नताएँ एवं विविधताएँ अंततः नज़रअंदाज़ कर दी जाती हैं।⁸ उपर्युक्त लेखकत्रय की इस मान्यता को खारिज करते हुए युवा मार्क्सवादी आलोचक प्रणय कृष्ण भी अपने शोध कार्य ‘उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श और हिन्दी साहित्य’ में कहते हैं — “अकादमिक तंत्र के लिहाज़ से उत्तर औपनिवेशिक कोटि में दुनिया के बहुत बड़े हिस्से के साहित्य को एक बहुत ही छोटी सी जगह में ठूँस कर भर दिया जाना यूरोपियन, अमेरिकी अकादमियों में निहित संरचनागत असमानता को रेखांकित करता ही है, लेकिन उससे अधिक गहरा प्रश्न यह है कि इतनी भिन्न-भिन्न और अलग-अलग विशिष्टताएँ लिए हुए देशों के साहित्य को किस आधार पर एक ही कोटि में परिभाषित किया जा सकता है ? उत्तर औपनिवेशिक सिद्धान्तकारों के अनुसार इन तमाम साहित्यों में कुछ रूपगत और विमर्शात्मक विशेषताएँ ऐसी हैं जो समान हैं। कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि श्वेत उपनिवेशों के बारे में उत्तर औपनिवेशिक विमर्श का

वह परिप्रेक्ष्य अधिक संगत है, जिसके अनुसार औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक स्थितियों में निरंतरताओं को रेखांकित किया जाता है। लेकिन भूरे और काले उपनिवेशों में अंग्रेजों का आगमन स्थाई रूप से बसने वालों के रूप में नहीं हुआ। वे स्थायित्व प्रदान करने वाली शक्ति के रूप में नहीं, बल्कि पहले से बनी बनाई व्यवस्था को अस्थिर करने वाली ताकत के रूप में आए.... औपनिवेशिक शासन के दौरान जो लोग गरीब होते गये, सांस्कृतिक रूप से वंचित किए गये और जनसंहारों के शिकार हुए, उनके अनुभवों को यह सिद्धान्त नज़रअंदाज़ करता है।⁹

प्रणय कृष्ण का यह कथन उचित प्रतीत होता है, क्योंकि औपनिवेशिक शासन के दौरान साम्राज्यवादी ताकतों ने किसी-किसी उपनिवेशित देश के मूल निवासियों का सफाया कर अपनी जनसंख्या वहाँ बसा दी। जैसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दौरान उत्तरी अमेरिका के मूल निवासियों (नीग्रो) का या तो दमन कर दिया गया या फिर उन्हें दक्षिण अमेरिका ले जाकर बसा दिया गया, जहाँ अफ्रीकी मूल के निवासी (नीग्रो) भी गुलाम बनाकर पहुँचाए गये थे। आज उत्तरी अमेरिका में ब्रिटिश मूल के निवासी (श्वेत) अधिक संख्या में बसे हुए हैं। अतः औपनिवेशिक शासन समाप्त होने के बाद भी इन देशों का संबंध सहज बना रहा। कनाडा एवं आस्ट्रेलिया भी इसी प्रकार के देश हैं।

उत्तर औपनिवेशिक चिंतन का विकास

उत्तर औपनिवेशिक चिंतन के विकास को समझने के लिए हमें विउपनिवेशीकरण के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालनी होगी। स्वतंत्रता व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। कोई भी समाज किसी भी आधिपत्य को सरलता से स्वीकार नहीं करता है। आधिपत्य की प्रक्रिया का प्रतिरोध करना, उसके विरुद्ध संघर्ष करना प्रत्येक का स्वभाव है। किसी भी आधिपत्य को शुरुआत से ही विरोधों का सामना करना पड़ता है। उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद को भी आरंभ से ही विरोध झेलना पड़ा, जिसे विउपनिवेशीकरण की संज्ञा दी जा सकती है।

ईस्ट इंडिया कंपनी 1600 ई० में भारत में आयी। 17 वीं सदी तक आते-आते, जैसे-जैसे इस यूरोपीय आधिपत्य का शिकंजा कसना आरंभ हुआ, वैसे-वैसे उसके विरोध में सुगबुगाहट होने लगी और 1757 में प्लासी के युद्ध में

सिराजुद्दौला ने यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध पहला संघर्ष किया। 1764 में बक्सर युद्ध में इसे पुनः चुनौती मिली। 1825-30 में यूरोपीय औपनिवेशिक आधिपत्य के विरोध में मेगारा विद्रोह हुआ। 1857 में भारत में ब्रिटिश उपनिवेश के विरुद्ध संभवतः इतिहास का सबसे लंबा चलने वाला मुक्ति-संघर्ष हुआ, जिसमें पूरी देश की जनता ने साथ दिया था। 1864-67 में न्यूजीलैंड का माओरी पाइ मायरे आंदोलन हुआ। 1865 में जमायका में मोरांट खाड़ी का विद्रोह हुआ। 1870 के दशक में ब्रिटिश उपनिवेशों का दक्षिण अफ्रीका में जुलू समुदाय ने भंयकर प्रतिरोध किया। 1873-74 में सुमात्रावासियों ने डचों के विरुद्ध संघर्ष किया।

उपनिवेशवाद को प्रायः यूरोपीय साम्राज्यवाद के संदर्भ में ही व्याख्यायित किया जाता है। डच साम्राज्य, फ्रांसीसी साम्राज्य, ब्रिटिश साम्राज्य— सभी यूरोपीय साम्राज्यवाद के अंतर्गत गिने जाते हैं। 15 वीं शताब्दी में पुर्तगाल के क्यूटा पर कब्ज़ा जमाने के साथ ही यूरोपीय औपनिवेशिक आधिपत्य की शुरुआत हो गयी थी। अमेरिकी, अफ्रीका के सीमावर्ती क्षेत्र, मध्यपूर्व, भारत और पूर्व एशिया पर आधिपत्य जमाने के बाद यूरोपीय साम्राज्यवाद का विस्तार होना आरंभ हुआ। 16 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध यूरोपीय साम्राज्य के विस्तार का साक्षी है। आरंभिक प्रयासों के बाद 17 वीं सदी तक पुर्तगाल और स्पेन के आधिपत्य को अन्य यूरोपीय साम्राज्यवादी ताक़तों— फ्रांस और हालैंड के द्वारा चुनौती मिलने लगी। इसके पश्चात् ब्रिटिश साम्राज्य का उदय हुआ जो विश्व के अब तक के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में उभरा।

विउपनिवेशीकरण के तीन चरण हैं— 18 वीं सदी का अंत तथा 19 वीं सदी का प्रारंभ विउपनिवेशीकरण का पहला चरण है, जब अमेरिका में ज़्यादातर यूरोपीय उपनिवेशों ने अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया और औपनिवेशिक दासता से मुक्ति पायी। हालैंड और फ्रांसीसी साम्राज्य के आगे पुर्तगाल और स्पेनी साम्राज्य पहले ही कमज़ोर पड़ चुके थे। उसके बाद ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी-हालैंड साम्राज्यों का ध्यान पूर्व देश की तरफ आकर्षित हुआ। विशेषकर दक्षिण अफ्रीका, भारत और दक्षिण पूर्व एशिया की तरफ़।

दूसरा चरण 19 वीं सदी के अंत तथा 20 वीं सदी के पहले दशक में घटित हुआ। इस दौर में विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप प्रांत, रियासत (dominion) जैसे पद कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और दक्षिण अफ्रीका आदि राष्ट्रों के लिए प्रयोग में आया। इन राष्ट्रों में इनकी मूल संतति जैसे कनाडा में देसी इण्डियन, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में आदिवासी समुदाय, दक्षिण अफ्रीका में काले अफ्रीकीयों आदि का हिंसक एवं क्रूर दमन कर समाप्त कर दिया गया या फिर इनको स्थानांतरित कर दिया गया। इस अमानवीय एवं क्रूर नीति के पश्चात् इन राष्ट्रों में यूरोपीय मूल की संतति को बसाया गया। आगे चलकर इन्हीं यूरोपियन संततियों ने स्वशासित राज्य के लिए विद्रोह कर दिया। कनाडा पहला देश था, जिसने 1867 में राजनीतिक प्रभुता पायी। आस्ट्रेलिया ने 1900 में, न्यूजीलैंड ने 1907 में, दक्षिण अफ्रीका ने 1909 में राजनीतिक संप्रभुता प्राप्त की। आयरलैंड ने 1922 में स्वशासन का अधिकार पाया, किंतु वह कई हिस्सों में बँट गया, जिन्हें 'काउंटी' कहा जाता है। इनमें से छः ब्रिटिश शासन के अधीन ही रहे, किंतु 1931 में उन्हें भी पूर्णरूप से मुक्त कर दिया गया।

विउपनिवेशीकरण का तीसरा चरण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तीव्रतर रूप से घटित हुआ। दक्षिण एशिया, अफ्रीका और कैरीबियन द्वीप समूहों के उपनिवेशों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनीतिक रूप से मुक्ति हासिल की। ऐसा उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय संघर्ष तथा सैन्य संघर्षों के परिणामस्वरूप हुआ। भारत ने 1947 में स्वतंत्रता अर्जित की। श्रीलंका 1948 में औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुआ। 1957 में घाना ने मुक्ति की साँस ली। वह अफ्रीका का पहला पूर्ण बहुमत शासित देश बना। नाइजीरिया 1960 में मुक्त हुआ। 1962 में कैरीबियन द्वीप के देशों जमैका, त्रिनिदाद और टोबैगो – ने आजादी पाई। 1960 और 1970 के दशक विउपनिवेशीकरण का व्यस्ततम दौर रहा। जुलाई 1997 में हांगकांग के चीन के अधीन हो जाने से ब्रिटिश साम्राज्य का सूरज अस्त हो गया।

निःसंदेह विउपनिवेशीकरण के कई कारण थे— पहला मूल कारण था कि ब्रिटिश उपनिवेशों में बहुत से राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष हुए। इन मुक्ति-संग्रामों का स्वरूप पहले हुए विद्रोहों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित एवं संगठित था। इन मुक्ति-संग्रामों के कारण ब्रिटिश साम्राज्य को अपने अधीन देशों को संभालना मुश्किल हो गया।

दूसरा, द्वितीय विश्वयुद्ध में यूरोपीय देशों के आपसी युद्ध से उनकी साम्राज्यवादी ताकत में कमी आयी और साथ ही उनकी सभ्यगत श्रेष्ठता को धक्का भी लगा। यह निर्णायक सिद्ध हुआ। उपनिवेशित देश की जनता यह सब देख रही थी। तभी मज़ाज़ ने कहा — “खुद आँख से हमने देखी है, बातिल की शिकस्ते फ़ाश यहाँ।”¹⁰

तीसरा, द्वितीय विश्वयुद्ध के ब्रिटेन की विश्व आर्थिक शक्ति वाली छवि धूमिल हुई, जबकि अमेरिका और सोवियत यूनियन संघ महाशक्ति के रूप में उभरे।

विउपनिवेशीकरण के दौर में यूरोपीय साम्राज्यों में ही अनेक राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों ने अनेक उपनिवेशवाद विरोधी विमर्शों एवं चिंतन को जन्म दिया। सर्वप्रथम फ़्रांस में उपनिवेशवाद विरोधी विमर्शों की शुरुआत हुई। इन विमर्शों ने पश्चिम और पूर्व के संबंधों की धारणा को बदल डाला। फ़्रांसीसी राज्यक्रांति के तीन नारों—स्वतंत्रता, समानता तथा विश्वबंधुत्व, ने केवल यूरोप ही नहीं बल्कि विश्व-मानस को प्रभावित किया और आगे चलकर विश्व के उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष के आदर्श बन गये। फ़्रांज़ फ़ैनन जैसे उत्तर औपनिवेशिक चिंतकों ने पश्चिम द्वारा गढ़ी भ्रामक अवधारणाओं पर प्रहार करना आरंभ कर दिया।

उत्तर औपनिवेशिक चिंतन का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन दो प्रकार से हुआ —कामनवेल्थ साहित्य और उत्तर उपनिवेशवादी विमर्शों का अध्ययन।

कामनवेल्थ साहित्य

‘कामनवेल्थ’ (Commonwealth) शब्द साहित्यिक आलोचना में 1950 से प्रयोग में आया। इसका प्रयोग उन देशों के अंग्रेजी साहित्य के लिए होता था जो कभी उपनिवेश रह चुके थे। इसके साथ-ही-साथ उन लेखकों का भी अध्ययन होने लगा जो यूरोपीय, नये बसे हुये देशों के होते थे तथा उनका भी, जिन्होंने उपनिवेशवाद से मुक्ति पायी थी, जैसे अफ़्रीका कैरीबीयाई, दक्षिण पूर्व एशिया के देश। इन देशों के अंग्रेजी में लिखे जा रहे साहित्य को साहित्यिक आलोचना में स्थान मिलने लगा। इनमें आर. के नारायण (भारत), जॉर्ज लैमिंग (बारबोडास), कैथरीन मैन्सफील्ड (न्यूज़ीलैंड), और चिनुआ अचेबे (नाइजीरिया) आदि का लेखन इसी अंतर्गत आता था।

कामनवेल्थ साहित्य एक विशेष युग का अध्ययन करता है। इसके पीछे तर्क यह था कि कामनवेल्थ साहित्य जैसा संगठन बनाने से सक्रिय साहित्यिक गतिविधि को अवस्थित तथा उनकी पहचान करना और तुलनात्मक दृष्टि से उनके बीच सामान संबंधों तथा गुणों की साहित्यिक स्वरों के माध्यम से पहचानना।

ब्रिटिश राज का निरंतर पतन होने से 20 वीं शताब्दी में राष्ट्रों के ब्रिटिश कामनवेल्थ (British Commonwealth of Nations) की स्थापना हुई। पहले पहल यह शब्द अपनी सामूहिकता में ब्रिटिश राज के प्रति निष्ठावान विशेष प्रांतों (Dominions) की ओर ही इशारा करता था। किंतु 20 वीं शताब्दी के 50 वर्षों के भीतर ब्रिटिश साम्राज्य और उसके प्रांतों के बीच संबंध परिवर्तित हुए। इस स्थिति में कामनवेल्थ एक नये अर्थ का बोधक हुआ। 19वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में ब्रिटेन ने औपनिवेशिक संगोष्ठियों का आयोजन किया। इसका उद्देश्य तथा ब्रिटिश औपनिवेशिक राष्ट्रों के गर्वनरों तथा प्रांतों के मुख्य अधिकारियों को एक जगह एकत्रित करना। 1907 में इस तथ्य को पहचानते हुए कि अब यह प्रांत भी ज़्यादा समय तक ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन नहीं रह सकते। इन संगोष्ठियों को साम्राज्यवादी संगोष्ठी (Imperial Seminar) का नाम दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इन संगोष्ठियों को कामनवेल्थ संगोष्ठी का नाम दिया गया। इनमें नये स्वतंत्र राष्ट्राध्यक्षों को शामिल किया गया। ब्रिटिश सम्राट को इन संगोष्ठियों का कागज़ी अध्यक्ष बनाया गया। ब्रिटिश क्राउन का राजनीतिक रूप से इसके ऊपर कोई नियंत्रण न था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सामान्य रूप से यह परिभाषित हुआ कि संप्रभु राष्ट्रों की संस्था किसी भी एक देश के नाम एवं निर्देश नहीं चल सकती।

ऊपर से देखने में लगता है कि 'कामनवेल्थ साहित्य' का गठन उपनिवेशित देशों और उपनिवेशकर्ता देश (ब्रिटेन) के बीच समानता लाने के लिए हुआ था, किंतु सच्चाई यह है कि ब्रिटेन और कामनवेल्थ राष्ट्रों के बीच का आर्थिक एवं राजनीतिक संबंध समानता से बहुत दूर था। 'कामनवेल्थ साहित्य' ही अपने आप में ही भ्रामक पद था। साधारण शब्दों में तो यह भिन्न-भिन्न राष्ट्रों तथा इनकी विभिन्न प्रकार का मूल्यवान साहित्यिक संपदा की ओर ही संकेत करता था। इन विभिन्नताओं के बीच एक समान मानदंड बनाने की कोशिश थी, किंतु दृष्टव्य है कि कभी भी कामनवेल्थ साहित्यों (Commonwealth Literatures) का प्रयोग नहीं हुआ है। हमेशा ही

कामनवेल्थ साहित्य (Commonwealth Literature) का ही प्रयोग होता रहा है। कहने का आशय यह है कि इसके पीछे ब्रिटिश साम्राज्यवाद ही हावी था और इन सबमें वही सर्वोपरी प्रमुख था। प्रणय कृष्ण कहते हैं – “कामनवेल्थ जैसे नामकरण की सबसे बड़ी समस्या तो यही थी कि इस नामकरण में आस्ट्रेलिया, कनाडा, भारत, नाइजीरिया, केन्या, त्रिनिडाड, जमैका, बाराबडोस तथा अन्य देशों के अंग्रेजी में लिखे साहित्य को मातृदेश से अदृश्य नाभिनाल से जुड़ा माना जाता था, जबकि इस कथित मातृदेश (ब्रिटेन) के साहित्य को इससे बाहर रखा जाता था। इस प्रकार साहित्य के मूल्यांकन के मापदण्ड एक अदृश्य केन्द्र से संचालित होते थे। अदृश्य इसलिए कि इंग्लैण्ड का अंग्रेजी साहित्य कामनवेल्थ साहित्य का हिस्सा ही नहीं था।”¹¹

1964 में ए० नारमन जेफ़री (A. Norman Jeffari) ने लीड्स विश्वविद्यालय, इंग्लैण्ड में पहले कामनवेल्थ साहित्य के सम्मेलन में यह घोषणा की कि – “(कामनवेल्थ साहित्य) कोई इसलिए पढ़ता है क्योंकि वह हम तक नये विचार, जीवन की नयी व्याख्याएँ लाता है”¹²

यह ‘हमतक’ विशेषकर ब्रिटिश पाठकों के लिए ही था और व्यापकता में पाश्चात्य पाठकवर्ग को सम्बोधित करता था। यही कारण है कि सलमान रश्दी जैसे महत्त्वपूर्ण उत्तर औपनिवेशिक लेखक कामनवेल्थ साहित्य या राष्ट्र जैसी संस्था की कटु आलोचना करते हैं – “इसमें ब्रिटिश साहित्य का शुमार नहीं किया जाएगा, जो अपने आप में ही महान और पवित्र है, उसे भला एक नयी बेढब छतरी के नीचे इकट्ठा किये गये इन नौसिखुआ (साहित्यों) के बीच कैसे रखा जा सकता है।”¹³

‘पहल’ पत्रिका में छपे एक साक्षात्कार में भी रश्दी ने कामनवेल्थ लिटरेचर की तुलना एक काइमेरा से की है – “जब मैं इस गड़बड़ पर विचार कर रहा था, मेरे ज़ेहन में आया कि यह कोटि तो शब्दशः एक काइमेरा (असंगत कल्पना) है। अब इस शब्द का अर्थ है एक वास्तविक नितांत असंगत काल्पनिक जीव, पर आपको याद होगा कि क्लासिकी काइमेरा अपेक्षाकृत एक खास तरह का विरूप प्राणी था। इसका सिर एक शेर का, शरीर बकरी का और पूँछ साँप की थी। यानि इसका वजूद केवल सपने में ही हो सकता था, ऐसे अवयवों से बना हुआ, जिन्हें असल दुनिया में जोड़ा नहीं जा सकता।”¹⁴

कामनवेल्थ लिटरेचर की स्थापना इसलिए की गयी थी कि पूरे विश्व के औपनिवेशिक अंग्रेजी लेखन को एक समान धरातल प्रदान किया जा सके, किंतु यह धारणा बनी ही रही कि यह लेखन केवल पाश्चात्य अंग्रेजी पाठक वर्ग के लिए ही लिखा गया है। इस प्रकार कामनवेल्थ लिटरेचर एक निरंकुश अर्धबोधन का सूचक है।

कामनवेल्थ लिटरेचर में राष्ट्र और साहित्य के संबंध पर प्रश्न उठाया गया। चिंतकों का मानना है कि कामनवेल्थ देशों के स्थानीय साहित्य का विकास समकालीन राष्ट्रीय संवेदना और अस्मिता के विकास से सच्चे तौर पर जुड़ा होता है किंतु ब्रिटिश उपनिवेशों जैसे फीजी, हांगकांग, माल्टा जहाँ, अपेक्षाकृत वृहद् अंग्रेजी भाषी जनसंख्या बसती है, वहाँ से साहित्य का उत्पादन जिस व्यापक रूप से होना चाहिए या, नहीं हुआ। इसका कारण शायद इस तथ्य में है कि उनके पास न तो राष्ट्रीय अस्मिता का बोध है, न उसका अनुकरण करने का कोई कारण, और न ही कोई सामान्य लक्ष्य है।

अनेक चिंतकों का यह भी मानना है कि कामनवेल्थ लिटरेचर से नये विचारों एवं जीवन की व्याख्या करने वाले नयी सोच इस कदर हावी हो गयी कि वह लेखक अपने स्वयं के राष्ट्रीय चेतना एवं सांस्कृतिक अस्मिता के बोध को भुला बैठे।

अब इस बिंदु पर आते हैं कि कामनवेल्थ लिटरेचर उत्तर औपनिवेशिक साहित्य में कैसे परिवर्तित हुआ? 1994 में इंडियन एसोसिएशन फॉर कामनवेल्थ लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज स्टडीज़ (IACALS) के संपादकीय 'कामनवेल्थ से उत्तर औपनिवेशिक' (From Commonwealth to Post Colonial) में हरीश त्रिवेदी ने इसे स्पष्ट किया है उनके अनुसार 'रटलेज विश्वकोश' द्वारा एक दशक पहले शुरू की गयी 'कामनवेल्थ लिटरेचर विश्वकोश' (The Encyclopedia of Commonwealth Literature) नाम की योजना चलायी गयी थी जिसे बाद में अंग्रेजी-साहित्य और औपनिवेशिक साहित्यों का विश्वकोश (The Encyclopedia of Post Colonial Literature in English) की संज्ञा दी गई।¹⁵ प्रणय कृष्ण कहते हैं — "कामनवेल्थ की जगह 'उत्तर औपनिवेशिक' पद, पाठ और संदर्भ दोनों ही दृष्टियों से अधिक राजनीतिक आशय लिये हुए था। इसके अलावा 'कामनवेल्थ' संज्ञा में निहित खटकने वाली 'आंग्लकेंद्रिकता' का भी इस नये संस्करण में परिहार हो गया।

नामकरण में बदलाव कभी-कभी भले ही नये अकादमिक फ़ैशन का घोटक होता है, लेकिन कई बार यह बदलाव विमर्शों के बुनियादी संदर्भों में आये महत्त्वपूर्ण बदलावों का भी सूचक होता है। नामकरण में परिवर्तन ज्ञान मीमांसा की उन सरणियों का भी घोटक होता है, जिनमें कि साहित्यिक कृतियों के पाठ और संदर्भ संस्थाबद्ध किये जाते हैं।¹⁶

इस प्रकार जो यात्रा उपनिवेशवादी बिंदु से आरंभ हुई थी, कामनवेल्थ लिटरेचर से गुज़रते हुए अंततः उत्तर औपनिवेशिक चिंतन में परिवर्तित हो गयी। इसलिए उत्तर औपनिवेशिक चिंतन को समझने के लिए उपनिवेशवादी विमर्शों एवं सैद्धांतिकी का अध्ययन भी आवश्यक है।

सामान्य रूप से उपनिवेशवादी विमर्श उपनिवेशकर्ता के प्रतिनिधित्व एवं प्रतिनिधित्व के अंदाज़ (Representations and their mode of representation) को सामने लाती हैं। इसका प्रयोग उपनिवेशकर्ता राष्ट्र उपनिवेशित देश की जनता को मानसिक गुलाम बनाने के लिए करता है। औपनिवेशिक सत्ता द्वारा (ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विशेष संदर्भ में) विश्व को देखने-समझने का अपना एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित किया जाता है। इसका विरोध बहुत से विचारकों ने किया है कि आखिरकार कैसे उपनिवेशवाद एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित करने और उसे विश्व को समझाने तथा उसमें भी किसी एक राष्ट्र के स्थान को लेकर कैसे पूरे विश्व को भ्रम में डाल सकता है। कैसे अपने को श्रेष्ठ एवं सभ्य सिद्ध कर सकता है? इन सवालों का जवाब ढूँढना ही उत्तर औपनिवेशिक चिंतन का एक हिस्सा है।

उपनिवेशकर्ता देश उपनिवेशित देश की जनता में यह प्रचार करता है कि उपनिवेशित निम्न स्तर के हैं, पिछड़े हैं, असभ्य हैं, संस्कृतिहीन हैं तथा सभ्यताहीन है आदि; अतः उनके ऊपर शासन करना उचित एवं संगत है, क्योंकि इसी से वे विकसित हो सकते हैं। उपनिवेशकर्ता राष्ट्र द्वारा उपनिवेशित देसी जनता की इस हीनता की ग्रंथि को बढ़ाने को ही मानसिक उपनिवेशीकरण कहते हैं (Colonising the mind)। इस साम्राज्यवादी प्रक्रिया के तहत यह नीति अपनायी जाती है कि पहले देसी जनता को अपने विश्वास में लो कि हमने तुम्हारे शास्त्रों को अंगीकार कर लिया तथा तुम्हारी भाषा सीख ली है। हम इसे अपने व्यापक अनुभवों एवं श्रेष्ठ संस्कृति एवं उच्च मूल्यों के आधार पर तुम्हारे शास्त्रों एवं भाषा को विश्व भर प्रचारित करेंगे तुम्हारे शास्त्र एवं भाषा चिरस्थायी बनेंगे।

मिशेल फूको के विमर्श के अनुसार जहाँ भाषा और सत्ता की शक्ति (Power Politics) का संधि-स्थल होता है, वहीं से उपनिवेशवादी विमर्श का प्रतिच्छेदन होता है। हमें यह ध्यान रखना होगा कि भाषा न केवल संप्रेषण का माध्यम है, बल्कि किसी व्यक्ति की समझ बनाने (उचित-अनुचित दोनों प्रकार) उसकी विश्व दृष्टि विकसित करने, उसके यथार्थ-बोध तथा उसकी चेतना को विकसित करने का भी माध्यम है। भाषा के जरिये व्यक्ति मूल्य-निर्धारण में भी सक्षम होता है तथा उसमें श्रेष्ठ और हीन के बीच के अंतर को पहचानने की भी चेतना आ जाती है। जैसा कि न्गूगी वा थ्योंग लिखते हैं— “भाषा संस्कृति को ढोती है और संस्कृति, विशेषकर व्याख्यानों और साहित्य के माध्यम से उस पूरी मूल्य-व्यवस्था को ढोती है, जिसके द्वारा हम अपने आपको तथा अपने स्थान को इस विश्व में दृष्टिगोचर होता पाते हैं। लोग किस प्रकार का अपने आपको अनुभव करने होते हैं, जब उनकी नज़र अपनी संस्कृति अपनी राजनीति और अपने अर्थ के सामाजिक उत्पादन पर तथा प्रकृति तथा दूसरे मनुष्य जातियों से अपने सभी संबंधों पर जाती होगी। मनुष्य जातियों के एक ऐसे समुदाय के रूप में.....हमारा भाषा के साथ अभिन्न एवं अटूट संबंध है।”¹⁷

उपनिवेशवाद के अंतर्गत उपनिवेशित जनता को विश्व को देखने का एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया जाता है, जो उपनिवेशकर्ता के मूल्यों की रक्षा करता है तथा उसका प्रचार भी करता है। इस विशेष मूल्य-व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ तथा इस विश्वदृष्टि को सबसे सच्चा बताया जाता है। साथ ही यह प्रचार भी किया जाता है कि उपनिवेशित जनता के पास संस्कृति नाम की कोई चीज़ नहीं है, वह असभ्य हैं, उसे सांस्कृतिक मूल्यों की शिक्षा देकर सभ्य बनाना है। इसमें भाषा मुख्य भूमिका निभाती है। ब्रिटिश साम्राज्य ने औपनिवेशिक सत्ता बनाये रखने के लिए, देसी जनता को सभ्य बनाने के लिए, साम्राज्यवादी भाषा चुना, क्योंकि उनके अनुसार इसी से सच्ची जीवन-व्यवस्था की प्राप्ति हो सकती थी।

न केवल औपनिवेशिक मूल्यों को अंगीकार करवाकर देसी जनता को शक्तिहीन बनाया गया, अपितु उन्हें अपने लोगों को, अपने भाई-बंधुओं को, अपनी संस्कृति को और स्वयं को नकारात्मक रूप से देखने का पाठ पढ़ाकर हीनताबोध की ग्रंथि से भी ग्रसित किया। 1950 के दशक में इन उपनिवेशवादी विमर्शों के

दुष्प्रभाव के परिणामस्वरूप जो मानसिक पीड़ा और क्षति पहुँची थी, को देखने का काम व्यापक पैमाने पर शुरू हुआ। इस प्रकार का काम सबसे पहले फ्रांज़ फ़ैनन ने किया। उन्होंने फ्रेंच उपनिवेशवाद के द्वारा हुई मानसिक क्षति के बारे में बहुत विस्तार एवं गहराई से लिखा।

फ्रांज़ फ़ैनन

उत्तर उपनिवेशवादी चिंतन में फ़ैनन के योगदान को समझने के लिए उनके जीवन के बारे में थोड़ी जानकारी आवश्यक है। फ़ैनन एक मध्यवर्गीय परिवार में मार्टिनीक द्वीप में 1925 में पैदा हुये। यह द्वीप फ्रांस का उपनिवेश था। 1942-43 में मार्टिनीक पर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मन सेना का कब्ज़ा हो गया। फ़ैनन ने 1943 में मार्टिनीक छोड़ दिया और फ्रांस जाकर मित्र राष्ट्रों की सेना में भर्ती हो गये। युद्ध के दौरान ही उन्हें नस्लीय अपमान का अनुभव हुआ। युद्ध के बाद वह लियोन चले गये। वहाँ उन्होंने चिकित्साशास्त्र तथा मनोविज्ञान का अध्ययन करना आरंभ किया। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'ब्लैक स्किन व्हाइट मास्क' 1952 में प्रकाशित हुई। मूलतः यह पुस्तक लियोन में उनके द्वारा दिये व्याख्यान और अनुभवों का संकलन था। इसका शीर्षक था — "An Essay for the Disalienation of Blacks"। अध्ययन के दौरान लियोन में भी उन्हें नस्लीय अपमान का अनुभव हुआ। इन अपमानजनक अनुभवों ने उन्हें अंदर तक प्रभावित किया। 1954 में अल्जीरिया में उन्होंने ब्लाड-ज्वाइनविले अस्पताल के मनोचिकित्सा विभाग के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया तथा फ्रांसीसी उपनिवेश के विरोध में अल्जीरियाई मुक्ति-संघर्ष में शामिल हो गये। फ़ैनन समकालीन दार्शनिकों, विचारकों एवं कवियों से प्रभावित हुए, जैसे ज्यॉ पाल सार्त्र तथा आइमे सेजायर आदि। किंतु फ़ैनन के विचारों से प्रभावित होने वालों की सूची लंबी है जिसमें फिदेल कास्त्रो, अर्नेस्तो चेग्वारा जैसे क्रांतिकारी हैं, तो एडवर्ड सईद, होमी. के. भाभा, गायत्री स्पीवाक, अब्दुल जॉन मोहम्मद तथा बेनिटा पैरी आदि अकादमिक बुद्धिजीवी एवं चिंतक भी हैं।

फ़ैनन की दो पुस्तकों — 'ब्लैक स्किन, व्हाइट मास्क' तथा 'द रेचड आफ द अर्थ' उपनिवेशवादी व्यवस्था तथा उसके पड़ने वाले दुष्प्रभावों के विरुद्ध अपना आक्रोश व्यक्त करती है।

‘ब्लैक स्किन, व्हाइट मास्क’ का एक हिस्सा फ़ैनन के अनुभवों का घोषणा पात्र है, तो एक हिस्सा उन अनुभवों के विश्लेषण एवं व्याख्या से संबंधित है। पहले हिस्से में फ़ैनन के व्यक्तिगत अनुभव हैं जो उन्हें काले बुद्धिजीवी के रूप में श्वेत संसार में प्राप्त हुए; तो दूसरे हिस्से में उन्होंने उपनिवेशकर्ता तथा उपनिवेशित के संबंधों का मनोवैज्ञानिक धरातल पर विश्लेषण किया है। आरंभिक शिक्षा तथा पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण फ़ैनन अपने को एक फ्रेंच स्वीकारने थे, किंतु फ्रेंच नस्लवाद के आरंभिक अनुभवों ने उनके संस्कृति संबंधी मनोविश्लेषणवादी सिद्धांतों का गढ़ा।

फ़ैनन ने इस पुस्तक में उस आदमी की व्यथा का मनोविश्लेषण किया है, जो ऐसे विश्व में रह रहा है, जहाँ चमड़ी के आधार पर उसके साथ अच्छा या अपमानजनक व्यवहार किया जाता है। इसके *The fact of Blackness* (कालेपन के तथ्य) अध्याय में उन्होंने बहुत पीड़ा से लिखा है कि गोरे उनके कालेपन की तरफ़ संकेत करते थे, उनके लिए अपमानजनक वाक्यों का प्रयोग करते थे, वे कहते थे — ‘गंदा काला आदमी, देखो, एक नीग्रो।’ फ़ैनन के अनुसार नस्लवाद भयानक मनोविकारों का निर्माण करता है, जिससे काले आदमी के भीतर श्वेत मापदंडों के प्रति एक आकर्षण हो जाता है और उसको अपनी ही चेतना से अलग कर देता है। एक नस्लवादी संस्कृति काले व्यक्ति के मनोविज्ञान के विकास में बाधा बन जाती है। ऐसी संस्कृति में शक्तिशाली सत्ता द्वारा काले व्यक्ति की अस्मिता को नकारात्मक ढंग से परिभाषित किया जाता है। उसे मजबूर किया जाता है कि वह अपने आपको एक मनुष्य प्राणी के तौर पर न आँके, जिसकी अपनी आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ भी होती हैं। उसके साथ वस्तु की भाँति व्यवहार किया जाता है। एक विशेष वर्ग द्वारा उसे हीन दृष्टि से देखा जाता है। उसके ऊपर दया दिखायी जाती है कि वह पूर्णरूप से मनुष्य होने का हकदार नहीं है। अतः वह बेचारा जो भी है, उनकी व्याख्याओं एवं परिभाषाओं की दया के कारण ही है।

काले व्यक्ति के मनोविज्ञान के निर्धारण में भाषा एक मुख्य भूमिका निभाती है। फ़ैनन के अनुसार भाषायी तौर से उपनिवेश बनने के ज़्यादा घातक परिणाम सामने आते हैं। यह व्यक्ति की पूरी चेतना पर अपना असर डालता है। फ्रेंच बोलने का अर्थ है कि एक व्यक्ति यह मान लेता है या मानने के कगार पर होता है कि कालेपन का संबंध बुराई तथा पाप से हैं। इसी कालेपन नाम की बुराई तथा पाप से बचने के लिए काला आदमी सफ़ेद मुखौटा ओढ़ लेता है।

‘ब्लैक स्किन व्हाइट मास्क’ निरंतर होने वाले काले व्यक्ति की अस्मिता-निर्माण की भी व्याख्या करता है कि किस प्रकार उपनिवेशित व्यक्ति को बलपूर्वक यह बोध कराया जाता है कि वह ‘इतर/अन्य’ (Other) है। उपनिवेशकर्ता सभ्य है, तार्किक है, बुद्धिवान है और नीग्रो में इन सब गुणों का अभाव है। इसलिए वह गोरे लोगों के श्रेष्ठता बोध तथा सामान्य जीवन से अलग है, इतर है। फ़ैनन के अनुसार — ‘श्वेत विश्व, जो कि केवल अपने आप को ही सम्मान के योग्य समझता है, ने मुझे जीवन के सभी हिस्सों से दूर करने का प्रयास किया। एक मनुष्य यही आशा करता है कि उसके साथ मनुष्य की तरह व्यवहार किया जाए। किंतु मैं एक काले आदमी की तरह बर्ताव करने की अपेक्षा करता था।’¹⁸ यह भ्रामक एवं कपटपूर्ण अस्मिता-बोध का निर्माण कि, मनुष्य (गौर/उपनिवेशकर्ता) काले मनुष्य (दूसरे/अन्य/उपनिवेशित जनता) से भिन्न एवं श्रेष्ठ है, औपनिवेशिक साम्राज्यवादी व्यवस्था की एक घातक नीति है। यह एक ऐसा हथियार है जो दिमाग को विकृत कर हीनताबोध तथा उपनिवेशकर्ता के संस्थागत श्रेष्ठता बोध से बनी जंजीरों से जकड़ देता है। फ़ैनन के लिए उपनिवेशवाद की समाप्ति का अर्थ यह नहीं है कि केवल राजनीतिक तथा आर्थिक रूप से परिवर्तन आना चाहिए बल्कि मनोवैज्ञानिक रूप से भी परिवर्तन होना चाहिए। औपनिवेशिक जनता की मनोवैज्ञानिक विकृतियों में सुधार आना चाहिए। उपनिवेशवादी व्यवस्था की अस्मितामूलक धारणा को चुनौती देकर ही उसे समाप्त किया जा सकता है।

निष्कर्षतः फ़ैनन का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं व्याख्या संबंधी अध्ययन उत्तर औपनिवेशिक चिंतन का सबसे मूलभूत एवं सार्वभौमिक सिद्धांत है। फ़ैनन का चिंतन केवल काले व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक विकृति को ही नहीं, बल्कि समूचे विश्व की औपनिवेशिक व्यवस्था से पीड़ित जनता पर भी लागू होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि फ़ैनन द्वारा विचारित इस मनोवैज्ञानिक विकृति को ही बाद में मानसिक गुलामी कहा जाने लगा। यह उत्तर औपनिवेशिक चिंतन में प्रायः प्रयुक्त होने वाला पद है। इस प्रकार फ़ैनन का चिंतन उत्तर औपनिवेशिक चिंतन का प्रस्थान बिंदु है, जिसे समझे बिना कोई भी इस चिंतन के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकता।

एडवर्ड सईद

एडवर्ड सईद का जन्म 1955 में येरुशलम के एक समृद्ध ऐंग्लिकन ईसाई परिवार में हुआ। सईद के पिता फिलीस्तीनी थे, माता लेबनान की थी तथा व्यापार मिश्र की राजधानी कैरो में था। अतः सईद का आरम्भिक जीवन जेरुशलम, मिश्र और लेबनान में बीता। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद 1947-48 में इजराईल की स्थापना हुई। इसके उपरांत इजराईल में नवनिर्मित यहूदी सरकार के संरक्षण में भयानक लूटपाट हुई तथा मुस्लिम तथा अन्य गैर यहूदी फिलिस्तीनियों को उनके ही मातृदेश से विस्थापित कर दिया गया। सईद का परिवार भी अपनी भूमि से विस्थापित होकर जार्डन और लेबनान में बस गया। 1950-62 में सईद शिक्षार्जन के लिए अमेरिका चले गये। यहाँ उन्होंने प्रिस्टन तथा हावर्ड विश्वविद्यालयों में शिक्षा पूरी की। तदुपरांत 1963 से अध्यापन-कार्य शुरू किया तथा 1965 में प्रोफेसर नियुक्त किये गये। मृत्युपर्यंत वहीं रहे।

किंतु सईद का घर नहीं था, वे वहाँ रहना नहीं चाहते थे। उनका घर उनके जेहन में था। अतः जब 1967 में अरब-ईस्राइल युद्ध हुआ तो अरब तथा फिलीस्तीन की समस्याओं को देखकर उन्हें अत्यंत पीड़ा हुई। इसके पश्चात वे जीवन भर फिलिस्तीन के मुक्ति-संघर्ष से एक बुद्धिजीवी के स्तर पर जुड़े रहे। सईद अमेरिका में रहकर ही अमेरिका-इजराईल नीतियों का विरोध करते रहे। वहाँ उन्हें फिलीस्तीनी मुक्ति-संघर्ष का अन्य समर्थक माना जाता था। अमेरिका में उन्हें 'आतंक का प्रोफेसर' (Professor of Terrorism) की संज्ञा दी गयी। किंतु सईद ने हार न मानी। अकादमिक स्तर पर अपने विस्थापन के अनुभवों को समूचे पूरब के विस्थापन के दर्द से जोड़ते हुए अपना चिंतन विकसित करते रहे। प्रणय कृष्ण लिखते हैं – “अपने वतन और लोगों से उखड़कर, विस्थापित होकर अमेरिका जैसी महाशक्ति के केन्द्र में बसे बुद्धिजीवी के बतौर उन्होंने एक ओर तो देशांतरण और विस्थापन के देश को महसूस करते हुए उसे उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा बड़े पैमाने पर किय गये जनसंख्याओं के विस्थापन की सैद्धान्तिकी से जोड़ा तो दूसरी ओर आधुनिक महानगरीय पश्चिमी साम्राज्यवादी केन्द्रों से उत्पन्न उन वैचारिक निर्मितियों और विमर्शों के प्रति आलोचनात्मक व्यवहार विकसित करने का अवसर खुद के लिए खोज निकाला।”¹⁹

वैसे तो सईद ने लगभग दो दर्जन पुस्तकों की रचना की, किंतु उनकी मुख्य पुस्तकें हैं — ओरिएंटलिज़्म (Orientalism), कवरिंग इस्लाम (Covering Islam), कल्चर एण्ड इंपीरीयलिज़्म (Culture and Imperialism), रिप्रिजेंटेशन आफ़ द इंटेलेक्चुअल (Representation of the Intellectual), रेफ्लेक्शन ऑन इन एक्ज़ाइल एंड अदर एसेज़ (Reflection on in Exile and other essays), पावर पालिटिक्स (Power Politics) आदि।

सईद की ख्याति तथा उत्तर औपनिवेशिक चिंतन के विकास के लिए 'ओरिएंटलिज़्म' प्रसिद्ध है। इसे हिंदी में 'प्राच्यवाद' के नाम से जाना जाता है। यह कालजयी पुस्तक 1978 में प्रकाशित हुयी। इसके प्रकाशन के साथ ही अकादमिक क्षेत्र में उत्तर औपनिवेशिक विमर्श की शुरुआत भी हुई। इसकी गणना 20 वीं सदी के उत्तरार्द्ध की सबसे प्रभावशाली पुस्तकों में होती है। इस पुस्तक का उपशीर्षक भी अपने में एक विशिष्ट अर्थबोधन का सूचक है — 'प्राच्य की पाश्चात्य अवधारणाएँ।' इसमें प्राच्यवाद को एक बिल्कुल नये दृष्टिकोण से देखने का आग्रह है। प्राच्यवाद को परिभाषित करते हुए सईद लिखते हैं — "अगर हम अठारहवीं सदी के अंतिम वर्षों से आरम्भ करें तो यह साफ़ हो जाएगा कि प्राच्यवाद का विवेचन तथा विश्लेषण एक ऐसी कारपोरेट संस्था के रूप में किया जाता है, जिसका विषय है पूरब, जिसके बारे में वक्तव्य दिये जाते हैं, जिसके विषय में व्यक्त किये गये विचारों को प्राधिकृत किया जाता है, जिसका वर्णन किया जाता है, जिसे पढ़ाया जाता है, जिसका रूप निर्धारित किया जाता है, जिस पर शासन किया जाता है, थोड़े में कहें तो प्राच्यवाद पूरब के ऊपर शासन करने उसे संरचित करने और उसके ऊपर अधिकार जमाने की पश्चिमी शैली है। यही नहीं प्राच्यवाद की स्थिति इतनी सशक्त रही है कि मुझे तो लगता है कि पूरब के बारे में लिखने, सोचने अथवा सक्रिय होने वाला कोई भी व्यक्ति इसकी मान्यताओं से बच ही नहीं सकता था। प्राच्यवाद के चलते पूरब ऐसा रह ही नहीं गया था, जिस पर स्वतंत्र रूप से विचार किया जा सके। सच बात यह है कि प्राच्यवाद ऐसे हितों अथवा स्वार्थों का एक ऐसा माल है जो प्राच्य के नाम से संज्ञापित वस्तु पर विचार करने समय अनिवार्य रूप से प्रचलित हो जाता है।"²⁰ प्राच्यवाद की नयी परिभाषा एवं उसे देखने को एक नया दृष्टिकोण देकर सईद ने पश्चिम के प्राच्य/पूरब के संबंध में बनाये गये पुराने सभी छवियों एवं अर्थों को तोड़ दिया।

ब्रिटेन और फ्रांस जैसी पश्चिमी उपनिवेशवादी ताकतों द्वारा उत्तरी अफ्रीका तथा मध्य-पूर्व क्षेत्रों का प्रतिनिधिकरण 19 वीं सदी के अंत तथा बीसवीं सदी के शुरुआत में किस प्रकार किया, यही 'ओरिएंटलिज़्म' का मुख्य बिंदु है, यद्यपि इसमें सईद ने अन्य महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं तथा दार्शनिक ज्ञान मीमांसाओं का विश्लेषण भी किया है। सईद ने उपनिवेशकर्ता तथा उपनिवेशित के बीच में निर्णायक संबंधों को दूसरे ढंग से देखा है। फैनन की भाँति उन्होंने भी उपनिवेशवादी नीतियों की व्याख्या की, जिसमें उपनिवेशवाद विश्व को देखने का अपना एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित करता है, विशेष प्रकार से एक व्यवस्था का निर्माण करता है जिसके तहत अपने क्रियाकलापों को सच्चा एवं श्रेष्ठ सिद्ध करता है, किंतु जहाँ फैनन ने उपनिवेशित पर बल दिया, वही सईद ने उपनिवेशकर्ता बल दिया। 'ओरिएंटलिज़्म' में सईद ने शक्ति के मार्क्सवादी सिद्धांतों पर विशेष बल दिया है। इनमें भी विशेषकर इटली के प्रख्यात चिंतक अन्टोनियो ग्राम्शी तथा फ्रांसीसी दार्शनिक मिशेल फूको के दर्शन एवं चिंतन के माध्यम से सईद ने अपने चिंतन का विश्लेषण-विवेचन और विकास किया है। वस्तुतः 'ओरिएंटलिज़्म' में सईद ने ग्राम्शी की ज्ञान मीमांसात्मक पद्धति तथा फूको के सत्ता-विमर्श के बीच अंतःसंबंधों का विश्लेषण करते हुए इस तथ्य को उभारा है कि किस प्रकार साम्राज्यवादी युग के लेखकों, चिंतकों एवं विद्वानों ने पूरब की एक ऐसी छवि निर्मित की जो साम्राज्यवादी तंत्र के लिए काम करती है उनकी सभ्यागत श्रेष्ठतामूलक विचारधारा को न्याय संगत ठहराती थी।

सईद ने इस बात का निरीक्षण किया कि पश्चिमी साम्राज्यवादी ताकतों ने अपने उपनिवेशों के बारे में जो ज्ञान निर्मित किया था, उसने उनकी भ्रामक एवं असंगत तथा अमानवीय आधिपत्यकारी नीतियों को न्यायसंगत ठहराया। फ्रांस और ब्रिटेन जैसे साम्राज्यों ने ज्ञानात्मक उत्पादन पर बहुत समय खर्च किया। पश्चिमी चिंतकों, साहित्यकारों एवं यात्रियों का यूनान, अरब देश तथा मध्यपूर्व के बारे में जो भी लेखन है, वह छद्मपूर्ण है। सईद इस चीज़ की ओर इशारा करते हैं कि पश्चिमी यात्रियों ने इन क्षेत्रों में आकर न तो यहाँ से कुछ सीखने की कोशिश की और न ही यहाँ की जनता से तथ्य जानने की कोशिश की। इसके बजाय वे पूर्व के

बारे में बनी बनायी धारणाओं का ही उल्लेख करते रहे। उन्होंने पूरब की रहस्यमयी जादुई, पतनशील, अविकसित, कामुक, बर्बर, असभ्य आदि छवियाँ निर्मित कीं। पुस्तक के आरंभ में एक घटना का उल्लेख करते हुए सईद इस तथ्य को रेखांकित करते हैं — “1975-76 में जब लेबनान गृहयुद्ध में तबाह हो रहा था उसी समय बेरुत शहर के निचले हिस्से की तबाही को देखकर एक फ्रेंच पत्रकार ने बहुत उदास होते हुये कहा था, “यह वही पूरब है जो कभी शातोब्रिया और नरवल (19 वीं सदी के फ्रेंच कवि) की कल्पना से जुड़ा हुआ था। एक यूरोपीय के रूप में उसकी बात सही थी। पूरब क़रीब-क़रीब एक यूरोपीय आविष्कार था और बहुत प्राचीन काल से ही वह रोमांस, अजीबोगरीब लोगों, जादुई स्मृतियों और भू-दृश्यों और इसी तरह के अन्य विचित्र अनुभवों से जुड़ा रहा है। और अब यह धीरे-धीरे ग़ायब हो रहा है; एक तरह से पूरब एक संयोग के रूप में घटित हुआ था और अब इसका समय समाप्त हो चुका था। शायद इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था कि इस प्रक्रिया में पूरब में रहने वालों का भी कुछ दौंव पर लगा हुआ था कि शातोब्रिया और नरवाल के समय में भी पूरब के लोग यहाँ रहते थे। और अब यही लोग रहते थे और अब यही लोग यातना भोग रहे थे। यूरोपीय सैलानी के लिये पूरब का यूरोपीय कल्पना चित्र और इसकी समकालीन नियति ही ख़ास चीज़ थी और उस फ्रेंच पत्रकार और उसके पाठकों के लिए इन दोनों का एक विशेष जातीय अर्थ था।”²¹

‘ओरियंटलिज़्म’ में सईद ने यह भी दिखाने की कोशिश की है कि पश्चिमी मीडिया तथा अध्ययन-केंद्रों में पूरब, विशेषकर अरब-इस्लाम तथा मध्यपूर्व तथा अनेक आज़ाद राष्ट्रों से संबंधित रिपोर्टों में प्राच्यवाद आज भी जीवित है। उपनिवेशवादी व्यवस्था उपनिवेशों के मुक्त हो जाने के बाद ख़त्म नहीं होती, बल्कि अपना काम करती रहती है। सईद दिखलाना चाहते हैं कि उपनिवेशवादी प्रतिनिधिकरण (representation), विउपनिवेशीकरण के दौर के बाद भी जारी था और आज भी निरंतर सक्रिय है। सईद के अनुसार — “पूरब से जुड़े हुए अध्येता, शोधकर्ता अथवा लेखक फिर चाहे वह नृवैज्ञानिक समाजविज्ञानी, इतिहासकार अथवा भाषाविद् कुछ भी हों, अपने को प्राच्यविद् कहते हैं और अपने विषय को प्राच्यवाद।

यह सही है कि प्राच्य-अध्ययन और क्षेत्र-अध्ययन की तुलना में प्राच्यवाद का आज उतना चलन नहीं है और इसका कारण यह है कि यह शब्द बहुत ढीला-ढाला और अस्पष्ट है और साथ ही 19 वीं और 20 वीं सदी के उपनिवेशवाद की ज्यादतियों को भी संदर्भित करता है। फिर भी 'प्राच्य' को विषय बनाकर पुस्तकें भी लिखी जा रही हैं और गोष्ठियाँ और सम्मेलन भी हो रहे हैं। और इन सबमें मुख्य भूमिका प्राच्यविदों की ही होती है। यह बात अलग है कि ये प्राच्यविद् कभी पुराने और कभी नये चोले में हमारे सामने आते हैं। कहने का मतलब यह है कि प्राच्यवाद का पुराना रूप तो काफी बदल चुका है, लेकिन शैक्षणिक संस्थाओं में यह अपनी पुरानी मान्यताओं और सिद्धांतों के साथ आज भी ज़िंदा है।²²

उत्तर औपनिवेशिक चिंतन के विकास में 'कल्चर एण्ड इंपीरिलिज़्म' ('संस्कृति और साम्राज्यवाद') का भी महत्वपूर्ण योगदान है। एक प्रकार से यह प्राच्यवाद (Orientalism) का विस्तार है। वस्तुतः 'प्राच्यवाद' में सईद का चिंतन बहुत विस्तार से साम्राज्यवाद का विवेचन एवं विश्लेषण नहीं करता था। उसमें सईद केवल ऐतिहासिक-भौगोलिक साम्राज्यवाद के तथ्यों का विवेचन करते हैं। फिर 'प्राच्यवाद' की कुछ अपनी सीमाएँ भी थीं। एजाज़ अहमद ने तो इसे गंभीर ग़लतियों वाली पुस्तक (Deeply flawed book) कहा।²³ सईद 'संस्कृति एवं साम्राज्यवाद' में अपने चिंतन की व्याख्या करते हैं। 'प्राच्यवाद' में हुई खामियों को सुधारते हैं। उन्होंने 'प्राच्यवाद' में पश्चिम के राजनीतिक एवं व्यावसायिक साम्राज्यवाद का विवेचन किया तो 'संस्कृति एवं साम्राज्यवाद' में पश्चिमी उपनिवेशवादी प्रक्रिया में वैचारिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की बात की। सत्ता, ज्ञान, कल्पना और व्यवसाय आदि अनेक बाहरी और भीतरी सक्रिय कारणों का विश्लेषण किया। पश्चिमी और उसके साम्राज्यवादी सफलताओं के बीच के संबंधों का पड़ताल की, विशेषकर साहित्य और संस्कृति के संदर्भ में। साम्राज्यवादी धारणाएँ आज भी (पश्चिमी साहित्य एवं संस्कृति में भी तथा उपनिवेशित देशों की संस्कृति एवं साहित्य में भी) जीवित हैं।

इस पुस्तक में सईद साहित्य के माध्यम से असभ्यतामूलक पश्चिमी सिद्धांत के प्रोपेगेंडा को भ्रामक करार देते हैं। इसमें उन्होंने किप्लिंग, कोनराड, कार्लाइल से लेकर रस्किन जैसे पश्चिमी साहित्यकारों के उपन्यासों के माध्यम से पश्चिमी

साम्राज्यवाद में लिप्त विचारकों एवं साहित्यकारों का पुनर्पाठ किया है। एक उदाहरण – “इंग्लैण्ड को दुनिया पर शासन करना है, क्योंकि वह सर्वोत्तम है, इसे शक्ति का प्रयोग करना है, इसके साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्द्वी अयोग्य हैं, इसके उपनिवेशों का विस्तार होना है, उन्हें समृद्ध होना है और इससे जुड़े रहना है। रस्किन के उपदेशात्मक स्वर में सम्मोहन यह है कि वह जो कहते हैं उसमें न केवल उत्साहपूर्वक विश्वास करते हैं बल्कि ब्रिटेन के विश्व आधिपत्य के अपने राजनैतिक विचारों को अपने कलात्मक व नैतिक जीवन दर्शन से जोड़ते भी हैं। जहाँ तक वे भावप्रवणता के साथ एक में विश्वास करते हैं, दूसरे में भी वह उसी भावप्रवणता के साथ राजनैतिक व साम्राज्यवादी पहलू लपेटते हुए एवं एक मायने में कलात्मक व नैतिक पहलू की गारंटी देते हुए विश्वास करते हैं। क्योंकि इंग्लैण्ड को पूरे भूमण्डल का ‘सम्राट’ एक राजसत्ता वाला उप (द्वीप), पूरे विश्व के लिए प्रकाश का एक माध्यम होना है। अतः इसके युवकों को उपनिवेशवादी होना है, जिनका पहला उद्देश्य पृथ्वी और समुद्र पर इंग्लैण्ड की शक्ति का विस्तार करना है, क्योंकि इंग्लैण्ड को ऐसा करना चाहिए अन्यथा वह नष्ट हो जाएगा, इसकी कला और संस्कृति, रस्किन की दृष्टि में, बाध्यकारी रूप से साम्राज्यवाद पर निर्भर है।”²⁴

संक्षेप में, इस पुस्तक में सईद का यह संदेश छिपा है कि साम्राज्यवाद केवल एक ऐतिहासिक घटना भर नहीं है, यह अंतर्निर्भरता वाला विमर्श है जो देसी जनता तथा निरंतर साम्राज्यवादी विमर्शों के बीच चलता रहता है।

सईद के चिंतन की प्रासंगिकता बतलाते हुए डा० प्रणय कृष्ण कहते हैं— “सईद का वाङ्मय अनेक दृष्टियों से सिर्फ उत्तर औपनिवेशिक विमर्शों के लिए ही नहीं बल्कि आज के नव-साम्राज्यवाद के विरुद्ध तीसरी दुनिया के देशों में चलने वाले बहुविध संघर्षों के लिए अत्यंत प्रासंगिक है।”²⁵

होमी. के. भाभा

भाभा भी सईद की भाँति अस्सी के दशक के आरंभ में उत्तर औपनिवेशिक चिंतन के प्रमुख स्वर बन गये थे। उत्तर औपनिवेशिक सिद्धांत के भीतर भाभा के कुछ सिद्धांत तो बहुत ही विचारोत्तेजक थे। सईद ने जहाँ भौतिकवादी सैद्धांतिकी (materialist theoretical) को अपने चिंतन में प्रमुखता दी, वहीं भाभा ने मनोविश्लेषणवाद को। भाभा सिग्मंड फ्रायड, उत्तर संरचनावादी जैक्स लैकन और फ़ैनन से प्रभावित थे।

भाभा के सिद्धांतों में एम्बीवैलेंस (ambivalence) और मिमिक्री (mimicry) प्रमुख हैं। भाभा कहते हैं कि उपनिवेशवाद के अंतर्गत अनेक धारणाओं की श्रृंखला होती है, जिनसे औपनिवेशिक साम्राज्यवादी प्रकार्य करता है। इनसे ही नियंत्रित एवं संचालित होता है। उपनिवेशवाद का लक्ष्य इन धारणाओं को वैध तथा तर्कसंगत ठहराते हुए अपने उपनिवेशित विषय पर थोप देता है। भाभा के अनुसार— “उपनिवेशवादी विमर्श का लक्ष्य उपनिवेशित को नस्लवादी मूल के आधार पर पतित समाज कहकर मानसिक तौर कमजोर तथा हीनभावना से ग्रस्त कर देना है, ताकि वे अपने शासन के अधिकार, अपनी शोषक छद्म नीतियों को जायज़ ठहरा सकें।”²⁶ किंतु यह लक्ष्य कभी पूरा नहीं होता। औपनिवेशिक विमर्श योजना के मुताबिक काम नहीं कर पाते, क्योंकि ये हमेशा एक ही समय दो विरोधी दिशाओं में चलते हैं। एक तरफ़ तो औपनिवेशिक तंत्र में पश्चिम के लिए उपनिवेशित राष्ट्र ‘अन्य’ होते हैं। वस्तुतः अनिवार्यतः जो कुछ भी पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता से बाहर का है वह अन्य (other) है। दूसरी तरफ़ यह भी प्रयास रहता है कि उपनिवेशित राष्ट्र को अपना बना लिया जाए तथा उनके मौलिक अन्यपन (Radical otherness) को समाप्त कर दिया जाए। और एक तरफ़ तो औपनिवेशिक विचारक पूर्व/प्राच्य के लोगों को विचित्र मानते थे, उनके स्वभाव को अनोखा और सनकी मानते थे किंतु दूसरी तरफ़ यही उनके उत्सुकता तथा जिज्ञासा का कारण भी था।

उपनिवेशकर्ता और उपनिवेशित के बीच की दूरी कम हो जाती है— जब उपनिवेशित राष्ट्र को पश्चिमी ज्ञान की सीमा में लाया जाता है, उनके विचित्र एवं सनकीपन का अध्ययन किया जाता है। परंतु औपनिवेशिक तंत्र की रूढ़िबद्ध सोच (Stereotype thinking) उस ‘अन्यपन’ (Otherness) की दूरी भी बनाये रखना चाहता है। उपनिवेशकर्ता कभी भी यह मानने को तैयार नहीं होता कि उपनिवेशित (अन्य) भी उन्हीं के जैसे हैं। दरअसल इससे उनकी अपनी उपनिवेशवादी वैधता पर प्रश्नचिह्न लग जाएगा।

सईद का मानना था कि पश्चिम ने पूरब (प्राच्य) की छवि अपनी फैंटेसी, आकांक्षा (Desire) और कल्पना के आधार पर गढ़ी है। भाभा कहते हैं कि पश्चिम फैंटेसी और कल्पना की एक भयानक छवि निर्मित करता है — “जंगली, नरभक्षी, वासनामयी और अराजकता की भयानक रूढ़िबद्ध छवियाँ निर्मित की गयीं।”²⁷

भाभा का मानना है कि औपनिवेशिक धारणाएँ हमेशा गतिमान रहीं। वे सदैव दो विरोधी ध्रुवों—समानता और असमानता के बीच सरकती रहीं। पश्चिम की इस विरोधाभासी स्थिति के कारण उपनिवेशित के विषय में अन्यपन की संरचना वाला उनका घिसा-पिटा पद नष्ट होने लगा। भाभा कहते हैं — “उपनिवेशवादी विमर्श उपनिवेशित को एक सामाजिक सत्य के रूप में प्रस्तुत करता है जो एक तरफ तो ‘अन्य’ ही बने रहते हैं, दूसरी ओर पूरी तरह से समझने और देखने योग्य होते हैं।”²⁸

साधारण शब्दों में कहे तो उपनिवेशकर्ता सदैव अपने उपनिवेशित को अन्य की नज़र से ही देखते हैं, किंतु उनके ज्ञान एवं विचित्र व्यवहार से प्रभावित भी रहते हैं जिनका वे स्वयं अध्ययन करते हैं।

अपने निबंध में भाभा अपने ‘ऐम्बीवैलेंस’ वाले विचार को ही और अधिक व्याख्यायित करते हैं। भाभा का मानना है कि उपनिवेशित किस प्रकार से मिमिक्री यानी नकल के द्वारा ही उपनिवेशकर्ता सत्ता के लिए एक चुनौती बन जाता है। भाभा ‘नकल को मुश्किल से समझ में आने वाली तथा प्रभावशाली प्रक्रिया के रूप में देखते हैं।’²⁹

औपनिवेशिक तंत्र अपनी शक्ति और ज्ञान के प्रदर्शन के लिए उपनिवेशित राष्ट्र को शिकार बनाते हैं। जैसे भारत में ब्रिटिश प्रशासन को ऐसे देसी लोगों की आवश्यकता थी, जो उनके विचारों के समर्थन में उनके लिए काम कर सकें। ऐसे लोगों को अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा दी गयी। मैकाले ने 1935 में यह तर्क दिया था कि ब्रिटेन को भारत में एक ऐसे वर्ग की ज़रूरत है जो अंग्रेज़ी विचारधारा का समर्थक हो। अंग्रेज़ी नैतिकताओं तथा मूल्यों को श्रेष्ठ समझे। अंग्रेज़ी ज्ञान का प्रसारक हो। इस प्रकार उन्होंने एक बुद्धिजीवी वर्ग तैयार किया, जो उनकी योजना के मुताबिक था। किंतु थोड़े दिनों में ही उनकी योजना ने प्रतिकूल प्रभाव दिखाना आरंभ कर दिया। देसी बुद्धिजीवी वर्ग ने आरंभ में तो पश्चिमी प्रभाव को आत्मसात किया, किंतु जब उसमें अपनी सांस्कृतिक चेतना की टकराहट विदेशी शोषक एवं छद्म नीतियों से हुई तो उन्होंने लेखकों एवं शिक्षित वर्ग ने पश्चिमी मूल्यों एवं नीतियों का विरोध करना आरंभ किया और फिर यही वर्ग औपनिवेशिक सत्ता की नीतियों और मूल्यों के लिए खतरा बन गये।

इस 'मिमिक मेन' (mimic men) ने अपने को हीन या दबू न मानकर स्वयं को खुदमुख्तार घोषित कर दिया। इसने औपनिवेशिक सत्ता की भयानक रूढ़िबद्ध फैंटेसी एवं छवियों को ग़लत साबित करना आरंभ कर दिया। उपनिवेशित राज्य के लोगों की ज़बान से अपनी भाषा तथा अपनी भ्रामक, कुटिल नीतियों की कटु आलोचना सुनकर औपनिवेशिक तंत्र सकते में आ गया। उसकी 'अन्यपन' की धारणा को भारी क्षति पहुँची। अब उपनिवेशक और उपनिवेशित के बीच का अंतर कम हो गया। उपनिवेशक ने प्राच्यवादी ज्ञान की जो काल्पनिक संरचना निर्मित की थी, वह टूटने लगी। भाभा ने उपनिवेशक और उपनिवेशित प्रतिलिपि या नकलची व्यक्ति के बीच के संबंध को— बहुत हद तक एक समान किन्तु बिल्कुल समान नहीं— माना।³⁰ भारत के हिंदीभाषी संदर्भ में यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु और उनकी मंडली ने अंग्रेजी शिक्षा का उपयोग अंग्रेजों की ही प्रणाली पर प्रहार करने तथा उसका मज़ाक बनाने में किया। प्रणय कृष्ण लिखते हैं— "औपनिवेशिक दौर में प्रहसन और व्यंग्यात्मक निबंध — भाषा—शिल्प, विधा और अंतर्वस्तु के स्तर पर 'मिमिक्री' के 'माकरी' में रूपान्तरित होने के बेहतर उदाहरण हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के 'अंधेर नगरी' नाटक और बालमुकुंद गुप्त के 'शिवशंभु के चिह्ने' में इस मुक्ति का आभास पाया जा सकता है।"³¹

गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक

1976 में स्पीवाक की पुस्तक 'द ला ग्रामोलोजी' का अंग्रेजी अनुवाद 'आफ़ ग्रामटोलोजी' प्रकाशित हुई, जो जैक्स देरिदा की पुस्तक 'द ला ग्रामोलोजी' का अंग्रेजी अनुवाद है। इस अनुवाद के बाद से स्पीवाक एक ऐसी मौलिक उत्तर औपनिवेशिक आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हुई, जिन्होंने साम्राज्यवाद के विखंडनवादी पाठों और विउनिवेशीकरण के लिए किये गए संघर्षों पर बल दिया तथा मार्क्सवाद, स्त्री संबंधी आधारवाक्यों पर प्रश्नचिह्न लगाया। स्पीवाक ने देरिदा के विखंडनवादी विचार को व्यापक बनाने का जिम्मा लिया। साहित्यिक आलोचना को घेरकर यूरोपीय ज्ञानोदय के दर्शन, श्रम और पूँजी जैसी आर्थिक समस्याओं पर भी अचानक सवाल खड़े कर देना— स्पीवाक के इस प्रकार के विस्फोटक चिंतन ने उत्तर औपनिवेशिक चिंतन—जगत को हतप्रभ कर दिया। उन्होंने उत्तर औपनिवेशिक चिंतकों की उस भूमिका पर सवाल उठाए, जिसके तहत सामाजिक संचरना पर उठने वाले प्रश्नों को नज़रअंदाज़ किया गया था।

स्पीवाक का सबसे प्रसिद्ध लेख है—‘कैन सबाल्टर्न स्पीक?’ (Can subaltern speak?)— ‘क्या सबाल्टर्न (दमित) बोल सकते हैं?’। यह लेख सबसे पहले केरी नेल्सन और लारेंस ग्रासबर्ग की ‘मार्क्सवाद और सांस्कृतिक अवरधारणा’ में प्रकाशित हुआ था। यह निबंध स्पीवाक के चिंतन के सर्वश्रेष्ठ को दर्शाता है। इसमें स्पीवाक ने उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन को व्यंग्यपूर्ण ढंग से नवउपनिवेशवाद की मुख्य नीतियों, राजनीतिक संप्रभुता, आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक विनाश का ही पूर्वाभ्यास कहा है। दूसरे शब्दों में यह कि क्या औपनिवेशिक चिंतक अनचाहे ही साम्राज्यवाद की नीतियों का ही पोषण नहीं कर रहा है? और कहीं उन्हें ही अंजाम तो नहीं दे रहा है? क्या उत्तर औपनिवेशिकता, विशेषतः प्रथम विश्व का चिंतन, विशेष सुविधाप्राप्त संस्थाबद्ध विमर्श नहीं है? जो औपनिवेशिक—प्राच्यवादी दृष्टिकोण से ही आज भी अनजाने ही मूल्यांकन और वर्गीकरण कर रहा है?

स्पीवाक के लिए सबाल्टर्न (दमित) विद्रोह एक महत्वपूर्ण राजनीतिक योजना का हिस्सा है, जो आभिजात्य इतिहास की भ्रामक छवि का विरोध करता है। इसलिए उन्होंने रणजीत गुहा की अगुवाई में निकले ‘कैन सबाल्टर्न स्पीक’ योजना की प्रशंसा भी की, उसे प्रोत्साहित भी किया। साथ ही बहुत सचेत रहने की सलाह भी दी कि कहीं वे उपनिवेशवादी पाठ—विमर्शों में फँस न जाए। उन्होंने आलोचकों को औपनिवेशिक पाठ—प्रक्रिया से दमित चेतना को पुनर्प्राप्त करते समय, सदैव सचेत रहने की सलाह दी। सबाल्टर्न विद्रोह के प्रतिनिधित्व को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता कि यही दमित चेतना का असली प्रवाहक है। जैसे पश्चिमी विमर्श में स्त्री—चेतना को काल्पनिक माना गया, उसी प्रकार दमित चेतना को भी काल्पनिक माना गया। स्पीवाक ने देरिदा के शब्द ‘विखंडन’ को सही अर्थ में ग्रहण करने की सलाह दी। विखंडन किसी सत्य, यथार्थ या इतिहास का खंडन नहीं करता, बल्कि किसी भी सत्य, यथार्थ या इतिहास आदि को अंतिम रूप से मान लेने का विखंडन करता है। वे कहती हैं— “विखंडन यह नहीं कहता कि कोई कर्त्ता नहीं होता, कोई सत्य नहीं होता, कोई इतिहास नहीं होता, वह महज किसी अस्मिता को सत्य का विशेषाधिकार दिये जाने को प्रश्नांकित करता है।”³² इसलिए स्पीवाक का मनना था कि ‘दमित’ अपने आप में कैसा है, उसके अनुभव सत्य क्या हैं— इसे

विचारों के प्रवक्ता सुविधासंपन्न नहीं समझ सकते। 'दमित' की अभिव्यक्ति यदि उनके ही समुदाय का कोई प्रवक्ता करता है, तो वह दमित नहीं रह जाता। स्पीवाक के लिए इस अर्थ में दमित का अर्थ है— जो अपनी आवाज़ स्वयं नहीं उठा सकता। पश्चिमी बुद्धिजीवियों पर निर्भर रहना कि वे दमित लोगों, व्यक्तियों के बारे में कुछ कहें, इसके बनिस्बत यह होना चाहिए कि वे स्वयं अपने विषय तथा अपनी स्थितियों को व्यक्त कर सकें।

'दमित अध्ययन' में स्त्रियों की दशा कितनी खराब होगी, इसके विषय में स्पीवाक ने कहा कि— "औपनिवेशिक इतिहास—लेखन तथा विद्रोही तत्त्व को देखते हुए लिंग की विचारधारात्मक संरचना ने पुरुष वर्चस्व को बनाए रखा। यदि औपनिवेशिक उत्पादन के रूप में देखा जाए तो दमित का कोई इतिहास नहीं, वह बोल नहीं सकता, एक दमित के रूप में स्त्री की हालत इससे भी बुरी होगी।"³³

किंतु 'द स्पीवाक रीडर' में दिये इंटरव्यू में उन्होंने 'Speak' (बोलना) शब्द को ग़लत ढंग से समझ लिये जाने पर इसकी ओर संकेत किया कि दलित स्त्री की चुप्पी से उनका मतलब यह नहीं कि वह शाब्दिक या उच्चारणिक आधार पर बोल नहीं सकती, बल्कि अपनी बात को रख नहीं पाती। सुनने वाले तथा सुनाने वाले के बीच जो संप्रेषण की कला उसे आनी चाहिए थी, उसे नहीं आती। इसलिए उनके द्वारा कही बातों को ग़लत ढंग से लिया गया एवं उन्हें रूढ़िगत एवं फार्मूलाबद्ध प्रक्रिया से ही समझा गया, जिससे इन दलित स्त्रियों की अपनी प्रतिभा को ठीक एवं उचित ढंग से नहीं समझा गया।³⁴

एजाज़ अहमद

अपनी पुस्तक 'इन थियरी' में एजाज़ अहमद ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरोध में चलाये जा रहे सिद्धांत तथा सिद्धांतकार की भूमिका का विश्लेषण किया है। उन्होंने उन सिद्धांतकारों की आलोचना की जो उत्तर आधुनिकता तथा उत्तर संरचनावाद जैसी अवधारणाओं पर बात करते हैं, जबकि तथ्य यह है कि जबसे उत्तर औपनिवेशिकता के इन स्रोतों की खोज हुई है, इसकी पूर्ण व्याख्या नहीं हो पायी है।

इसमें उन्होंने साम्राज्य, उपनिवेश, राष्ट्र, देशांतरण, उत्तर-औपनिवेशिकता आदि प्रश्नों को केंद्रित कर विकसित किए गए साहित्य-सिद्धांतों पर ही अपनी आलोचना को केंद्रित किया। उन्होंने 1960 के बाद विकसित तीसरी दुनिया की राष्ट्रवाद जैसी कोटियों के उत्तर सरंचनावादी विखंडना तक की सैद्धांतिकी को मार्क्सवादी दृष्टि से प्रश्नांकित किया— “मेरा मुराद मुख्यतः साहित्यिक सिद्धांत के उन क्षेत्रों से है, जिन्होंने उपनिवेश एवं साम्राज्य का मुद्दा उठाया, अपरिहार्य रूप से राष्ट्र तथा राष्ट्रवाद तथा तीसरी दुनिया जैसे मुद्दों पर भी बात की गयी है। यह पुस्तक न्यूनतम रूप से उन विभाजनों की व्याख्या तथा प्रतिपादन करती है, साथ-ही-साथ उन विभाजनों को पूर्व राजनीतिक-ऐतिहासिक संदर्भ में परखती है, जहाँ साहित्यिक सिद्धांतों को बिना समझे अव्यवस्थित तरीके से व्याख्यायित किया गया।”³⁵

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी साम्राज्यवाद के प्रतिरोध में राष्ट्रीयता एक प्रमुख हथियार बनी। यह भारतीय उपमहाद्वीप से लेकर अफ्रीका लातीनी अमेरिका और पैसिफिक रिम तक व्यापक था। इस समय यूरोपीय औपनिवेशिक दासता से मुक्त हुये देशों ने अपना एक संगठन खड़ा किया। ये राष्ट्र न तो पूँजीवादी ‘पहली दुनिया’ से हाथ मिलाना चाहते थे, न ही समाजवादी दूसरी दुनिया से। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तीसरी दुनिया का साहित्य उभरा, यह एक ऐसी श्रेणी थी जिसने स्वयं अपने लेखकों एवं चिंतकों की एक जमात पैदा की, विशेषकर तीसरी दुनिया के अपने मातृभूमि/राष्ट्रों में, कुछ पश्चिमी महानगरों में।

एजाज़ अहमद ने औपनिवेशिक विमर्श तथा उत्तर औपनिवेशिक विमर्श की मुख्य सैद्धांतिक व्याख्याओं की आलोचना की। उन्होंने तीसरी दुनिया के साहित्य एवं उनकी संस्कृति को एकरूप तथा एकसूत्र में बाँधने के लिए उभरते हुए नज़रिये का विरोध किया है, क्योंकि इससे स्वयं औपनिवेशिकता की बू आती है। उन्होंने सैकड़ों देशों की हज़ारों भाषाओं एवं बोलियों के साहित्य को एक ही आलोचनात्मक कसौटी पर कसने का विरोध किया। एजाज़ अहमद ने फ्रेडरिक जेम्सन की तीसरी दुनिया के राष्ट्रवाद की धारणा पर आधारित तीसरी दुनिया के साहित्य को राष्ट्रीय रूपक के बतौर पढ़े जाने की प्रस्तावना³⁶ की आलोचना के साथ-साथ एडवर्ड सईद के

सैद्धांतिक अंतर्विरोध तथा उनकी खामियों की ओर भी इशारा किया है। साथ ही सबाल्टर्न स्टडीज़ के देशांतरित बुद्धिजीवी के छद्म का भी विरोध किया। इस प्रकार, संक्षेप में, एजाज़ अहमद ने भारतीय साहित्य, तीसरी दुनिया और महानगरीय बुद्धिजीवियों के दायरे में चल रहे तथाकथित औपनिवेशिक विमर्श की सैद्धांतिकी तथा अवधारणा का अद्वितीय विश्लेषण किया है।

उत्तर औपनिवेशिक साहित्य

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोपीय साम्राज्यवाद, विशेषतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शक्ति बहुत कम हो गयी थी। इस युद्ध में उसको आर्थिक रूप से बहुत अधिक नुकसान हुआ। उसे अब अपने उपनिवेशों पर नियंत्रण रखने में अत्यंत कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। साथ-ही-साथ पूरे विश्व में उस समय एक जनउभार/जनांदोलन देखने को मिल रहा था। उपनिवेशित जनता सदियों की परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़ने को बेताब हो रही थी। औपनिवेशिक चिंतन तथा साहित्य के नज़रिये से दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं— एक तो यह कि उस युद्ध के पश्चात् ब्रिटेन ने हज़ारों की तादाद में मज़दूर तथा कामगार वेस्टइंडीज़, भारतीय उपमहाद्वीप तथा अफ्रीकी महाद्वीप से मंगाये। जैसा ऊपर संकेत कर आये हैं कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का आर्थिक ढाँचा लड़खड़ा गया था, अतः अपने राष्ट्रीय आर्थिक ढाँचे तथा यातायात व्यवस्था आदि को बनाये रखने के लिए मज़दूरों को मंगाया गया। बहुत से लोगों को इस्पात तथा टैक्सटाइल के कारखानों में लगाया गया। इन मज़दूरों एवं कामगारों के बच्चे नस्लीय भेदभाव की पीड़ा को सहते हुए अब उनके ही स्कूलों में पढ़ने लगे। बाद में कुछ अध्यापक हो गये तथा साहित्य—जगत में चर्चित हो गये। तब ऐसे अध्यापक/साहित्यकारों ने छात्रों के साथ मिलकर भारतीय अध्ययन, अफ्रीकी अध्ययन तथा कैरीबीयाई अध्ययन को प्रोत्साहन देना आरंभ कर दिया। यहीं से उत्तर औपनिवेशिक साहित्य का जन्म होता है।

इसी दौरान ब्रिटेन में 'कॉमनवेल्थ ऑफ नेशंस' (कॉमनवेल्थ लिटरेरी स्टडीज़) की स्थापना हुयी। इसमें उपनिवेशित देशों के अंग्रेज़ी साहित्य का चिंतन एवं अध्ययन किया जाने लगा। किंतु इसमें केवल अंग्रेज़ी भाषा में लिखे साहित्य को सम्मिलित करना इसकी असफलता थी। इसमें अन्य भाषा के साहित्य को कोई

महत्त्व न देना तथा साम्राज्यवादी देशों के अंग्रेजी साहित्य को शामिल न करना, यह बतलाता है कि इसका गठन औपनिवेशिक मानसिकता से ही किया गया था। वस्तुतः ब्रिटेन में तथा उसकी ही संतति अमेरिका में इन देशों के साहित्य एवं लेखकों को क्षेत्रीय मानसिकता के साथ पढ़ाया जाता था, जैसे अफ्रीकन स्टडीज़, एशिया स्टडीज़ तथा अमेरिका में ब्लैक स्टडीज़ या तीसरी दुनिया का साहित्य आदि—आदि। न केवल इन लेखकों एवं साहित्य को इस हीनदृष्टि से देखा जाता था, बल्कि वहाँ रहने वाले बुद्धिजीवियों एवं इन महाद्वीपों की जनता के साथ भी जबरदस्त भेदभाव किया जाता था। उनको मौलिक अधिकारों से भी वंचित किया गया। उन्हें बहुत ही न्यूनतम तनख्वाह वाली नौकरियाँ दी गयीं। उन्हें सिविल अधिकारों से दूर रखा गया। तब ऐसे व्यक्तियों ने प्रतिरोध किया ताकि नस्ल तथा रंगभेद के आधार पर भेदभाव बंद किया जाए। भेदभाव से पीड़ित लोग एक जगह लामबंद हो गये। विशेषकर यूनाइटेड स्टेट्स में कैरेबीयाई तथा एशियाई मूल के लोगों का गठन हो गया। फिर इन्होंने अपने-अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ी। खुलकर अपनी बात करने लगे। सदियों से पीड़ित लोगों ने अपने अनुभव को बाँटना आरंभ कर दिया। अतः ब्रिटेन तथा अमेरिका में अफ्रीका, कैरेबीयाई तथा भारतीय उपमहाद्वीप एवं फिलिस्तीन के लेखक एवं उनके चिंतन को जगह मिलने लगी। इन विद्वानों ने यूरोप के प्रभावशाली बुद्धिजीवियों और दार्शनिकों को महत्त्व देना शुरू किया, जिनमें प्रमुख थे— थियोडोर अर्जोना, जैक्स देरिदा, सार्त्र, कामू, जैक्स लैकन, फूको आदि। इन बुद्धिजीवियों का चिंतन उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी के विकास में बहुत मायने रखता है। इस प्रकार पिछली आधी शताब्दी से उत्तर औपनिवेशिक साहित्य और उसके अध्ययन ने विश्वभर के ज़्यादा-से-ज्यादा पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। चिनुआ अचेबे, वॉल सोइनका (नाइजीरिया), सलमान रश्दी, अरुंधती रॉय, अनीता देसाई आदि (भारत), डेरेक वाल्काट (कैरेबीया), सीमंस हाइने (आयरलैंड), मार्गरेट एटवुड तथा मेशेल ओनंडा जे (कनाडा), नडीन गार्डिनियर (दक्षिण अफ्रीका) नगूगी वा थ्योंग (केन्या)— से कुछ ऐसे उत्तर औपनिवेशिक साहित्यकार हैं, जिनका काम विश्वभर की अनेक अध्ययन संस्थाओं के पाठ्यक्रम में लगा हुआ है। उनके काम से उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिक की विभिन्नता—व्यापकता, उसके स्वभाव—दर्शन, इतिहास आदि की महत्वपूर्ण समझ बनती है।

दूसरी महत्वपूर्ण घटना थी—उस समय उठ रहे जनांदोलनों में लेखकों एवं साहित्यकारों की सक्रिय भूमिका। ये लेखक एवं साहित्यकार राजनीतिक आंदोलनकारी भी थे। महत्वपूर्ण बात यह कि अब सदियों से गुलामी झेल रहे देश के लेखक अपने लिए बोलने लगे। वे अपनी कहानियाँ सुनाने लगे। इन कहानियों में औपनिवेशिक दर्द और उसके शोषण की भी दास्तान शामिल थी। उन्होंने साम्राज्यवादी नीतियों के दुष्प्रक्र को उद्घाटित कर दिया। और यह सब उन्होंने अपने लेखन और साहित्य के माध्यम से किया। लातीन अमेरिकी साहित्य भी इससे अछूता न रहा। लातीन अमेरिकी साहित्य में तो उपनिवेश से मुक्ति की छटपटाहट 19 वीं सदी के अंत से ही देखी जा सकती है।

लातीन अमेरिकी साहित्य और उत्तर औपनिवेशिक चेतना

लातीन अमेरिकी साहित्य में 19 वीं सदी के अंत तक आते-आते एक काव्य आंदोलन 'मार्डनिस्मो' का उदय हुआ और इसकी शुरुआत 1888 में 'अजुल' नामक पुस्तक से हुई, जिसके लेखक निकारागुआ के रुबेन डारियो थे। इस आंदोलन में सांस्कृतिक अस्मिताओं की एकता की बात पर बल दिया गया। बाद में 'इन्डे जेनिस्मो' उठ खड़ा हुआ जिसमें देसी संस्कृति का प्रस्तुतिकरण तथा उन पर होने वाले अत्याचारों एवं अन्याय का भी चित्रण किया गया। इसमें पेरू के जोस मारिया आरगुदास तथा मेक्सिको के रोजरियो कास्टेलैनस प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त पेरू के मैनुअल गांजालिस परादा तथा जोस कार्लोस मारंटमुई ने भी तत्कालीन सामाजिक अवस्था की आलोचना की तथा लातीनी अमेरिकी की देसी जनता की दुर्दशा का चित्रण किया।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लातीन अमेरिकी साहित्य में प्रेम तथा राजनीतिक प्रतिबद्धता वाली कविताएँ लिखी गयीं। इस प्रकार की कविता के प्रवर्तक के रूप में चीली के महान साहित्यकार पाब्लो नेरुदा हैं। इनके बाद निकारागुआ के एर्नेस्टो कारडेनल तथा सल्वाडोर के रोक डाल्टन ने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाया। फिर गैबिसल मिस्त्राल तथा आक्टोवियो पॉज़ भी प्रमुख चिंतक-आलोचक एवं निबंधकार के रूप में उभरे। ओक्टोवियो पॉज़ का 'द लेबीरिथ ऑफ़ सालीट्यूड' तो मेक्सिको संस्कृति का जीवंत दस्तावेज है। इसके बाद लातीन अमेरिकी साहित्य में जबरदस्त उभार आय और देखते-देखते वह पूरे विश्व-परिदृश्य पर अंकित हो गया। इसे 'बूम' का नाम दिया गया।

बूम

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लातीन अमेरिका में संपन्नता आयी। आर्थिक स्थिति सुधरी। इससे उनमें एक नये विश्वास का जन्म हुआ। इस विश्वास ने साहित्य को भी एक नयी दिशा दी। इस दिशा को बूम की संज्ञा दी गयी। 1960 से 70 के दरम्यान 'बूम' की मुख्य पुस्तकें तथा साहित्य प्रकाशित होकर आ चुका था। अगर साधारण तरीके से देखा जाए तो इनमें से अधिकतर उपन्यास थे। इन उपन्यासों में एक विद्रोही तेवर भी था। लेखकों ने परंपरागत दीवारों, रूढ़ियों मान्यताओं एवं बंधनों को नकार दिया। उन्होंने भाषा के साथ नये-नये प्रयोग किये। नई-नई शैलियों को जन्म दिया। कई शैलियों के मिश्रण से एक नयी शैली में साहित्य की रचना की। इससे साहित्य का उपनिवेशवादी ढाँचा परिवर्तित हो गया। यहाँ के लेखक तथा चिंतक उत्तरी अमेरिका तथा यूरोपीय लेखकों से प्रभावित थे, जिन्होंने उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध किया था। इनमें विलियम फॉकनर, जेम्स जॉयस तथा वर्जीनिया वुल्फ़ आदि का नाम लिया जा सकता है। यही नहीं, लातीनी अमेरिकी साहित्यकारों ने स्वयं एक-दूसरे को भी प्रभावित किया।

इस साहित्यिक बूम ने लातीन अमेरिकी साहित्य को वैश्विक परिदृश्य पर अंकित कर दिया, पर पहचान जूलियो कार्टाजार के साहसिक एवं प्रयोगात्मक उपन्यास रामूला (1965) से मिली। यह उपन्यास स्पेनिश में छपा तथा अंग्रेज़ी में शीघ्र ही अनुदित हो गया। 1966 से 1968 के बीच ऐमीर रोडरिज मानेगल ने अपना प्रभावशाली अमेरिकी साहित्य-मासिक 'मुन्डो नूइबो' प्रकाशित किया। इस मासिक पत्रिका में उन्होंने उस समय तक अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित किया, जिसने आगे चलकर विश्व के साहित्यिक परिदृश्य पर अपना प्रभाव छोड़ा। इस संदर्भ में जैसे गुलेरमो कैबरेरा इन्फोटे तथा सेवरो सर्डे के उपन्यासों के अलावा गैर्बीयल गार्सिया मार्खेज के उपन्यास —'सीन अनोस डी सोलेडाड' (वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सालिट्यूड) के दो अध्याय भी उल्लेखनीय हैं। बाद में मार्खेज का यह उपन्यास इस साहित्यिक बूम का मुख्य स्वर बना। बूम का उत्कर्ष आगस्तो रोवा बास्टोस के कालजयी भी 'यो, एल सुपरेमो' (1974) में देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त इसमें जूलियो कार्टजर, बोरगस तथा कार्लोस फ्यूनटस आदि हैं।

इस समय के उपन्यास आधुनिकता बोध लिए हुए हैं। लातीन अमेरीकी उपन्यास समय को अरेखीय मानता है। साहित्य को प्रायः एक से अधिक दृष्टिकोण से देखता है। साहित्य की नयी व्याख्या करता है। नये शब्द निर्मित करता है। भाषाई स्तर पर ये खुदमुख्यतः था। इसने देसी भाषाओं का प्रयोग बिना किसी हिचकिचाहट या बिना किसी हीन भावना से किया, अपनी देसी भाषाओं पर गर्व किया। इन लातीन अमेरीकी साहित्यकारों ने एक तरफ़ देसी तत्त्वों तथा शहरी अंतर्राष्ट्रीयता का मिश्रण किया तो दूसरी तरफ़ ऐतिहासिक तथा राजनीतिक दोनों तरह के प्रश्नों को उठाया। राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न भी उठाया गया।

बूम साहित्य ने फंतासी और यथार्थ की सीमाओं को तोड़कर उन्हें एकमेक कर दिया तथा साहित्य में एक नये यथार्थ को जन्म दिया जिसे जादुई यथार्थ कहते हैं। इस शैली को ख्याति दिलाने वाले साहित्यकार गैब्रीयल गार्सिया मार्खेज हैं। इस शैली में यथार्थ और फंतासी का मिश्रण इस प्रकार होता है कि कभी फंतासी ही यथार्थ बन जाती है तो कभी यथार्थ फंतासी की तरह सामने आता है। कथावस्तु साधारणतः यथार्थवादी होती है। वह भोगा हुआ यथार्थ होती है, किंतु इस भोगे यथार्थ में वैचित्र्य, फंतासी, ऐतिहासिक तत्त्व, मिथकीय चरित्र, अनगढ़ता, दोहरे व्यक्तित्व लिये हुये पात्र आदि का एक स्थान पर मिश्रण है। इन्हें कुछ इस तरह से मिलाया गया कि अलग करना असंभव हो गया। ऐसी शैली का प्रयोग प्रायः इतिहास को वर्तमान संदर्भों से जोड़कर देखने के लिए भी किया जाता है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं तथा पात्रों को कुछ इस प्रकार से व्याख्यायित किया जाता है कि वे वर्तमान परिस्थितियों में प्रासंगिक हो उठते हैं। रोवा बास्टोस का 'आई द सुप्रीम' एक ऐसा ही उपन्यास है, जिसमें 19 वीं सदी के पैराग्वे के तानाशाह जोस गैस्पार रोडरिज डी फ्रांसिया का चित्रण है, किंतु यह तब प्रकाशित हुआ, जब एक अन्य तानाशाह अल्फर्डो स्ट्रोस्ना का राज्य था। उपर्युक्त साहित्यकारों ने सांस्कृतिक तथा राजनीतिक बहसों में सक्रिय हिस्सेदारी के बाद इतिहास की सार्थकता तथा उसकी प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया।

किंतु बूम साहित्य की भी कुछ ख़ामियां नज़र आने लगीं। यह बाद में सिर्फ़ जादुई यथार्थ के ढाँचे में ही फँसकर रहकर गया तथा इसमें कोई भी महिला लेखिका न थी। फिर भी बूम साहित्य ने अपने तरीके से उपनिवेशवाद का हर स्तर पर विरोध किया।

1980 के बाद उत्तर बूम लेखकों की चर्चा होने लगी। हालाँकि इनमें से अधिकतर बूम युग के अंत तक सक्रिय लेखन में आ चुके थे। उन लेखकों ने अपनी शुरुआत तो बूम युग में की, किंतु उनके लेखन का विकास उत्तर बूम युग में हुआ। जोस डोंसो, मैनुअल पिग, सेवेरो सर्डे, मारियो वार्गास ललोसा आदि उत्तर बूम युग के बड़े साहित्यकार हैं, जिनमें से कुछ—एक दोनों आंदोलनों से जुड़े थे। उत्तर बूम युग की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें महिला लेखिकाएँ जैसे इसाबेले अंदेले, लुसिया वैलेन जुएला तथा एलेना पांटोन्सका भी प्रमुखता से लिख रही थीं। उत्तर बूम साहित्यकारों ने बूम साहित्य के आभिजात्यवादी लेखन का विरोध किया तथा सरल भाषा तथा पठनीय शैली अपनायी जिससे आम जनता तक उनकी बात पहुँच सके।

अफ्रीकी साहित्य और उत्तर औपनिवेशिक चिंतन

अफ्रीका में उत्तर औपनिवेशिकता का आरंभ 1960 और 70 के दशक से होता है। इस समय तक बहुत से अफ्रीकी राष्ट्र अपने औपनिवेशिक शासन से राजनीतिक रूप से मुक्त हो चुके थे। औपनिवेशिक शासन के दौरान भी बहुत से लेखक लिख रहे थे। वे कलाकार एवं राजनीतिक आंदोलनकारी दोनों की भूमिका निभाते थे। उनका लेखन तत्कालीन राष्ट्रीय स्थितियों को यथार्थ ढंग से दर्शाता है। इसमें मुख्यतः सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों का विश्लेषण किया गया। सदियों की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक गुलामी से एक के बाद एक राष्ट्र मुक्त होने आरंभ हो गये। पूरा अफ्रीका आज़ादी के नशे में मानो डूब गया। उस समय लेखक—वर्ग आज़ादी की जद्दोजहद के बाद आज़ादी पा जाने के नशे में डूबा था और आज़ाद राष्ट्र में जनता के भविष्य के सपने सँजो रहा था। इसी चेतना को उनका साहित्य प्रतिबिंबित कर रहा था। जब देश आज़ाद हो गये तब भी स्थितियाँ पूर्ववत् बनी रहीं। राजनीतिक रूप से मुक्ति के बाद भी मानसिक रूप से औपनिवेशिकता से मुक्त न हो सके। अब स्थितियाँ और भी दारुण हो गयी। लंबे समय से पराधीन देशों को समाज तथा संस्कृति के पुनर्निर्माण में संघर्ष करना पड़ रहा था। वि-उपनिवेशीकरण से उपजी भयावह परिस्थितियों ने लेखकों को झकझोर कर रख दिया। तब लेखकों का क्रोध तथा क्षोभ उन नेताओं पर निकला, जिन्होंने गोरे शासकों की जगह हथिया ली थी। इसने अफ्रीकी बुद्धिजीवियों की सोच एवं साहित्यिक विकास को काफी हद तक परिवर्तित कर दिया। लेखकों ने नये-नये रूपों का सहारा किया तथा अपनी भावनाएँ व्यक्त करने लगे।

वस्तुतः औपनिवेशिक दौर में जब अफ्रीका में पश्चिमी भाषा का चलन बढ़ा तो अफ्रीकी लेखक इस भाषा में लिखने लगे। 1911 में जोसेफ़ एफ़्रेम केजली हेवर्ड (घाना) संभवतः ऐसे पहले अफ्रीकी लेखक थे जिन्होंने अंग्रेज़ी में उपन्यास रचा— “इथोपिया अनबाउंड : स्टडीज़ इन रेस इमेन्सीपेशन”। इसी दौर में अफ्रीकी नाटकों की भी रचना हुई। दक्षिण अफ्रीका के हरबर्ट इसाक एरनेस्ट दहलोमो का अंग्रेज़ी भाषा में लिखा गया पहला नाटक ‘द गर्ल्स हू किल्ड टू सेव : नांग के फूज द लिबरेटर’ 1935 में प्रकाशित हुआ। 1962 में न्गुगी वा थ्योंग’ओ का पहला नाटक प्रकाशित हुआ— ‘द ब्लैक हरमिट’। यह नाटक अफ्रीकी जनजातियों के बीच फैले भेदभाव को लेकर लिखा गया था।

प्रथम विश्वयुद्ध से लेकर आज़ादी प्राप्ति के बीच के दौर में अफ्रीकी साहित्य में आज़ादी और अस्मिता आदि मुख्य स्वर बन गये। यह औपनिवेशीकरण का आखिरी दौर था। साल्वाडोर के कवि लियोपोल्ड सेडार सेंगर (जो बाद में साल्वाडोर के राष्ट्रपति भी बने) ने 1948 में अफ्रीकियों द्वारा फ्रेंच भाषा में लिखी कविता को प्रकाशित कराया, जिसका प्राक्कथन औपनिवेशिक तंत्र के विरोधी प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक तथा अस्तित्ववादी विचारक ज्यॉ पाल सार्त्र ने लिखा।

बढ़ती हुई शिक्षा के कारण जनता में जागरूकता आ रही थी। 60–70 के दशक के बाद अफ्रीकी साहित्य की पहचान तथा उसकी समृद्धि इतनी बढ़ी कि वह पश्चिमी अकादमी संस्थाओं के केंद्र में आ गया। इस दौरान अफ्रीकी लेखकों ने अंग्रेज़ी, फ्रेंच, पुर्तगाली के साथ-साथ अपनी-अपनी देशी भाषाओं एवं बोलियों में भी साहित्य-लेखन लगातार किया। इस दौरान मुख्य विषय थे— अफ्रीका के अतीत और वर्तमान, व्यक्तित्ववाद तथा समष्टिवाद, विकास तथा आत्मनिर्भरता, समाजवाद तथा पूँजीवाद के बीच का द्वंद्व आदि। भ्रष्टाचार, आर्थिक असमानता, स्त्रियों के अधिकार तथा उनकी भूमिका को भी विषय बनाया गया।

अफ्रीकी उत्तर औपनिवेशिक साहित्य में उपन्यास ने बहुत महती भूमिका निभायी। औपनिवेशिक अधिनायकवाद तथा शक्ति के असमान संबंध के समीकरण को तोड़ने वाला हथियार उपन्यास ही था। औपनिवेशीकरण के तहत पूरी दुनिया को दो खानों में बाँटकर देखा-दिखाया जाता रहा था, जैसे ‘हमारा’ तथा ‘उनका’, ‘पहली दुनिया’ तथा ‘तीसरी दुनिया’, ‘श्वेत तथा अश्वेत’, ‘उपनिवेशिक तथा उपनिवेशित’ आदि।

उत्तर औपनिवेशिक उपन्यासकारों का मुख्य उद्देश्य अपनी जनता एवं देश के इतिहास को पुनर्जीवित करना था। वस्तुतः औपनिवेशिक प्रक्रिया के तहत उपनिवेशित देश के इतिहास में भारी मात्रा में हेर-फेर किया जाता है। इस तरह उनका अपना इतिहास नष्ट करके उपनिवेशक देश अपना गढ़ा हुआ इतिहास थोप देता है। तदनंतर थोपा गया इतिहास ही उपनिवेशित राष्ट्र की इतिहास-चेतना का निर्माण करता है। इसके परिणाम बहुत भयावह होते हैं। उपन्यास ऐसे में इस दुष्प्रभाव का मुकाबला करता है। उपन्यास का इस्तेमाल औपनिवेशिक साम्राज्यवादी नीति के विस्तार के लिए भी हुआ। औपनिवेशिक इतिहास-बोध से उत्पन्न बँटी दुनिया की सीमाओं को तोड़ने का काम उपन्यास करता है। इसका लक्ष्य 'सच क्या है?', इसे समझाना तथा सामने लाना है। इतिहास-लेखन केवल विश्लेषण करता है। उसमें जनता की अनुभूतियों एवं पराजित लोगों का वर्णन नहीं होता, यह काम साहित्य का है, उसमें भी मुख्यतः उपन्यास का। उपन्यास का फलक विस्तृत एवं व्यापक होता है। लगभग सभी अफ्रीकी उपन्यासकारों ने इतिहास का पुनर्निर्माण अत्यावश्यक और अपरिहार्य समझा। उन्होंने मुख्य कार्य यह किया कि सीधे-सीधे भूत और वर्तमान, विचार और क्रिया, स्व और पर तथा अफ्रीका और विश्व के बारे में ईमानदारी से लिखने लगे। अपने संबंधों को खुद के नज़रिये से व्याख्यायित करने लगे। इन अफ्रीकी उपन्यासकारों ने यूरोपीय उपन्यासकारों द्वारा वर्णित अफ्रीका की भ्रामक छवि को तोड़ने का प्रयास किया। जे.एम. कोयत्जी ने डेनियल डेफो के 'रॉबिन्सन क्रूसो' उपन्यास के प्रत्युत्तर में 'फो' उपन्यास लिखा। जॉयस केटी के 'मिस्टर जॉनसन' तथा कोनराड के 'हार्ट ऑफ़ डार्कनेस' का जवाब 'चिनुआ अचेबे ने 'थिंग्स फॉल अपार्ट' लिखकर दिया।

अचेबे के ही निबंध 'एन इमेज ऑफ़ अफ्रीका : रेसेज़ इन कोनराड्स हार्ट ऑफ़ डार्कनेस' (1974) से उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक आलोचना का आरंभ माना जाता है। इसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या किसी ऐसी कृति को महान कहा जा सकता है, जिसमें अफ्रीकी समुदाय को मनुष्य न मानकर जानवर की भाँति चित्रित किया गया है?

1986 में न्गुगी वा थ्योंगो का 'डिकोलोनाइजिंग द माइंड : पॉलिटिक्स इन अफ्रीकन लिटरेचर' प्रकाशित हुआ जिसने उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक आलोचना की बहस में भाषा का एक नया सिद्धांत दिया, देसी भाषाओं में साहित्य-लेखन पर बल दिया। न्गुगी स्वयं अफ्रीकी बोली गिक्यू में लिखते हैं तथा उसका अंग्रेज़ी में अनुवाद भी करते हैं। वे केन्याई लेखकों के बीच गिक्यू भाषा में लेखन का समर्थन करते हैं।

1996 में वोल सोइन्का ने 'ओपेन सोर ऑफ़ ए कांटीनेंट : ए पर्सनल नेरेटिव्स ऑफ़ द नाइजीरियन क्राइसिस' लिखकर औपनिवेशिक साहित्यिक आलोचना में नया आयाम जोड़ा। न्जावुलो न्डेबेल (दक्षिण अफ्रीका), शुला मार्क्स (दक्षिण अफ्रीका), अब्दुल जॉन मोहम्मद (केन्या), समीर अमीन आदि उन प्रमुख उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक चिंतकों में से हैं, जिन्होंने अफ्रीकी साहित्य एवं संस्कृति पर उत्तर औपनिवेशिक ढंग से विचार किया।

संदर्भ

1. <http://www.postcolonialweb.org/poldiscourse/colondef.html>
2. इंडिया एंड पोस्टकोलोनियल डिस्कोर्स, हरीश त्रिवेदी, इनट्रोगेटिंग पोस्ट-कालोनियलिज़्म, थियरी, टेक्स्ट एंड कांटेक्स्ट, आईआईएस, शिमला, 1996, पृ. 237
3. उत्तर औपनिवेशिक ड्रामा : सिद्धांत, अभ्यास, हेलेन गिल्बर्ट और जॉन टामकिंस, राजनीति, रटलेज, लंदन 1996, भूमिका
4. इराक पर हमले के बाद उत्तर औपनिवेशिक विमर्श, नील लुजारस, <http://www.lwbooks.co.uk/journals/newformations/articles/59%20lazarus.pdf>, पृ. 17
5. द एम्पायर राइट बैक: थियरी एंड प्रैक्टिस इन पोस्ट-कोलोनियल लिटरेचर, संपादन-बिल ऐशक्राफ्ट, गैरेथ ग्रिफिथ तथा हेलेन टिफ़िन, रटलेज, लंदन और न्यूयार्क, 1989, पृ. 1-2
6. इन थियरी : कलासेज़, नेशनल्स एंड लिटरेचर, एजाज़ अहमद, नील ओ ब्रायन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, प्रथम संस्करण 1992 में वर्सो द्वारा प्रकाशित, पृ. 104-105
7. बिगनिंग पोस्टकालोनियलिज़्म, जॉन मैक्लायड, मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम दक्षिण एशियाई संस्करण, 2007, पृ. 27
8. व्हाट इज़ पोस्ट(-)कोलोनियलिज़्म?, विजय मिश्रा और बॉब हाज, कोलोनियल डिस्कोर्स एंड पोस्ट-कालोनियल थियरी, संपादन- विलियम पैट्रिक और लौरा क्रिसमैन, हारवेस्टर, 1993, पृ. 276-90
9. उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, शोध-प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2007, पृ. 9-10
10. आहंग, असरारुल हक़ मज़ाज़, ऐजुकेशनल बुक हाऊस, प्रथम संस्करण 2003, पृ. 70
11. उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, शोध प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2007, पृ. 49
12. बिगनिंग पोस्टकालोनियलिज़्म, जॉन मैक्लायड, मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम दक्षिण एशियाई संस्करण 2007, पृ. 12

13. उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, शोध-प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2007, पृ. 49
14. जैसे कि यह जगह जहाँ गलियों में आप उपन्यास से टकरा जाते हैं, सलमान रश्दी से निवेन की चर्चा, पहल-89, संपादक-ज्ञानरंजन, जबलपुर, जुलाई 2008, पृ. 188
15. इनट्रोगेटिंग पोस्ट-कालोनियलिज़्म, मीनाक्षी मुखर्जी, इनट्रोगेटिंग पोस्ट-कालोनियलिज़्म : थियरी, टेक्स्ट एंड कांटेक्स्ट, आईआईएस, शिमला, 1996, पृ. 5
16. उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, शोध-प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2007, पृ. 49
17. डिकोलोनाइजिंग द माइंड : द पॉलिटिक्स इन अफ्रीकन लिटरेचर, नूगी वा थ्योंगो जेम्स कर्रे, 1986, पृ. 16
18. ब्लैक स्किन व्हाइट मास्क, फ्रांज़ फैनन, अनुवाद- चार्ल्स लैम मार्कमन्न, प्लूटो (1952) 1986, पृ. 114
19. उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, शोध-प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2007, पृ. 27
20. प्राच्यवाद क्यों? एडवर्ड सईद, अनुवाद- रामकीर्ति शुक्ल, संपा. सदानंद शाही, साखी 13-14, वाराणसी, 2006, पृ. 66
21. वही, पृ. 64
22. वही, पृ. 65
23. इन थियरी : कलासेज, नेशनल्स एंड लिटरेचर, एजाज़ अहमद, नील ओ ब्रायन, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, प्रथम संस्करण 1992 में वर्सो द्वारा प्रकाशित, पृ. 161
24. साम्राज्य की सांस्कृतिक अखण्डता, एडवर्ड सईद, अनुवाद- रामानंद राय, संपा. सदानंद शाही, साखी 13-14, वाराणसी, 2006, पृ. 167
25. उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, शोध-प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2007, पृ. 101
26. द लोकेशन ऑफ कल्चर, होमी के भाभा, रटलेज प्रकाशन, 1994, पृ. 70
27. बिगनिंग पोस्टकालोनियलिज़्म, जॉन मैक्लायड, मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम दक्षिण एशियाई संस्करण 2007, पृ. 53

28. द लोकेशन ऑफ कल्चर, होमी के भाभा, रटलेज प्रकाशन, 1994, पृ. 70
29. वही, पृ. 85
30. वही, पृ. 89
31. उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, शोध-प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2007, पृ. 108
32. वही, पृ. 103
33. बिगनिंग पोस्टकालोनियलिज्म, जॉन मैक्लायड, मैन्चेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम दक्षिण एशियाई संस्करण 2007, पृ. 193
34. वही, पृ. 195
35. इन थियरी : कलासेज, नेशनल् एंड लिटरेचर, एजाज़ अहमद, नील ओ ब्रायन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम संस्करण 1992 में वर्सो द्वारा प्रकाशित, पृ. 7
36. वही, 10-11

अध्याय दो

उत्तर औपनिवेशिक चिंतन :
हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में

उत्तर औपनिवेशिक चिंतन : हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में

उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी ने पश्चिमी औपनिवेशिक प्रणालियों, पद्धतियों और व्यवस्था में निहित वर्चस्व की साम्राज्यवादी नीति को उजागर करना आरंभ किया। औपनिवेशिक शोषण के शिकार देशों ने इसका स्वागत किया। ऐसे देशों को 'तीसरी दुनिया' (फ्रेडरिक जेम्सन) कहा गया। जहाँ तक भारतीय संदर्भ में उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी की बात है, भारत भी दो सौ वर्ष तक पश्चिमी साम्राज्यवादी औपनिवेशिक तंत्र का शिकार रहा। अतः भारतीय अनुभव भी कमोबेश वही थे, जो अफ्रीकी, कैरेबियाई या लातीनी अमेरिकी देशों के थे। उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी का जन्म पश्चिम में ही हुआ। अतः इसे मानक बनाकर किसी उपनिवेशित देश के अनुभवों को सूचीबद्ध करना समीचीन प्रतीत नहीं होता। एजाज़ अहमद, जसबीर जैन, जयदेव, हरीश त्रिवेदी, मीनाक्षी मुखर्जी तथा अरुण मुखर्जी आदि उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी पर काम करने वाले चिंतकों ने इस सैद्धांतिकी की उपादेयता के साथ-साथ अपर्याप्तता को भी रेखांकित किया है। वस्तुतः किसी उपनिवेशित देश की अपनी समस्याएँ भी होती हैं, जो औपनिवेशिक छाया से मुक्त होती हैं। अतः केवल औपनिवेशिक शासन प्रदत्त समस्याओं पर ही केंद्रित रहने से वे जस-की-तस मुँह बाये खड़ी रहती हैं। उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी यूरोकेंद्रित रहते हुए औपनिवेशिक समस्याओं पर ही विचार करती है, जो भारतीय संदर्भ में अपर्याप्त हैं। इस सैद्धांतिकी की अपर्याप्तता को रेखांकित करने का आशय इसको निरर्थक सिद्ध करना नहीं बल्कि परिमार्जित करना है। दरअसल, उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी हमें नित्य बदलते समाज में अपनी आलोचना-पद्धतियों से लेकर चिंतन-प्रणालियों तक में निरंतर परिमार्जन एवं परिष्कार की दृष्टि देता है। यही विशिष्टता उसे पिछली तमाम अनुशासनात्मक पद्धतियों से बेहतर बनाती है। अतः भारतीय संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता के लिए इसकी पुनर्व्याख्या आवश्यक है। इस पुनर्व्याख्या के संदर्भ में निम्नलिखित बिंदु विचारणीय हो सकते हैं।

1. भारत की जटिल सामासिक संस्कृति की समस्या। देश-विभाजन की त्रासदी। उसका अनलिखा इतिहास। साथ ही उससे उपजी विस्थापन, पुनर्वासन, सांप्रदायिकता, अल्पसंख्यकों के भीतर बैठे भय की समस्या।
2. औपनिवेशिक भारत से लेकर स्वातंत्र्योत्तर भारत में देसी नेतृत्व की संदिग्ध भूमिका का रेखांकन।
3. औपनिवेशिक प्रणालियों की खामियों को परखते हुए, उनमें सुधार करने या उन्हें बदल डालने की समस्या।
4. सबाल्टर्न (दमित, उपेक्षित, हाशिये पर पड़ा हुआ) के रूप में दलित, स्त्री, किसान, मज़दूर तथा आदिवासी समाज को पहचान दिलाने एवं उनके अधिकारों की रक्षा की समस्या।
5. भारतीय परंपरा के पश्चिमी मिथ (मिथक) को तोड़कर उनके भारतीय लोकतांत्रिक संदर्भ को विकसित करना।
6. अपनी खंडित चेतना या दरार को पाटने तथा अपनी खो गयी स्मृति को पुनः प्राप्त करना।

उपर्युक्त प्रस्तावित बिंदु अंतिम नहीं हैं। इनमें और भी बिंदुओं को जोड़ने की एवं संशोधन की संभावना शेष है।

हिन्दी साहित्य में उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी के उपयोग की संभावनाएँ खोजते हुए डा० प्रणय कृष्ण कहते हैं— “...साथ इसके तमाम पक्षों में ‘औपनिवेशिकता’ का सामना करते हुए उसके पार जाने की भंगिमा भी असंदिग्ध रूप से पहचानी जा सकती है। प्रगतिवादी साहित्य और आलोचना ने जहाँ स्वातंत्र्योत्तर राजसत्ता के चरित्र और उसके खिलाफ संघर्ष को महत्त्व देते हुए साम्राज्यवाद-विरोध और सामंतवाद-विरोध के निकष को नई परिस्थिति में माँजने की भंगिमा अपनाई, वहीं नयी कविता ने देश की स्वतंत्रता में औपनिवेशिक ‘आत्म’ में पड़ी दरार को रचनाकार के व्यक्तित्व और कला की अद्वितीयता के धरातल पर पाटते हुए समग्र और संपूर्ण मनुष्यता को उपलब्ध करने का सपना देखा। इस पूरी बहस में हम स्वातंत्र्योत्तर भारतीय लोकतंत्र के यथार्थ और स्वप्न की परिणतियों की गंभीर पड़ताल देख सकते हैं। स्वातंत्र्योत्तर साहित्य की बहसों ने अनिवार्यतः समूचे औपनिवेशिक अनुभव, स्वतंत्रता-संग्राम और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की आलोचनात्मक पुनर्परिभाषा को संभव बनाया।”¹

लेकिन सवाल उठता है कि आज वैश्वीकरण, बाज़ारवाद, उदारीकरण जैसे अन्य नये औपनिवेशिक हथकंडों से निपटने में क्या उपर्युक्त बहसों कारगर हैं? वे स्वयं कहते हैं— “आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के लगभग 60 साल बाद जबकि शीतयुद्ध के अंत के बाद अमरीकी नव-साम्राज्यवाद के नेतृत्व में भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण की आँधी चल रही है, भारत में सांप्रदायिक फासीवादी राजनीति का एक दौर चल चुका है, उत्तर-आधुनिकता 1990 के दशक में अपने उत्कर्ष पर पहुँच कर नयी विश्वदृष्टि को खो चुकी है, लैटिन अमेरिकी देशों में नव-साम्राज्यवाद के खिलाफ़ जबर्दस्त उभार दिख रहा है... तब हम पाते हैं कि परिस्थितियाँ मूलभूत रूप से बदल गयी हैं, जिनमें आज़ादी के बाद के पच्चीस वर्षों में चली इन महत्वपूर्ण बहसों ने साँस ली थी। आज के युवा रचनाकारों और आलोचकों के सामने चुनौती यह है कि इन बहसों की अंतर्दृष्टियों को बदले हुए परिदृश्य में अपनी रचनाशीलता के साथ किस तरह जोड़ें.... ज़रूरत है तो इस बात की है कि ‘स्वातंत्र्योत्तर’ आलोचना की समृद्ध बहसों में जितने विराट परिप्रेक्ष्य को समाहित किया गया था, जितने बड़े प्रश्नों को हाथ में लिया गया था, संस्कृत और सभ्यता की जितनी गहरी और व्यापक समीक्षा की गयी थी, उसकी विरासत से आज 21वीं सदी का हिन्दी साहित्य एक द्वंद्वत्मक आलोचनात्मक रिश्ता कायम कर सके।”² यहाँ प्रणय कृष्ण पुरानी बहसों के भीतर उठाये गये प्रश्नों को, जो आज भी अनुत्तरित हैं, एक नये रूप में, एक नये तैवर के साथ फिर से उठाने को ही आज के रचनाकार की चुनौती मानते हैं। आज के रचनाकार को नयी औपनिवेशिक समस्याओं तथा चुनौतियों से निपटने की आवश्यकता पर बल देकर वे भारतीय संदर्भों में उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी की प्रासंगिकता को रेखांकित करते हैं।

रंगभूमि

हिंदी साहित्य में उत्तर औपनिवेशिक तत्त्वों का साक्षात्कार भारतेंदु युग से आरंभ हो जाता है। स्वयं भारतेंदु ने ‘अंधेर नगरी’ जैसी कृति लिख कर औपनिवेशिक शासन का पुरज़ोर विरोध किया, किंतु देशभक्ति के साथ-साथ उनकी राजभक्ति भी प्रसिद्ध हैं। भारतेंदु तथा उनके साथी लेखकों ने औपनिवेशिक शासन के मुख्यतः आर्थिक पक्ष के शोषण का ही चित्रण है। भारतेंदु का वह दोहा इस

संदर्भ में दृष्टव्य है—“अंग्रेज राज सुख साज सजै सब भारी/पै धन विदेश चली जात यही अति ख्वारी”। इसको लक्षित करते हुए गोपाल राय का कहना है कि “प्रेमचंद के पूर्ववर्ती और समकालीन (1901-20) उपन्यासकारों में देश की पराधीनता के यथार्थ का सही और तीखा बोध नहीं था। अधिकतर पूर्ववर्ती उपन्यासकार तो ब्रिटिश शासन का गुणगान ही कर रहे थे और जिन्हें ब्रिटिश शासन की वास्तविकता का बोध हो चुका था, वे भी उसके आतंक और दमन से त्रस्त थे। वे अधिक-से-अधिक अपने उपन्यासों में ब्रिटिश शासन के द्वारा होने वाले आर्थिक शोषण, देशोन्नति, शिक्षा के प्रसार, उद्योग धंधों और कृषि के विकास, सामाजिक सुधार, स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आदि की बातें ही करते थे। जमींदारों और किसानों के शोषण और दमन, पुलिसविभाग की रिश्वतखोरी और अत्याचार, सरकारी अमले में फैले भ्रष्टाचार आदि का चित्रण और इनकी यत्किंचित आलोचना तो वे करते थे, पर शासन का विरोध करने का साहस उनमें न था। प्रेमचंद ने अपनी उर्दू कहानियों (सोजे वतन-1908) में राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त करने की कोशिश की थी, जिसके लिए उन्हें सरकार का कोपभाजन भी बनना पड़ा था।.....प्रेमचंद देश की पराधीनता के यथार्थ को उसके व्यापक आयामों और जटिलताओं के साथ प्रस्तुत करते हैं। देश की आज़ादी की समस्या प्रेमचंद के लिए मात्र भावनात्मक अथवा राष्ट्रप्रेम की समस्या नहीं थी, वरन् वह देश के आर्थिक शोषण और दमन से जुड़ी थी।.....ब्रिटिश शासन की शोषण नीति से पैदा हुई किसानों की निर्धनता, उनकी दयनीय परिस्थितियों का चित्रण वे प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, कर्मभूमि, गोदान आदि उपन्यासों में करते हैं।”³ साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद का आगमन प्रथम विश्व युद्ध के दौर में होता है। भारत में गाँधी जी के आगमन के बाद राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन तेज़ी पकड़ चुका था। प्रेमचंद भी तत्कालीन संघर्ष में कूद पड़े। असहयोग आंदोलन में भाग लेते हुए प्रेमचंद अपनी 21 वर्षों की नौकरी से इस्तीफ़ा दे देते हैं। रचनात्मक स्तर पर भी उनमें स्वाधीनता की भावना सदैव बनी रही। 1907 में उनका पहला कहानी-संग्रह आया —‘सोजे वतन’ वतन का दर्द। इसमें देश के रक्षार्थ किये जाने वाले कार्यों को प्रस्तुत किया गया था। अंग्रेज़ी सरकार ने इस पर प्रतिबंध भी लगा दिया। इससे बिना विचलित

हुए प्रेमचंद उत्तरोत्तर औपनिवेशिक सत्ता के प्रति अपना रचनात्मक प्रतिरोध विकसित करते रहे। 'रंगभूमि' इसी रचनात्मक प्रतिरोध के विकास में एक कालजयी कृति है। इसमें औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध देश की पराधीनता को मानवीय त्रासदी के साथ मिलाकर कलात्मक रूप से उभारा गया है। 'रंगभूमि' का रचना-काल 1922 से 25 के बीच का है। यह उपन्यास अंधे सूरदास के माध्यम से ब्रिटिश औपनिवेशिक तंत्र के कई पहलुओं पर चोट करता है। उपन्यास के तीसरे परिच्छेद में सेवा-समिति का वर्णन है। के. एन. पनिकर कहते हैं कि, "औपनिवेशिक शासन के आरंभिक चरण में सेवा-समितियाँ बुद्धिजीवी वर्ग के लिए सार्वजनिक मंच उपलब्ध कराती थीं।...ये सेवा-समितियाँ सामाजिक, सांस्कृतिक तथा बुद्धिधर्मी मुद्दों से संबंधित होती थीं..... वैसे तो इन पर औपनिवेशिक शासन की छत्रछाया होती थी, किंतु जैसे ही वे औपनिवेशिक शासन की आलोचना करती थीं, उन्हें नियंत्रण में ले लिया जाता था।.. ..इन समितियों के माध्यम से बुद्धिजीवियों ने अपने आरंभिक प्रतिरोध को आवाज़ दी, जिससे यह पता चलता है कि सरकार उपनिवेशित जनता को आलोचना का अधिकार नहीं देती थी।"⁴ 'रंगभूमि' में वर्णित सेवा-समिति के संचालक, संरक्षक तथा नीति-निर्देशक मंडल में रानी जाह्नवी, कुँवर भरत सिंह तथा बुर्जुवा वर्ग के नेता डॉ. गाँगुली हैं। इस समिति का काम है मेले-ठेले में जनता की रक्षा तथा सेवा करना। इसके माध्यम से उपन्यास का उद्देश्य ब्रिटिश औपनिवेशिक संगठन पर प्रहार करना है। ब्रिटिश शासन का दावा था कि वह भारत में 'सभ्यता निर्माण मिशन' Civilizing Mission पर है। वह अपने को आधुनिक सभ्यता का वाहक कहता था। उसकी नज़र में देसी संस्कृति, अर्थव्यवस्था तथा राजनीति का रूप आदर्श एवं सभ्य नहीं था। पिछला शासन असभ्य, अलोकतांत्रिक तथा अवैज्ञानिक सोच पर आधारित था। अतः पिछड़े भारत को भी सभ्य बनाने का बीड़ा उसने उठाया है। इसलिए उसने लोकसेवा, न्यायपालिका, पुलिस, बाबू तथा क्लर्क आदि वर्गों एवं प्रशासनिक संगठनों का निर्माण किया। अपनी शिक्षा-व्यवस्था को लागू किया। इन संगठनों एवं वर्गों का काम था— जन कल्याण करना। लेकिन औपनिवेशिक तंत्र की नीतियाँ कुछ और ही थीं। जनहित के नाम पर कुछ इस प्रकार के प्रशासनिक संगठनों का निर्माण किया गया कि देश में भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी तथा अन्याय का बोलबाला हो

गया। शिक्षा-व्यवस्था स्थापित करने का उद्देश्य था- औपनिवेशिक विचारों को प्रसारित-प्रचारित करनेवाला तथा समुंदर किनारे बसनेवाले शहरों के माल गोदामों की देखभाल करने वाला वर्ग तैयार करना। साथ ही अपनी सभ्यता तथा भाषा की श्रेष्ठता को स्थापित करना ताकि राजनीतिक रूप से मुक्त होने के बाद भी मानसिक गुलामी को सदियों तक कायम रखा जा सके। इसी प्रक्रिया के तहत अंग्रेजी भाषा की ऐसी घुट्टी पिलायी गयी कि जिसका नशा आज तक कायम है। कहने का आशय यह कि इस तरह से उन विमर्शों एवं प्रणालियों का विकास हुआ, जिनसे औपनिवेशिक सत्ता के हित सधते थे। उपन्यास इन्हीं विमर्शों एवं प्रणालियों का प्रतिरोध करता दिखायी देता है।

उपन्यास एक डाकू पात्र वीरपाल सिंह के मुख से ब्रिटिश पुलिस-तंत्र का मखौल उड़ाता है- “महाराज, आप तो कई महीनों से इस इलाके में हैं, क्या आप को इन लोगों की करतूतें मालूम नहीं हैं? ये लोग प्रजा को दोनों हाथों से लूट रहे हैं। इनमें न दया है, न धर्म।.....जिसे घूस न दीजिए, वही आपका दुश्मन है। चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरों में आग लगाइये, गरीबों का गला घोटिए, कोई आपसे कुछ न कहेगा। बस, कर्मचारियों की मुठियाँ गर्म करते रहिए। दिन-दहाड़े खून कीजिए, पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग छूट जाएंगे, आप के बदले कोई बेकसूर फाँसी पर लटका दिया जाएगा। कोई फरियाद नहीं सुनता। कौन सुने, सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। यही समझ लीजिए कि हिंसक जंतुओं का एक गोल है, सब के सब मिलकर शिकार करते हैं और मिलजुल कर खाते हैं।”⁶ प्रेमचंद अपने अन्य उपन्यासों एवं कहानियों में भी तत्कालीन पुलिस-प्रणाली स्थापित करने की औपनिवेशिक मंशा को व्यक्त करते हैं। अपने संपादकीय में भी उसे बेनकाब करते हैं- “रोज़ यही तमाशा होता है, किसी को परवाह नहीं। सरकार की पुलिस का काम है, सरकार के शत्रुओं को पकड़ना और मिटाना। प्रजा की रक्षा सरकार की पुलिस क्यों करे? प्रजा की रक्षा प्रजा की पुलिस करेगी जो अनंत भविष्य में बनेगी। प्रजा का धर्म है सरकार को टैक्स और कर अदा करना। सरकार का धर्म है कर लेना ओर अपनी रक्षा करना। प्रजा के प्रति सरकार का क्या धर्म हो सकता है। लाखों आदमी यों ही गर्दन-तोड़ बुखार से मरते हैं, दो-चार सौ आदमी डाकूओं के

हाथों शहीद हो जाएँ तो क्या ग़म। प्रजा के हाथ में शस्त्र भला कैसे दिया जा सकता है। चचा मैकियावली का ऐसा आदेश नहीं है।”⁶ उपन्यास एक डाकू के माध्यम से न केवल तत्कालीन पुलिस-प्रणाली की करतूतों को उजागर करता है बल्कि ब्रिटिश न्याय व्यवस्था की भी खिल्ली उड़ाता है। डाकू वीरपाल सिंह कहता है— “यहाँ के न्यायालयों से न्याय की आशा रखना चिड़िया से दूध निकालना है। हम सब के सब इन्हीं अदालतों के मारे हुए हैं।.....अदालत अंधी थी, जैसा इलाकेदार ने कहा, वैसा न्यायाधीश ने किया। ऐसी अदालतों से आप व्यर्थ न्याय की आशा रखते हैं।”⁷ प्रेमचंद भी अंग्रेज़ी राज द्वारा स्थापित भारतीय न्याय व्यवस्था पर सदैव प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उनका कहना था कि उनके अपने देश में उनकी यही न्याय-व्यवस्था चुस्त-दुरुस्त है, किंतु भारत में प्रशासन की औपनिवेशिक नीति के कारण निकृष्टतम रूप में आ गयी है।⁸

उपन्यास ब्रिटिश राज के साम्राज्यवादी चरित्र को भी चित्रित करता है। मि. क्लार्क ब्रिटिश शासन के पोलिटिकल एजेंट हैं। वे ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। उनके उदयपुर प्रवेश को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त किया गया है। क्लार्क के स्वागत में तोपें दागी जाती हैं— “अरावली की हरी-भरी झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में जसवंत नगर यों शयन कर रहा है, जैसे बालक माता की गोद में।....प्रभात का स्वर्ण किरणों में नहाकर माता का स्नेह-सुंदर गात निखर गया है और बालक भी आँचल से निकल-निकल कर माता के स्नेह-प्लावित मुख की ओर देखता है, हुमुकता है और मुस्कुराता है; पर माता बार-बार उसे अंचल से ढँक लेती है कि कहीं उसे नज़र न लग जाए।

सहसा तोप के छूटने की कर्ण-कटु ध्वनि सुनाई दी। माता का हृदय काँप उठा, बालक गोद में चिमट गया।

फिर वही भयंकर ध्वनि! माँ दहल उठी, बालक चिमट गया।

फिर तो लगातार तोपें छूटने लगीं। माता के मुख पर आशंका के बादल छा गए। आज रियासत के नए पोलिटिकल एजेंट यहाँ आ रहे हैं। उन्हीं के अभिवादन में सलामियाँ उतारी जा रही हैं।”⁹

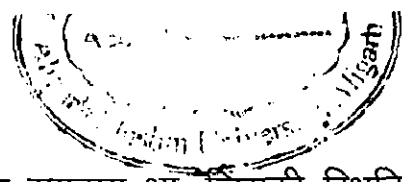
प्रेमचंद इससे पहले भी अपनी आरंभिक कहानियों में देश को माँ के प्रतीकात्मक रूप में चित्रित कर चुके थे। आज़ादी की लड़ाई में देश/राष्ट्र के लिए माँ का रूपक प्रयोग किया जाने लगा था। रंजन ऐश कहते हैं—“अपने पुत्रों द्वारा आज़ाद कराने की आशा करती हुई भारतमाता, मदर इंडिया इस युग के साहित्य, संगीत तथा कला में एक लोकप्रिय बिंब बन गया था।”¹⁰ भारतीय राष्ट्रवादी चिंतक श्री अरविंदो भी भारत को एक माता के रूप में प्रस्तुत करते हैं—“मैं अपने देश को एक माँ की तरह मानता हूँ। मैं उसके प्रति अपनी भक्ति तथा पूजा समर्पित करता हूँ। यदि एक हैवान उसकी छाती पर बैठा है और उसका खून चूस रहा है, तो उसकी संतान क्या करेगी? क्या वह चुपचाप अपने भोजन पर बैठी रहेगी...या उसे बचाने के लिए दौड़ लगाएगी?”¹¹ हालांकि राष्ट्र को माता/स्त्री के रूप में व्यक्त करने के पीछे औपनिवेशिक धारणा भी काम कर सकती है। औपनिवेशिक विमर्श उपनिवेशित देश को स्त्री के रूप में व्यक्त करता है। उपनिवेशक देश अपने आपको पुरुष/मर्द/बहादुर की भांति व्याख्यायित करता था, जिसको उपनिवेशित, जो स्त्री/कमज़ोर/असहाय है, के ऊपर शासन करना चाहिए।¹² संभवतः यही कारण है कि औपनिवेशिक भारत में लिखी जा रही आरंभिक रचनाओं के केंद्र में स्त्री है। इंशाअल्लाह खाँ की ‘रानी केतकी की कहानी’, हादी मिर्जा रुस्वा का ‘उमराव जान अदा’, राजेंद्र बाला घोष की ‘ढुलाई वाली’, चंद्रधर शर्मा गुलेरी की ‘उसने कहा था’, स्वयं प्रेमचंद के उपन्यास ‘सेवासदन’, ‘निर्मला’ आदि तथा ख्वाजा अहमद अब्बास, इस्मत चुगताई, मंटो तथा रशीद जहाँ आदि प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े लेखकों की रचनाओं में अधिकांश हिस्सा लैंगिक समस्याओं को ही केंद्र में रखकर चलता है। किंतु औपनिवेशिक सत्ता के विरोध में राष्ट्र तथा उसकी जनता के संबंध बहुत जटिल हो जाते हैं। उपन्यास जब देशी जनता को राष्ट्र के बालक के रूप में चित्रित करता है तो कहीं-न-कहीं उस औपनिवेशिक विमर्श से निरंतर चल रहे संघर्ष को ही वर्णित करता है।

‘रंगभूमि’ उपन्यास क्लार्क के उदयपुर—आगमन के माध्यम से तत्कालीन जेलों की दशा, कैदियों की दशा आदि का भी खाका खींचकर औपनिवेशिक प्रणाली को बेनकाब करता है। औपनिवेशिक विमर्श के मूल में साम्राज्यवादी चरित्र निहित होता है। उसका मूल ध्येय उपनिवेशित राष्ट्र को ज़्यादा—से—ज़्यादा समय के लिए अपने अधीन रखकर, उसका अधिकतम शोषण करना होता है। इसके लिए वह हर तरह की नीतियाँ अपनाता है, जिसमें आतंक तथा दमन की नीति मुख्य होती है। मि. क्लार्क कहते हैं— “हमारा साम्राज्य तभी तक अजेय रह सकता है, जब तक प्रजा पर हमारा आतंक छाया रहे, जब तक हमें अपना हित चिंतक, अपना रक्षक, अपना आश्रय समझती रहे, जब तक हमारे न्याय पर उसका अटल विश्वास हो।.....अगर साम्राज्य को रखना ही हमारे जीवन का उद्देश्य है, तो व्यक्तिगत भावों और विचारों को यहाँ कोई महत्त्व नहीं। साम्राज्य के लिए हम बड़े से बड़े नुकसान उठा सकते हैं, बड़ी से बड़ी तपस्याएँ कर सकते हैं। हमें अपना राज्य प्राणों से भी प्रिय है, और जिस व्यक्ति से हमें क्षति की लेश मात्र भी शंका हो, उसे हम कुचल डालना चाहते हैं; उसका नाश कर देना चाहते हैं; उसके साथ किसी भी भौति की रियायत, सहानुभूति यहाँ तक कि न्याय का भी व्यवहार नहीं कर सकते।”¹³

औपनिवेशिक साम्राज्यवाद ‘आधिपत्य’ (Hegemony) पर कायम होता है। इसमें भौगोलिक आधिपत्य से लेकर सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, देसी ज्ञान—विज्ञान आदि पर आधिपत्य सम्मिलित है। अपनी सामरिक नीतियों के द्वारा तथा अपने छद्म श्रेष्ठता—बोध को प्रचारित कर, यह आधिपत्य कायम किया जाता है। कोई भी सरकार हो, इस आधिपत्य का त्याग नहीं करती। मसलन् आज अमेरिका में किसी की भी सरकार हो इराक़, इरान, अफ़ग़ानिस्तान, सीरिया तथा पाकिस्तान आदि के प्रति उसकी विदेश—नीति में परिवर्तन नहीं होता है। उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी इसी वर्चस्ववादी विमर्श के प्रबल विरोध को दर्ज करती है। यह इस यूरोपीय साम्राज्यवादी आधिपत्य को विकेंद्रीकृत करके एक बहुलतावादी समाज की स्थापना पर ज़ोर देती है। औपनिवेशिक सैद्धांतिकी में आधिपत्य की अवधारणा, मि. क्लार्क के मुख से इस तरह से अभिव्यक्त होती है— “अंगरेज—जाति भारत को अनंत काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाए रखना चाहती है। कंजरवेटिव हो या लिबरल,

रेडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं।...आधिपत्य त्याग करने की वस्तु नहीं है। संसार का इतिहास इसी शब्द 'आधिपत्य प्रेम' पर आकर समाप्त हो जाता है।...अंगरेज—जाति कभी त्याग के लिए, उच्च सिद्धांतों पर प्राण देने के लिए प्रसिद्ध नहीं रही। हम सब के सब— मैं लेबर हूँ— साम्राज्यवादी हूँ। अंतर केवल नीति में है जो भिन्न—भिन्न दल इस जाति का आधिपत्य जमाए रखने के लिए ग्रहण करते हैं।.....बस, वास्तव में नीति कोई है ही नहीं, केवल उद्देश्य है, और वह यह कि क्योंकि हमारा आधिपत्य उत्तरोत्तर सुदृढ़ हो।"¹⁴ औपनिवेशिक शासन व्यवस्था में आधिपत्य को निरंतर बनाए रखने के लिए जगहों और दवाईयों आदि के नाम का अंग्रेजीकरण कर दिया जाता था। के. एन. पनिकर कहते हैं— "औपनिवेशिक शासन में स्थानों के नाम—परिवर्तन कुछ ध्यान आकर्षित करते हैं। इससे एक पहचान के खोने तथा नयी, थोपी गयी पहचान के संरचित होने का संकेत मिलता है। भारत में ज्यादातर जगहों के नाम का अंग्रेजीकरण इतना हुआ कि सरकारी कामकाज में तथा सार्वजनिक स्मृति दोनों में असली नाम शायद ही कभी प्रयोग होता है। इस प्रक्रिया के तहत देसी ज्ञान परंपरा का हाशियाकरण तथा अपूरणीय क्षति होती है।"¹⁵ उपन्यास इस प्रक्रिया को दर्ज करता है— "ताँगा राजभवन की ओर जा रहा था। रास्ते में कई सड़कें, पाठशालाएं, कई चिकित्सालय मिले। इन सबों के नाम अंग्रेजी थे। यहाँ तक एक पार्क मिला, वह भी किसी अंगरेज एजेंट के नाम से अलंकृत था। ऐसा जान पड़ता था, यह कोई भारतीय नगर नहीं, अंगरेजों का शिविर है।"¹⁶ रेणु के 'मैला आँचल' में भी इस प्रसंग को बारीकी से उठाया गया है, जिसे हम आगे 'मैला आँचल' के संदर्भ में देखेंगे।

स्पीवाक ने प्राच्यवादी नज़रिये से जिस सबाल्टर्न की बात उठायी, वह भारतीय संदर्भ में प्रासंगिक है। भारत में किसान, स्त्री, मज़दूर, हरिजन आदि वर्ग को सदैव किसी—न—किसी कारणवश हाशिए पर ढकेल दिया गया। स्त्री, हरिजन आदि पहले से ही शोषित थे। हिंदू वर्ण—परंपरा में इनको किसी भी प्रकार का अधिकार न था। इस्लामी शासन में भी इनकी हालत कुछ ख़ास न सुधरी। स्त्रियों की दशा और बदतर हो गयी। औपनिवेशिक शासन भी भले ही अपनी सभ्यता, तार्किकता तथा वैज्ञानिकता का नगाड़ा पीटता रहा, लेकिन उसकी सोच भी



पितृसत्तात्मक ही रही। किंतु किसान एक ऐसा समुदाय था, जिसकी स्थिति अंग्रेजों के आगमन के बाद शोचनीय अवस्था में पहुँच गयी। प्रेमचंद ने अपने लेखन में औपनिवेशिक व्यवस्था में हाशिए पर पड़े वर्गों— किसान, स्त्री, दलित के जीवन—संघर्ष को केंद्र में रखकर कथात्मक साहित्य की रचना की। 'सेवासदन', 'निर्मला' आदि के केंद्र में जहाँ स्त्री की समस्याओं को नये ढंग से रखा गया है, वहीं 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम' तथा 'गोदान' आदि में किसान के जीवन संघर्ष को प्रमुखता दी गयी है। दलितों को केंद्र में रखकर उन्होंने कहानियों की रचना तो की थी, किंतु उपन्यास की नहीं। 'रंगभूमि' के माध्यम से भारतीय जीवनधारा में दलित को केंद्रीय महत्त्व मिला। उपन्यास का नायक सूरदास दलित जाति का है। नेत्रहीन है और भिक्षा माँगकर जीवन यापन करता है। दलितों में भी दमित है। उपन्यास सूरदास की दस बीघे ज़मीन की कहानी कह कर औपनिवेशिक शासन में पतनशील सामंतवर्ग, साम्राज्यवाद तथा नवविकसित पूँजीवादी वर्ग के गठजोड़ पर से पर्दा हटाता है। इसके भीतर वर्ग—संघर्ष भी संचालित होता रहता है। मैनेजर पांडेय कहते हैं— "प्रेमचंद के कथा—साहित्य में मध्यवर्ग भी है, लेकिन केंद्रीय स्थिति किसान, जनता की ही है। यहाँ किसानों का जीवन—संघर्ष ही केंद्रीय विषय है। जीवन में किसान जिस शोषण के शिकार थे, उस शोषण के पेचीदे तंत्र, उसकी जटिल प्रक्रिया और उसकी भयानक परिणति का चित्रण प्रेमचंद ने किया है। इसके साथ ही उन्होंने सामंतवाद, पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध किसान, जनता के मुक्ति—संघर्ष का भी चित्रण किया है।..... प्रेमचंद किसान, मजदूर, मध्यवर्ग, सामंतवाद, पूँजीपतिवर्ग और साम्राज्यवादी शासकों का चित्रण एक—दूसरे से अलग एकाकी रूप में नहीं करते, वे एक व्यापक सामाजिक—राजनीतिक प्रक्रिया और उसकी विचारधारात्मक परिणतियों के भीतर अंतर्वर्गीय संघर्षों का चित्रण करते हैं।"¹⁷ प्रेमचंद ने हाशिए पर पड़े समुदाय को उपन्यास का केंद्र बनाकर पश्चिम से आयातित उपन्यासों की एकरैखिक अवधारणा का भी खंडन किया। पश्चिमी अवधारणा के अनुसार मध्यवर्ग के उदय के साथ ही उपन्यास का जन्म हुआ। अतः उपन्यास मध्यवर्ग का महाकाव्य कहा जाने लगा। उसमें मध्यवर्ग के दैनंदिन जीवन तथा उसकी जटिलताओं एवं समस्याओं का वर्णन होता था। किंतु प्रेमचंद ने इस औपनिवेशिक अवधारणा को नकारते हुए किसान, मजदूर, स्त्री, दलित की आशा—आकांक्षा तथा अंतर्विरोधों का चित्रण जिस कलात्मकता के साथ किया है,

उससे भारतीय उपन्यास की 'अपनी विशिष्ट छवि का निर्माण' होता है। उनका कथा कहने का अंदाज़ किस्सागोई, आख्यान, दास्तान वाला ही रहा केवल अंतर्वस्तु बदल गयी। अब प्रेमचंद सामाजिक यथार्थ तथा उसकी विषमताओं को समझ गये थे।

किसी नये राष्ट्र को अधीनस्थ करने के लिए औपनिवेशिक तंत्र सर्वप्रथम उसकी आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था पर हमला करता है। तत्पश्चात् अपने शासन को निरंतर बनाए रखने के लिए तथा उपनिवेशित देश की संस्कृति तथा विचार पर कब्ज़ा करने के लिए नयी रणनीति बनाता है। वह एक ख़ास समुदाय निर्मित करता है, जो आचार-विचार तथा भाषाई स्तर पर उन्हीं के जैसा होता है। देसी जनता का संपर्क जब शासकीय संस्कृति से होता है, तो वह उसी के रंग में रंग जाती है। इस प्रक्रिया को 'Hybridization' (संकरता) कहते हैं। यह संकरित देसी जनता शासक वर्ग में शामिल होने के लिए जी-तोड़ कोशिश करती है, हर संभव नकल करती है। इस नकल को भाभा 'मिमिक्री' कहते हैं। हालाँकि ऐसा ही विचार फ्रांज़ फ़ैनन भी पहले दे चुके थे, जब उपनिवेशित देश का अभिजात वर्ग शासक वर्ग के सुर में सुर मिलाता है। भाभा ने इसके पीछे की औपनिवेशिक जटिलताओं की भी पड़ताल की। भारतीय महाद्वीप के साहित्य में यह एक अत्यंत प्रासंगिक अवधारणा है। साहित्यकार तथा चिंतक मिमिक्री (नकल) करने वाले देसी अभिजन के प्रति तीखी नज़र रखता है, तथा उसका मज़ाक उड़ाकर मोंकरी (उपहास) में बदल देता है। भारतेन्दु तथा बालमुकुंद गुप्त आदि का उदाहरण दिया जा चुका है। प्रेमचंद भी इस प्रकार का व्यंग्य करते हैं। 'मानसिक पराधीनता' नामक लेख में ऐसे लोगों पर तीखा प्रहार करते हुए कहते हैं— "पश्चिमवालों को शक्तिशाली देखकर हम इस भ्रम में पड़ गये हैं कि हम में सिर से पाँव तक दोष ही दोष है, और उनमें सिर से पाँव तक गुण ही गुण। इस अंधभक्ति में हमें उनके दोष भी गुण मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष।"¹⁸ फिर कहते हैं— "आप उन साहब बहादुर को देख रहे हैं जो हैट-कैट लगाए गरुर से इधर-उधर चले आ रहे हैं। यह हमारे हिंदुस्तानी यूरोपीयन हैं। रास्ते से हट जाओ, साहब बहादुर आते हैं। साहब को सलाम करो, आप पूरे साहब बहादुर हैं। मुझे तो आप सिर से पाँव तक गुलाम नज़र आते हैं।"¹⁹ 'रंगभूमि' भी मिसेज सेवक के माध्यम से देसी यूरोपीयन का मज़ाक उड़ाता है।

मिसेज सेवक भारतीय उद्योगपति जान सेवक की पत्नी हैं। ये लोग ईसाई धर्म अपना चुके हैं। उपन्यास में इनका परिचय कुछ इस प्रकार दिया गया है— “मिसेज सेवक को हिंदुस्तानियों से चिढ़ थी। यद्यपि इसी देश के अन्न—जल से उनकी सृष्टि हुई थी, पर अपने विचार से हज़रत ईसा की शरण में आकर, वह हिंदुस्तानियों के अवगुणों से मुक्त हो चुकी थीं। उनके विचार में यहाँ के आदमियों को खुदा ने सज्जनता, सहृदयता, उदारता, शालीनता आदि दिव्य गुणों से संपूर्णतः वंचित रखवा था। वह योरोपीय सभ्यता की भक्त थीं और आहार—विहार में उसी का अनुकरण करती थीं; खान—पान, वेश—भाषा, रहन—सहन, सब अंगरेजी थी; मजबूरी केवल अपने साँवले रंग से थी। साबुन के निरंतर प्रयोग और अन्य रासायनिक पदार्थों का व्यवहार करने पर भी मनोकामना पूरी न होती थी। उनके जीवन की एकमात्र यही अभिलाषा थी कि हम ईसाइयों की श्रेणी से निकल कर अंगरेजों में जा मिले, हमें लोग साहब समझें, हमारा रक्त—जब्त अंगरेजों से हो, हमारे लड़कों की शादियाँ ऐंग्लो इंडियन या कम से कम उच्च श्रेणी के यूरोपीयन से हो।”²⁰ मिसेज सेवक शासकधर्मी होने के कारण स्वयं को शासकवर्ग का समझती हैं— “हम शासनाधिकारियों के सहधर्मी हैं। हमारा धर्म, हमारी रीति—नीति, हमारा आहार—व्यवहार अंगरेजों के अनुकूल है।.....हम इस देश में शासक बनकर रहना चाहते हैं, शासित बनकर नहीं।” इस पर मिसेज सेवक का पुत्र प्रभु सेवक कहता है —“हम अंगरेजों की नकल कर खुद उन्हें चिढ़ाते हैं।”²¹ यहाँ भाभा की Ambivalence की थ्योरी स्पष्टतः लागू होती है। भाभा ने जो थ्योरी 80 के दशक में दी, प्रेमचंद उसी सिद्धांत को 1925 में व्यक्त कर रहे थे।

औपनिवेशिक दौर में राष्ट्रीय नेतृत्व किसके हाथ में था? सच्चा स्वराज मिल पाएगा क्या? जॉन की जगह गोविंद! गोरे की जगह काला! कहीं देश नये तरह की गुलामी में तो न फँस जाएगा? देश का आर्थिक ढाँचा गाँधी वाला होना चाहिए या औपनिवेशिकतंत्र वाला? “अगर विज्ञानवादी आधुनिक विकास की कोख से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से जुड़े शोषण—दोहन की स्थिति, अनिवार्य रूप में जन्म लेती हैं, तो क्या हमें विकास और प्रगति के मायनों पर पुनर्विचार नहीं करना चाहिए? क्या हमें आँखें मूंदकर यकीन कर लेना चाहिए कि वैज्ञानिक सुविधाओं को

ज़्यादा से ज़्यादा उपलब्ध कराने वाली प्रगति ही मानवजाति के विकास का पर्याय भी है?"²² क्या इससे अर्थलोलुप व्यवस्था का निर्माण न हो रहा है? साथ ही क्या इस तथाकथित विकास में विस्थापन की त्रासदी न छिपी है? कहीं आज़ाद भारत के देसी नेतागणों ने औपनिवेशिक संगठन व्यवस्था एवं प्रणालियों; यथा पुलिस, अदालत, नौकरशाही, को बगैर भारतीय परिप्रेक्ष्य में ढाले अपना लिया तो उसके कितने भयंकर परिणाम होंगे? यह उपन्यास इन्हीं औपनिवेशिक सवालों से टकराते हुए उनके उत्तर खोजने की कोशिश करता है।

मैला आँचल

प्रेमचंद ने जिन सवालों को उठाया था, आज़ादी मिलने तक उन्होंने विकसाल रूप धारण कर लिया। सजग रचनाकार इसे महसूस कर रहे थे और अपनी रचनाओं में उन सवालों से जूझ रहे थे। रेणु एक ऐसे ही रचनाकार थे। अपने उपन्यास 'मैला आँचल' में उन्होंने प्रेमचंद द्वारा उठाए सवालों को और भी तीव्रता के साथ उठाया। 'मैला आँचल' की कहानी औपनिवेशिक भारत तथा स्वतंत्र भारत के संधिस्थल पर घटित होती है। उपन्यास बिहार के पूर्णिया जनपद के एक छोटे से गाँव मेरीगंज की कथा कहता है। उपन्यास की भाषा-संरचना में उस क्षेत्र की बोली-बानी तथा वातावरण की अधिकता है। इसी कारण आलोचकों ने इसकी 'आँचलिकता' पर विशेष ध्यान दिया। परवर्ती आलोचकों की निगाहें भी इस आँचलिकता से परे नहीं जा सकीं। जबकि उपन्यास अपने भीतर वृहत्तर कथा (महा आख्यान) को समेटे हुए है। यह अन्याय तथा शोषण पर आधारित तत्कालीन ब्रिटिश औपनिवेशिक तंत्र की वारदातों को दर्ज करता है। तत्कालीन भारतीय देसी नेतृत्व की संदिग्ध भूमिका को रेखांकित करता है। आदिवासी तथा किसानों के साथ-साथ स्त्रियों की समस्याओं को पूरी ईमानदारी के साथ उठाता है और पश्चिमी साम्राज्यवादी हिंसक नीतियों के बरक्स भारतीय मानवतावादी प्रेम एवं अहिंसा के दर्शन का पाठ पढ़ाता है। न केवल अंतर्वस्तु के स्तर पर यह औपनिवेशिक नज़रिये से चुनौतियाँ लेता प्रतीत होता है, बल्कि रूप के स्तर पर भी यह एकरैखिक उपन्यास की पश्चिमी अवधारणा को खंडित करता है। यह एक अत्यंत लचीले गतिशील, अनेकस्तरीय तथा बहुआयामी उपन्यास की अवधारणा को निर्धारित करने का प्रयास करता है।

‘प्रथम संस्करण की भूमिका’ में ‘रेणु’ कहते हैं— “यह है मैला आँचल, एक आँचलिक उपन्यास, कथानक है पूर्णिया। पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है; इसके एक ओर है नेपाल, दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिम बंगाल। विभिन्न सीमा-रेखाओं से इसकी बनावट मुकम्मल हो जाती है, जब हम दक्खिन में संथाल परगना और पश्चिम में मिथिला की सीमा-रेखाएँ खींच देते हैं। मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को-गाँवों का प्रतीक मानकर-इस उपन्यास-कथा का क्षेत्र बनाया है।” इसके माध्यम से उपन्यासकार संकेत देता है कि इसे केवल मेरीगंज कि कथा न समझा जाये। मेरीगंज एक गाँव मात्र नहीं है, बल्कि गाँवों का देश भारतवर्ष है। मेरीगंज में घटित होने वाली प्रत्येक घटना देश में घटित होने वाली स्थितियों को व्यंजित करती है।

‘मैला आँचल’ औपनिवेशिक भारत तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत की दहलीज पर घटित हो रही अनेक घटनाओं का साक्षी है। यह 1946 के भारत में घट रही स्थितियों से आरंभ होता है तथा 1947 के आस-पास की परिस्थितियों पर समाप्त होता है। उपन्यास इन पंक्तियों के साथ आरंभ होता है— “...मलेटरी ने बहरा चेथरू को गिरफ़्तार कर लिया है और लोबिनलाल के कुएँ से बाल्टी खोल ले गये हैं।”²³ जिस गाँव में घटनाएँ, समाचार आदि अफ़वाह की शकल में पहुँचती हैं, वहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सैन्य-तंत्र के लिए प्रयुक्त होने वाला अंग्रेज़ी शब्द अपने देसी उच्चारण के साथ पहुँच चुका है। न केवल मिलिटरी के आने की दहशत है, बल्कि गोरे सिपाहियों के कुकृत्यों की भी ख़बर पहुँच चुकी है— “मोगलाही टीशन पर गोरा सिपाही एक मोदी की बेटी को उठाकर ले गये। इसी को लेकर सिख और गोरे सिपाहियों में लड़ाई हो गयी, गोली चल गयी। ढोलबाजा में पूरे गाँव को घेरकर आग लगा दी गयी, एक बच्चा भी बच कर नहीं निकल सका। मुसहरू के ससुर ने अपनी आँखों से देखा था... ठीक आग में भुनी गयी मछलियों की तरह लोगों की लाशें महीनों पड़ी रही, कौआ भी नहीं खा सकता था। मलेटरी का पहरा था।”²⁴

उपन्यास में गाँव का नाम 'मेरीगंज' है। औपनिवेशिक शासन में नामों के अंग्रेजीकरण के पीछे एक सोची-समझी नीति थी। किसी भी देश में जगहों के नामकरण में उस देश की परंपरा और संस्कृति का बोध छिपा होता है। जनता की स्मृति में वो नाम रच-बस चुका होता है। अतः औपनिवेशिक शासन के दौरान नाम-परिवर्तन का उद्देश्य जनता की स्मृति पर चोट करना होता है। औपनिवेशिक तंत्र का उद्देश्य किसी देश को केवल सामरिक, आर्थिक रूप से लूटना ही नहीं, बल्कि उसकी परंपरा एवं संस्कृति को नष्ट करके उसे सदियों तक उपनिवेशित बनाये रखना होता है। भारत के संदर्भ में भी यही नीति अपनाई गयी। इस संदर्भ में के. एन. पनिक्कर का वक्तव्य हम पहले उद्धृत कर चुके हैं।

मेरीगंज का पुराना नाम क्या था, यह पता नहीं चलता, "कहा जाता है एक बार एक किसान के मुँह से गलती से इस गाँव का पुराना नाम निकल गया, बस और जाता कहाँ है? साहब ने पचास कोड़े लगवाए थे, गिनकर। इस गाँव का पुराना नाम अब किसी को याद नहीं अथवा आज भी नाम लेने में एक अज्ञात आशंका होती है।"²⁵ नया नाम कब पड़ा, इसकी सूचना अवश्य मिल जाती है— "आज से करीब पैंतीस साल पहले जिस दिन डब्ल्यू जी० मार्टिन ने इस गाँव में कोठी की नींव डाली, आस-पास के गाँव में ढोल बजाकर ऐलान कर दिया... आज से गाँव का नाम हुआ मेरीगंज। मेरी मार्टिन की नई दुल्हन थी जो कलकत्ता में रहती थी।"²⁶ इससे ज्ञात होता है कि औपनिवेशिक शासन में देसी जगहों का नाम-परिवर्तन शासकों के लिए कितना सहज-सुलभ था कि उसे कोई भी गोरा कभी भी परिवर्तित कर सकता था। लेकिन ब्रिटिश उपनिवेशवादी तंत्र की नीतियाँ पूरी तरह शोषण में पगी थीं। मार्टिन की बीवी मेरी को वह गाँव रास न आया। मेरी को गाँव आते ही मलेरिया ने जकड़ लिया और वह चल बसी। मार्टिन अपनी पत्नी की याद में गाँव की भलाई के लिए 'एक छोटी सी डिस्पेंसरी की मंजूरी के लिए ज़मीन-आसमान एक करता रहा' पर अंग्रेज सरकार भला गाँव वालों की भलाई क्यों चाहने लगी। मार्टिन की यूरोपियन बीवी तो मर गयी, अब डिस्पेंसरी खोलकर क्या फायदा होता। मार्टिन बेचारा डिस्पेंसरी खुलवाने के लिए पटना से दिल्ली दौड़ते-दौड़ते मर गया। उपनिवेशित देश को हरसंभव तरीके से आधुनिक, वैज्ञानिक, तर्कशील तथा सभ्य बनाने के औपनिवेशिक व्यवस्था के तमाम दावे खोखले साबित होते हैं।

उपन्यास ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन के इन्हीं खोखले दावों की पोल खोल देता है। औपनिवेशिक शासन में केवल चिकित्सा-व्यवस्था ही नहीं संपूर्ण प्रशासन-व्यवस्था अत्यंत घटिया थी। शिक्षा-व्यवस्था की हालत भी दयनीय थी। उपन्यास इस स्थिति को भी दर्शाता है। “सारे मेरीगंज में दस आदमी पढ़े-लिखे हैं— “पढ़े-लिखे का मतलब हुआ अपना दस्तखत करने से लेकर तहसीलदारी तक की पढ़ाई। नए पढ़ने वालों की संख्या पंद्रह है।”²⁷ यह 1946 के भारत की तस्वीर है। मैकाले की शिक्षा-पद्धति को लागू करने के लगभग 110 साल बाद की स्थिति। इससे अंदाज़ा लगाना मुश्किल नहीं कि अंग्रेज़ी शिक्षा-व्यवस्था का उद्देश्य समुद्र किनारे बसनेवाले नगरों पर उनके मालगोदाम की संस्कृति के रख-रखाव के लिए क्लर्क तथा बाबू-वर्ग का निर्माण करना था, न कि भारतीय जनता को शिक्षा के अवसर प्रदान कर, उन्हें शिक्षित बनाना।

उपन्यास स्वराज आंदोलनकर्ताओं पर होने वाले औपनिवेशिक दमन का भी चित्र खींचता है। बालदेव महात्मा गाँधी का भक्त तथा ‘रामकृष्ण कांग्रेस आश्रम’ का कार्यकर्ता है। जेल जा चुका है। गाँव में मिलिट्री के आने मात्र की अफवाह से दहशत फैल जाती है। तभी यादव टोली के लोग बालदेव को रस्सी से बाँधकर ले आते हैं। उन्हें लगता है कि यह सुराजी (स्वराज की माँग करने वाला) है, अतः सरकार ज़रूर इन्हें ही पकड़ना चाह रही होगी। जो पकड़कर सरकार के हवाले कर देगा उसे इनाम भी मिलेगा। “फिरारी सुराजी को पकड़ने वालों को सरकार बहादुर की ओर से इनाम मिलता है। एक हजार, दो हजार, पाँच हजार....।

....हुजूर, यह सुराजी बालदेव गोप है। दो साल जेहल खटकर आया है; इस गाँव का नहीं चन्ननपट्टी का है। यहाँ मौसी के यहाँ आया है। खब्बड़ पहनता है, जैहिन्न बोलता है।”²⁸ ब्रिटिश राज में देशी (नेटिक्स) लोगों द्वारा स्वराज की माँग करने तथा अपने विचारों को स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त करने पर, पकड़ कर जेल में डाल दिया जाता था तथा उन पर तरह-तरह के अत्याचार किये जाते थे। उपन्यास औपनिवेशिक राज के इन्हीं कुकृत्यों से पाठकों को परिचित कराता है। लोकतांत्रिक समाज में किसी के ऊपर इनाम रखने का सीधा-सा मतलब है कि उस व्यक्ति से समाज को ख़तरा है। अतः सरकार को जनता की ही रक्षा हेतु उनकी मदद

चाहिए। जब जनता का सहयोग प्राप्त न होता, तो पैसे का लालच दिया जाता। लेकिन अपने ही वतन में अपने अधिकारों की माँग करने वालों, स्वराज की माँग करने वालों का दमन करना लोकतंत्र का मज़ाक़ उड़ाना है। स्थिति तब और अधिक सोचनीय हो जाती है, जब अपने को लोकतंत्र का वाहक कहने वाला ही ऐसे कुकृत्यों को अंजाम देता है। वस्तुतः लोकतंत्र की आड़ लेकर साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपने आर्थिक तथा वर्चस्ववादी मंसूबों को पूरा करने की फ़िराक़ में रहती हैं। औपनिवेशिक शासन काल में ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भी पग-पग पर लोकतंत्र की धज्जियाँ उड़ाईं। तब औपनिवेशिक सरकार को सबसे बड़ा ख़तरा गाँधी, उनके चिंतन तथा दर्शन से था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि गाँधी का चिंतन एवं दर्शन इतना व्यापक था कि पूरा देश उसमें सम्मिलित हो गया था। उपन्यास इन्हीं राजनीतिक-ऐतिहासिक स्थितियों का पड़ताल करता है। स्वराज में भाग लेने वालों पर ब्रिटिश अत्याचार की इतिहा, बालदेव जैसे छोटे-से कार्यकर्ता के माध्यम से समझी जा सकती है— “...मोमेंट में जब गोरा मलेटरी हमको पकड़ा तो मारते-मारते बेहोस कर दिया। पानी मांगते थे तो मुँह में पेशाब कर दिया था...।”

“...लेकिन प्यारे भाइयो, हमने भारथमाता का नाम, महतमा जी का नाम लेना बंद नहीं किया। तब मलेटरी ने हमको नाखून में सूई गड़ाया, तिस पर भी हम इसलिस (चू-चपड़) नहीं किया। आखिर हारकर जेलखाना में डाल दिया। आप लोग तो जानते ही हैं कि सुराजी लोग जेहल को क्या समझते हैं—“जेहल नहीं ससुराल यार हम बिहा करने को जायेंगे।” मगर जेहल में अंगरेज सरकार हम लोगों को तरह-तरह की तकलीफ़ देने लगा। भात में कीड़ा मिला देता था, घास-पात का तरकारी देता था...।”²⁹

उपन्यास की केंद्रीय चिंता यह दिखायी पड़ती है कि औपनिवेशिक शासन के अंत के बाद देश का नेतृत्व पूर्ववर्ती औपनिवेशिक शासन का ही दूसरा रूप तो न होगा? गाँधी के स्वराज का सपना क्या हकीकत में बदल जाएगा? बुजुर्ग राष्ट्रवादी वर्ग की भूमिका क्या वास्तव में जनहितकारी है? नये लोकतांत्रिक भारत में क्या ग़रीबों को उनका हक़ मिल पाएगा? कहीं ये आज़ादी झूठी तो नहीं— ऐसे कई सवाल हैं, जिनसे यह उपन्यास जगह-जगह टकराता है। बावनदास तथा बालदेव

छोटे किन्तु सच्चे कांग्रेसी कार्यकर्ता हैं। उनका भारत माता, गाँधी जी, जवाहर लाल नेहरू, राजेंद्र प्रसाद पर पूरा यकीन है, लेकिन कांग्रेस पार्टी इन्हें महत्त्व नहीं देती। यह उपन्यास उस स्वतंत्रता-संघर्ष में आज़ादी दिलाने वाली पार्टी के तौर पर चिह्नित पार्टी की भूमिका पर प्रश्न-चिह्न लगाता है। कांग्रेस पार्टी सच्चे कार्यकर्ताओं को नज़रअंदाज़ करके अंग्रेज़ सरकारपरस्त पूंजीपतियों तथा बिचौलियों को प्रश्रय देने लगी। बावनदास कहता है—“बिलैती कपड़ा के पिकेटिन के जमाने में चानमल सागरमल के गोला पर पिकेटिन के दिन क्या हुआ था, सो याद है तुमको बालदेव? चानमल मड़बाड़ी के बेटा सागरमल ने अपने हाथों सभी भोलटियरों को पीटा था; जेहल में भोलटियरों को रखने के लिए सरकार को खर्चा दिया था। वही सागरमल आज नरपत नगर थाना कांग्रेस का सभापति है। और सुनोगे?... दुलारचंद कापरा को जानते हो न? वही जुआ कंपनीवाला, एक बार नेपाली लड़कियों को भगाकर लाते समय जो जोगबनी में पकड़ा गया था। वह कटहा थाना का सिकरेटरी है।... भारतमाता और भी जार-बेजार रो रही है।”³⁰ बावनदास बहादुर है। पूरी निष्ठा से गाँधी की कठोर परीक्षा— सत्य की परीक्षा तथा सत्याग्रह की परीक्षा— में खरा उतरा है। उसका क्षोभ तथा असंतोष नेतृत्व की भूमिका पर प्रश्न खड़ा करता है क्योंकि इस नेतृत्व में देश आज़ाद तो हो जायेगा पर सच्चा स्वराज न मिल पाएगा। देश की हालत जस-की-तस रहेगी। उपन्यास के खंड— दो का पहला भाग एक प्रश्न से आरंभ होता है— “सुराज मिल गया?”

“अभी मिला नहीं है, पंद्रह तारीख को मिलेगा। ज़्यादा दिनों की देर नहीं, अगले हफ़्ता में ही मिल जाएगा। डिल्ली में बातचीत हो गयी...हिन्दू लोग हिन्दुस्थान में, मुसलमान लोग पाखिस्थान में चले जायेंगे।”³¹

1950-60 के दशक में दुनिया के अधिकांश देश जब औपनिवेशिक चंगुल से निकले तो आधे-अधूरे निकले। औपनिवेशिक शासनतंत्र जाते-जाते अपना कुत्सित कर्म करता गया। देशों को टुकड़ों में बाँटता गया। फलस्वरूप कागज़ पर नक्शे बनते गए, हमवतन लोगों का ज़ेहन बँटता गया। चेतना में फाँक पड़ती गयी। “इस तरह हिन्दुस्तान से भी जाते हुए अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद ने देश के बँटवारे का अपना जाना पहचाना विदाई का तोहफ़ा दिया।” इस पर ‘आज का भारत’ के

अनुवादक रामविलास शर्मा की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है— “सांप्रदायिक खून-खराबे के माहौल में हिंदुस्तान के बंटवारे के पीछे की साम्राज्यवादी साजिश को उजागर करता मशहूर पत्रकार दुर्गादास की किताब ‘इंडिया फ्राम कर्जन टू नेहरू एंड आफ्टर, लंदन, 1969, पेज 255 का यह उद्धरण गौर करने लायक है: हिंदुस्तान के बंटवारे (पाकिस्तान के निर्माण में) ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल ने एक अहम भूमिका निभाई थी जिससे लोग उस समय अनजान थे। महायुद्ध छिड़ जाने के बाद चर्चिल की समझ में आया कि हिंदुस्तान को हमेशा में लिए बरतानी हुकूमत के अधीन रखना नामुमकिन होगा और तब जैसा कि सम्राट जार्ज-III ने अपनी किताब ‘हीज लाइफ एंड रेडन’ में लिखा है, उसने तयकर लिया कि, “युद्ध के बाद हिंदुस्तान को कुत्सित हिंदुस्तानियों को सौंप दिया जाए। साथ ही चर्चिल और उसके सहयोगियों ने तय किया कि इस नुकसान में जो कुछ भी बच सके, बचा लिया जाए और इसी नीयत के साथ जिन्ना को “तश्तरी पर रखकर पाकिस्तान” पेश किया गया। पाकिस्तान उन्हें (अंग्रेजी साम्राज्यवाद) उपमहाद्वीप में अपनी पैठ बनाने का मौका प्रदान कर सकता था।”³² इसका प्रभाव अनेक कलाकारों पर पड़ा। रेणु सजग कलाकार थे। अतः उपन्यास औपनिवेशिक तंत्र के नापाक मंसूबों के परिणामों एवं दुष्प्रभाव को चित्रित करता है। आज़ादी झूठी साबित हो गयी तथा स्वराज केवल नारा भर रह गया। उपन्यास में दो ऐसे प्रसंग हैं जो स्वराज तथा आज़ादी को स्पष्ट करते हैं। पहला प्रसंग स्वराज को स्पष्ट करता है। स्वतंत्रता-संघर्ष के दौरान स्वराज की अवधारणा को नारेबाज़ी में ढाल दिया गया था। गाँधी का स्वराज चिंतन ऊपरी आज़ादी या राजनीतिक रूप से मुक्ति के रूप में व्याख्यायित किया गया। अतः पिछड़े गाँवों के लोग स्वराज से क्या समझते हैं, विडंबनात्मक हास्य-स्थिति उत्पन्न करता है—

“मुसलमानों का हिस्सा सुराज पाखिस्थान में चला जायेगा?”

“....एकदम काटकर हिस्सा लेगा?”

“हाँ जब हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई है तो भैयारी हिस्सा तो रकम आठ आना के हिसाब से ही मिलेगा।”

“बावनदास कहता है॰” अरे सुराज क्या कद्दू कोहड़ा है जो काटकर बँटेगा?”

“कीर्तन की बात छोड़ो। सुराज माने... बावनदास जी समझाते हैं “सुराज माने अपना राज, भारथवासी का राज। अब अंगरेज लोग यहाँ राज नहीं कर सकते।... ए अंगरेजो! भारत छोड़ो क्यों कहा था गांधी जी ने ? इसीलिए।”

“अपने गाँव का तो राज तहसीलदार साहब को ही मिलेगा। राज परबंगा के तहसीलदार हरगौरी तो अब है नहीं।”³³

एक अन्यत्र प्रसंग भी है जो आमजन को इस त्रासद स्थिति की कितनी समझ थी, वर्णित करता है— “...डिल्ली में बाटबँखरा करके सुराज मिल गया। जै! जै! इसलामपुर पाखिस्थान में रहेगा या हिन्दुस्थान में? पाखिस्थान में? बड़े भाग से मेरीगंज बच गया। दस मुसलमान भी होते तो पाखिस्तान लेकर ही छोड़ता।”³⁴

कुछ इसी तरह का प्रसंग राही मासूम रज़ा के उपन्यास ‘आधा गाँव’ में देखने को मिलता है, जहाँ छिकुरिया पूछता है कि पाकिस्तान क्या मसजिद वगैरह है? गाँव वालों की मुख्य चिंता बस यही है कि गंगौली किधर रहेगा— पाकिस्तान में या हिन्दुस्तान में। वहाँ भी आज़ादी, विभाजन आदि से जनता क्या समझती थी, दिखलाया गया है।

‘मैला आँचल’ में दूसरा प्रसंग स्वराज उत्सव के वक़्त घटित होता है जब कीर्तन, ढोल बाजे के बीच एक व्यक्ति यह नारा उछालता है कि ‘यह आज़ादी झूठी है, देश की जनता भूखी है।’ गाँव वाले बहुत नाराज़ होते हैं कि यह कौन है, कहाँ का है, पकड़ो इसे। बाद में पता चलता है कि यह व्यक्ति औराही—हिंगना का है। कहीं यह स्वयं उपन्यासकार तो नहीं? वह भी औराही—हिंगना गाँव का रहने वाला है।³⁵ वह पात्र लेखक हो या न हो, लेकिन उसका नारा स्पष्टतः यह संकेत देता है कि ऐसी आज़ादी से स्वराज तो क़तई हासिल न होगा। देश की हालत वही रहेगी।

दूसरे खंड के भाग— दो का पहला वाक्य है— ‘मुकद्दमा में भी सुराज मिल गया। सभी संथालों को दामुल हौज हो गयी।’³⁶ स्वराज मिलने तथा अपने ही ज़मीन से बेदखल ग़रीब, दलित, आदिवासी संथालों को आजीवन कारावास मिलने को समानांतर रूप से घटित होता दिखाकर उपन्यास अपना आशय प्रकट कर देता है। आज़ादी को लेकर देश संशकित था। बावनदास जैसे सच्चे लोग भी संशकित थे— “बावनदास को अब अपने पर भी परतीत नहीं होता है। ...बालदेव जी कहते हैं

चित्त चंचल हो गया है बौनदास का, और थोड़ा भरमा भी गया है। बस, सिरिफ गांधी जी पर भरोसा है बावन का। ...बापू सब पार लगायेंगे।... लेकिन उसके दिल में न जाने क्या समा गया है कि हर बात का खराब रूप ही पहले देखता है। संदेहात्मक दृष्टिकोण से ही वह सारी दुनिया को परखता है। बापू ने चिट्ठी का जवाब दिया है— “भगवान बावनदास जी! आप ही धीरज छोड़ दोगे तो भक्तजनों का क्या होगा?... बावन कठहँसी हँसते हुए कहता है, “गंगुली जी! बापू को देखिए। .. अब हम क्या करें। मन में संदेह होता है, दिल उदास हो जाता है। फिर आदमी को अपने काम पर भी बिसवास कैसे हो।”³⁷ देश में हिंदू—मुसलमान दंगे भड़क उठे हैं। गाँव में यह ख़बर आती है। इसका कोई ख़ास प्रभाव नहीं पड़ता है। कारण कि गाँव में एक भी मुसलमान परिवार नहीं है। हालाँकि यहाँ हिंदू फ़ासिज़्म का प्रवेश हो गया है। फिर भी मुसलमान परिवार न होने से यहाँ बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक तनाव दिखायी नहीं देता है। अंत में एक जुमराती मियाँ के माध्यम से बहुत ही क्षीण किस्म का यह तनाव दिखलाने की कोशिश भर की है।

आज़ादी मिल तो गयी, लेकिन उसकी चादर जगह—जगह से फट गयी, मैली हो गयी। फ़ैज़ ने कहा— “ये दाग—दाग उजाला, ये शब गज़ीदा सहर/ वो जिसकी हमें उम्मीद थी, ये वो सेहर तो नहीं।” यहाँ भी माँ का आँचल मैला हो गया है। यह शीर्षक (मैला आँचल) अनायास ही पंत की कविता से नहीं लिया गया, बल्कि इसके पीछे एक पूरी प्रक्रिया का निहितार्थ छुपा है। मुक्तिबोध के ‘चाँद का मुँह ढेढ़ा है’ में भी यही व्यंजित होता है। स्वराज—संघर्ष में ईमानदारी से लड़ने वालों को हाशिये पर ढकेल दिया गया। बालदेव सत्संग करने लगा। वह कंठी पहन लेता है। गाँधीजी भी हिंदू फ़ासिज़्म के हाथों मारे जाते हैं। गाँधीजी के श्राद्ध वाली रात को सच्चा गाँधीवादी बावनदास की कटहा कांग्रेस सेक्रेटरी दुलारचंद कापरा निर्मम हत्या करवा देता है। कांग्रेस आश्रम ‘रामकिशन आदर्श आश्रम’ में बिलेक मारकेटियों के साथ कचहरी में घूमने वाला छोटन बाबू का राज है। छोटन बाबू ने ही डा0 प्रशांत को कम्युनिस्ट बताकर गिरफ़्तार करवाया है। चरखा—सेंटर टूट जाता है। शहर नखलौ (लखनऊ) वाली बाई का नाच होता है। कटिहार में जूटमिल खुल जाती है। गाँववासी शहर जाने को लालायित हो जाते हैं। मजूरी करने के लिए गाँव को छोड़ देते हैं। तहसीलदार पाँच—हजार मन धान के मालिक हो जाते हैं। वासुदेव तथा सोशलिस्ट कालीचरन की पार्टियाँ भी उन्हें दगा दे जाती हैं। सभी समीकरण—गठजोड़ असफल हो जाते हैं।

फ्रांज़ फ़ैनन ने अपने लेख "The Pit falls of National Conscience" में आगाह किया कि केवल आज़ादी पा जाना ही उपनिवेश-विरोधी संघर्ष का असल मक़सद नहीं है, बल्कि एक नयी शुरुआत करना है। सच्ची आज़ादी हासिल करनी होगी, जो औपनिवेशिक विमर्शों, तंत्रों, व्यवस्थाओं, संगठनों से मुक्त स्थानीय जनता तथा संस्कृति के लिए एक उम्मीद जगाती हो। लेकिन होता इसके विपरीत ही है। देसी बुर्जुवा, नेतृत्व को अपने हाथों में ले लेता है। वह केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति करता है तथा सत्तागत राजनीति या आधिपत्य (Hegemony) को बनाए रखने की तिकड़म करता है। बावनदास कहता है— "नहीं बालदेव, छोटनबाबू जैसे छोटे लोगों की बात जाने दो। यह बेमारी ऊपर से आई है। यह पटनियाँ रोग है।... भूमिहार, राजपूत, कैथ, जाटव, हरिजन से लड़ रहे हैं।... अगले चुनाव में तिगुना मेले चुने जायेंगे। किसका आदमी ज्यादा चुने जाए, इसी की लड़ाई है। यदि राजपूत पार्टी के लोग ज़्यादा आए तो सबसे बड़ा मंत्री भी राजपूत होगा।..."

फिर आगे कहता है— "सब पार्टी समान। उस पार्टी में भी जितने बड़े लोग हैं, संतरी बनने के लिए मार कर रहे हैं। सब मेले-मंत्री होना चाहते हैं बालदेव। देस का काम, ग़रीबों का काम, चाहे मजूरों का काम, जो भी कहते हैं एक ही लोभ से....।"³⁸ मध्यवर्ग इन सबका विरोध करने की कोशिश करता है, किंतु अपनी सीमाओं को लौंघ पाने में अपने को असमर्थ पाता है। मुक्तिबोध के यहाँ मध्यवर्ग के इस व्यक्ति की कमज़ोरी का त्रासद वर्णन है, खासकर 'अंधेरे में' कविता में। इन सबके कारण देश एक नये प्रकार की गुलामी में जकड़ जाता है। फ़ैनन इसे नव-उपनिवेशवाद कहते हैं। लेखक का कर्तव्य है (फ़ैनन के अनुसार) कि वह इस औपनिवेशिक मानसिकता वाले देसी नेतृत्व पर पैनी निगाह रखे तथा उसको उजागर करे जिससे विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया शुरू हो सके। इस विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया से गुज़र कर ही स्वराज की प्राप्ति हो सकती है।

उपन्यास के अंत में पश्चिमी साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के बरअक्स भारतीय मानवतावाद का विमर्श आइने की तरह साफ़ हो जाता है। उपन्यास का प्रमुख पात्र प्रशांत सोचता है— "लेबोरेटरी!...विशाल प्रयोगशाला। ऊँची चहारदीवारी में बंद प्रयोगशाला।...साम्राज्य लोभी शासकों की संगीनों के साये में वैज्ञानिकों के

दल खोज कर रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं।...गंजी खोपड़ियों पर लाल-हरी रोशनी पड़ रही है। मारात्मक, विध्वंसक और सर्वनाशा शक्तियों के सम्मिश्रण से एक ऐसे बम की रचना हो रही है जो सारी पृथ्वी को हवा के रूप में परिणत कर देगा... ऐटम ब्रेक कर रहा है मकड़ी के जाल की तरह। चारों ओर एक महा अंधकार। सब वाष्प। प्रकृति-पुरुष...अंड-पिंड। मिट्टी और मनुष्य के शुभचिंतकों की छोटी-सी टोली अंधेरे में टटोल रही है। अंधेरे में वे आपस में टकराते हैं।

...वेदांत.... भौतिकवाद... सापेक्षवाद.... मानवतावाद!... हिंसा से जर्जर प्रकृति हो रही है। व्याध के तीर से ज़ख्मी हिरण-शावक-सी मानवता को पनाह कहाँ मिले?... .. हा-हा-हा। अट्टाहास! व्याधों के अट्टाहास से आकाश हिल रहा है। छोटा-सा, नन्हा-सा हिरण हाँफ रहा है.... नीलोत्पल! नहीं-नहीं। यह अंधेरा नहीं रहेगा।... तेजोमय! क्षत-विक्षत पृथ्वी के घाव पर शीतल पर चंदन लेप रहा है। प्रेम और अहिंसा की साधना सफल हो चुकी है।... उसको पराजित करना असंभव है, प्रचंड शक्तिशालों बमों से भी नहीं। पागलों। आदमी आदमी है, गिनीपिग नहीं।.... सबारि ऊपर मानुस सत्य।”³⁹

हमें इसको समझना होगा। उत्तर औपनिवेशिक पद की भारतीय उपादेयता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए जसबीर जैन का कहना है कि हमारे अप्रवासी भारतीय उत्तर औपनिवेशिक मनीषा जैसे गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक, होमी. के. भाभा या यहीं रहने वाले ऐजाज़ अहमद आदि देरिदा, फूको तथा मार्क्स आदि के दर्शन को ही प्रतिष्ठित करते हैं। हमें इनका भारतीय विकल्प ढूँढना चाहिए जैसे महात्मा गांधी तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि का चिंतन। जसबीर जैन अपने लेख 'Postcoloniality, Literature and Politics' के नोट्स सं० 3 तथा 12 में कहती हैं— “आइमे सेज़ायर का काम पचास के दशक में सामने आया, लेकिन वह फ्रांज़ फ़ैनन थे, जिनकी कृति को ख्याति मिली। भारतीय परिदृश्य में देखें तो इसी तरह अनेक चिंतक तथा लेखक थे, जिनका काम प्रतिरोधी रणनीतियों तथा बहुवैकल्पिक ढाँचे के निर्माण के लिए कारगर था, किंतु इस परंपरा की तलाश नहीं की गयी। गाँधी का ‘हिंद स्वराज’ इसी प्रकार की एक कृति है।” साथ ही जसबीर जैन यह भी कहती हैं— “भारतीय सिद्धांतकारों ने प्रत्येक बात को ध्यान में रखते हुए, चाहे देश या विदेश में

रहते हुए, पश्चिमी फ्रेम का ही प्रयोग किया या पश्चिमी आलोचना को ही इंगित किया। उदाहरण के लिए गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक ने काम के जिस तरीके को चुना वह देरिदा का विखंडनवाद था, भाभा ने फूको के हीटरोग्लोशिया के सिद्धांत पर अपने ढाँचे का निर्माण किया तथा एज़ाज अहमद, सईद की ओरियंटलिज़्म की मार्क्सवादी आलोचना में ही उलझे रहे। भारत में जिस संवाद को समानांतर रूप से चलने की आवश्यकता थी उसकी दिशा बहिर्गामी हो गयी।⁴⁰ कहना न होगा कि उपन्यास अंत में जिस भारतीय चिंतन— अहिंसा, प्रेम, 'सबारि ऊपर मानुस सत्य' को स्थापित कर रहा है, वह गाँधी के भारतीय चिंतन एवं दर्शन का ही रूप है। गाँधी 'हिंद स्वराज्य' में लिखते हैं— "पाठक... हमारे पास उनकी तरह गोलाबारूद हो तब वैसा जरूर हो सकता है। लेकिन उन लोगों के पास जितनी सत्ता जब अंग्रेज हमें देंगे, तब हम अपना ही झंडा रखेंगे। जैसा जापान वैसा हिन्दुस्तान। अपना जंगी बेड़ा, अपनी फौज और अपनी समृद्धि होगी। और तभी हिन्दुस्तान का सारी दुनिया में बोलबाला होगा।

संपादक : यह तो आपने अच्छी तस्वीर खींची। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें अंग्रेजी राज्य तो चाहिए, पर अंग्रेज (शासक) नहीं चाहिए। आप बाघ का स्वभाव तो चाहते हैं, लेकिन बाघ नहीं चाहते। मतलब यह हुआ कि आप हिन्दुस्तान को अंग्रेज बनाना चाहते हैं। और हिन्दुस्तान जब अंग्रेज बन जाएगा तब वह हिन्दुस्तान नहीं कहा जाएगा, लेकिन सच्चा इंग्लिस्तान कहा जाएगा। यह मेरी कल्पना का स्वराज्य नहीं।⁴¹

यही कारण है कि औपनिवेशिक तंत्र के समस्त छंद—फंद तथा कुटिल कार्य—व्यापारों, वर्ग—संघर्षों, सत्ता—समीकरणों, कृत्सित राजनीति, अंधविश्वासों, जातिवाद आदि के ऊपर अंत में सबारि ऊपर मानुस सत्य, प्रेम, अहिंसा, मानवतावाद आदि— को प्रतिष्ठित करने का प्रयास दिखायी देता है। डा. प्रशांत आखिरकार जेल से छूट जाता है, कमली से उसका पुत्र उत्पन्न होता है— नीलोत्पल। तहसीलदार जो पहले कहते थे— "जिस दिन धनी, जमींदार सेठ और मिलवालों को लोग राह चलते कोढ़ी और पागल समझने लगेंगे उसी दिन, उसी दिन असल सुराज हो जाएगा। आप कहते हैं कि ऐसा जमाना आवेगा।"⁴² अंत में खुद ही जमाने के आगे

घुटने टेक देते हैं। अपनी काश्तकारी को बाँटते हैं— “सुमिरत दास। लोगों से कह दो... हरेक परिवार को पाँच बीघा के दर से जमीन में लौटा दूँगा।... और सन्थाल टोली में जाकर कहो... वे लोग भी आकर रसीद ले जाएँ। एक पैसा सलामी या नजराना, कुछ भी नहीं।”⁴³

“...एक इंच जमीन के लिए हायकोट तक मुकद्दमा लड़ते हैं लोग। और मैं सौ बीघे जमीन दे रहा हूँ। पागल तो तुम लोग हो। अरे यह जमीन तो उन्हीं किसानों की है, नीलाम की हुई, जब्त की हुयी, उन्हें वापस दे रहा हूँ।”⁴⁴ किसानों और आदिवासियों का संघर्ष, कमली तथा प्रशांत का संघर्ष, मानवतावादी पक्ष, अंततः आशा की किरण जगाता है। पुरानता के प्रति नूतनता का आग्रह उपन्यास को भविष्योन्मुखी भंगिमा प्रदान करता है।

न केवल अंतर्वस्तु के स्तर पर वरन् रूप के स्तर पर भी उपन्यास परंपरागत पश्चिमी उपन्यास की सैद्धांतिकी के समक्ष एक भारतीय औपन्यासिक सैद्धांतिकी को पेश करता है, जो विकल्पहीनता के विरुद्ध है, लचीला है, अनेक स्तरीय एवं खुला हुआ है। इसकी ठेठ देशीयता विश्व नागरिकतावादी विचारधारा के सामने चुनौती की तरह खड़ी है। वह चाहे जितनी पिछड़ी हुई हो, उसकी जड़ें हैं, परंपरा है, सांस्कृतिक समृद्धि है और इन्हीं कारणों से वह सजीव तथा भिन्न है।⁴⁵ रसूल हमज़ातोव (मेरा दागिस्तान) की एक बात इस संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है कि “निश्चय ही हम कवि (रचनाकार) सारी दुनिया के लिए उत्तरदायी हैं, मगर जिसे अपने पर्वतों से प्यार नहीं, वह सारी पृथ्वी का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। मुझे तो वह उस आदमी जैसा लगता है जो अपना घर—घाट छोड़कर किसी दूसरी जगह चला जाए, वहाँ शादी कर ले और सास को माँ कहने लगे। मैं सासों के खिलाफ नहीं हूँ, मगर अपनी माँ को छोड़कर कोई दूसरी माँ नहीं हो सकता।”⁴⁶ और साथ ही यह भी कहते हैं कि, “साहित्य जब अपने बाप—दादों की खुराक छोड़कर पराये, बढ़िया विदेशी भोजनों के फेर में पड़ जाता है, जब वह अपनी जनता की परंपराओं और रीति—रिवाजों, भाषा और मिज़ाज से नाता तोड़ लेता है, उसके साथ विश्वासघात करता है, तब वह बीमार पड़ जाता है और कोई भी दवाई उसे बचा नहीं सकती।”⁴⁷ ‘मैला आँचल’ अपनी मिट्टी से गहरे जुड़ा है। न केवल गाँव की

मोहकता, अपितु उसके कटु यथार्थ से भी जुड़ा है। उपन्यास को उसकी मिट्टी से जोड़ने वाली वस्तु है उसका रूप, उसकी भाषिक-संरचना। यद्यपि इसकी भाषिक-संरचना तथा रूप को लेकर काफी बहस हो चुकी है। अपने शोध-प्रबंध 'उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य' में प्रणय कृष्ण इस बहस को उल्लिखित करते हैं और निर्मल वर्मा के रूपवाद के बरक्स सुरेन्द्र चौधरी के यथार्थवाद का या नामवर सिंह के रूपवाद के बरक्स मैनेजर पाण्डेय के यथार्थवाद का समर्थन करते प्रतीत होते हैं।⁴⁸ इस बहस में न पड़ते हुए इतना ही कहना है कि उपन्यास की मार्क्सवादी/यथार्थवादी या रूपवादी अवधारणा पश्चिमी फ्रेम के एक रैखिक अवधारणा के साथ औपनिवेशिक मानस का ही प्रतिबिंबन है। जैसा कि डा. आशुतोष कुमार का कहते हैं, "...लेकिन क्या सचमुच हमारे पास रोमांस-यथार्थ तथा पश्चिम-भारत जैसे विपरीत युग्मों की द्वैवैकल्पिकता से बाहर जाने की कोई राह नहीं है? शाश्वत प्रतीत होने वाले ये विपरीत युग्म स्वयं औपनिवेशिक ज्ञान मीमांसा की देन हैं। हिन्दी उपन्यास के अध्येता के लिए भारतीय उपन्यास की एक स्थिर भारतीय परिभाषा निर्मित करना अधिक प्रासंगिक है अथवा उपन्यासों में व्यक्त 'भारत' को समझने का यत्न करना?"⁴⁹

'मैला आँचल' की भाषिक-संरचना में लोकगीतों, दोहों, श्लोकों आदि पर ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि कथा (नैरेटिव) का विकास उसके बिना अधूरा है। ये सब मिलकर एक खास किस्म के मौखिक व्याख्यानात्मक विमर्श का वातावरण निर्मित करते हैं, जो पूरी तरह समुदाय-बोध पर अवलंबित होता है। लक्ष्मी-बालदेव के प्रसंग में कबीर के बीजक-पदों का प्रयोग या कमली-प्रशांत के प्रेम-संबंध में विद्यापति के गान तथा गीता के श्लोकों का प्रयोग या प्रशांत के गाँव को देखकर भावुक हो जाने के संदर्भ में पंत की पंक्तियों का प्रयोग या देश-दुर्दशा पर तत्कालीन बनाए गए गीत, ऋतु संबंधी गीत, कीर्तन-भजन आदि का प्रयोग संस्कृति तथा साहित्यिक विधाओं के संबंध को व्यक्त करता है। होली के अवसर पर इसमें प्रयुक्त दो लोकगीतों का उदाहरण देना औचित्यपूर्ण होगा कि कैसे उनका इस्तेमाल शोषण तथा जातिवाद, ब्राह्मणवाद के विरुद्ध हुआ है। वस्तुतः उपन्यास यहाँ लोकगीतों के माध्यम से ही नैरेट करता है—

“बरसा में गड़ढे जब जाते हैं भर
 बेंग हजारों उसमें करते हैं टर्
 वैसे ही राज आज कांग्रेस का है
 लीडर बने हैं सभी कल के गीदड़... जोगी जी
 सर... र र...!
 जोगी जी ताल न टूटे
 जोगी जी, तीन—ताल पर ढोलक बाजे
 जोगी जी, ताक धिनाधिन!
 चर्खा कातो, खध्धड़ पहनो, रहे हाथ में झोली
 दिन दहाड़े करो डकैती बोल सुराजी बोल...
 जोगी जी सर... र र...।”⁵⁰

यहाँ उपन्यास केवल लोकगीत का सहारा लेता है। इसके माध्यम से उपन्यास तत्कालीन कांग्रेस पार्टी के पूँजीवाद में परिवर्तित होते चरित्र को बेनकाब कर देता है।

होली के ही अवसर पर उपन्यास जातिवाद एवं छूआछूत पर करारा व्यंग्य करता है—

“ढाक ढिन्ना, ताक ढिन्ना!
 अरे हो बुड़बक बभना, अरे हो बुड़वक बभना
 चुम्मा लेवे में जात नहीं रे जाए।
 सुपति—मउनियाँ लाए डोमनियाँ माँगे पियास से पनियाँ
 कुआँ के पानी न पाए बेचारी, दौड़ल कमला के किनरियाँ
 सोही डोमनियाँ जब बनती नटिनियाँ, आँखों के मारे पिपनियाँ
 तेकरे खातिर दौड़त बौड़हवा, छोड़के घर में बभनिया।
 जोलहा धुनिया तेली तेलनियाँ के पीय न छुअत पतियाँ
 नटिनी के जोबना के गंगा—जमुनुवा में डुबकी लगाके नहनिया
 दिन भर पूजा कर आसन लगा के पोथी—कुरान बचनियाँ
 रात के ततमाटोली के गलियन में जोतखी जी पतरा गननियाँ
 भकुआ बभना, चुम्मा लेवे में जात नहीं रे जाए।”⁵¹

ब्राह्मणवादी संस्कृति के ढकोसलों को यह लोकगीत जिस सहजता से उघाड़कर रख देता है, वही उपन्यास की भाषिक-संरचना की ताकत है। संभवतः इन लोकगीतों का सहज-स्वाभाविक रूप में प्रयोग ही उपन्यास को ठेठ देशीयता/भारतीयता का बाना पहनाता है।

यह भारतीयता/ठेठ देशीयता बनाम विश्व नागरिकतावादी/सार्वभौमिकतावाद की जटिल बहस उत्तर उपनिवेशवाद बनाम उपनिवेशवाद का ही एक रूप है। जसबीर जैन का मानना है कि औपनिवेशिक स्थितियों में सार्वभौमिकता की बात करना एक तरह से औपनिवेशिक चाल में ही फँस जाना है, क्योंकि औपनिवेशिक समाज ने अपनी मानवीयता पर बल देते हुए जिस सार्वभौमिकतावाद की अवधारणा को स्वीकार किया, उसने साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के विस्तार के तर्क को ही पुष्ट किया— “अपनी मानवीयता पर बल देने के लिए उपनिवेशिक समाजों ने ‘सार्वभौमिकवाद’ के विचार को ग्रहण किया, जो कि साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के विस्तार के तर्क की मदद करता था।”⁵² ‘मैला आँचल’ अंतर्वस्तु एवं रूप दोनों स्तरों पर पश्चिमी अवधारणाओं को नकारते हुए एक भारतीय कसौटी को पेश करने की कोशिश करता है। इस उपन्यास की ताकत किसी निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने की प्रक्रिया को दर्शाने में नहीं बल्कि एक औपनिवेशिक देश के भीतर के परिवर्तन, जागरुकता तथा प्रतिरोध की प्रक्रिया को रेखांकित करने में है। इसीलिए उपन्यास का अनुभव—लोक बहुत बड़ा है तथा भविष्योन्मुखी है।

मय्यादास की माड़ी

‘मय्यादास की माड़ी’ हमारे दौर की एक महत्वपूर्ण कृति है। इसका प्रकाशन 1988 में हुआ। उपन्यास तीन खंडों में विभाजित है। इसमें 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पंजाब के एक बेनाम कस्बे की कथा व्याख्यायित है। उस समय ब्रिटिश अमलदारी भारत में अपने पाँव पसार रही थी।

उपन्यास पुरानी सामंतशाही व्यवस्था के नयी पूँजीवादी व्यवस्था में परिवर्तित होने का आख्यान है। पुरानी व्यवस्था का गौरवशाली अतीत है; उसकी अपनी परंपराएँ, स्मृतियाँ, मूल्य, अंधविश्वास, रूढ़ियाँ तथा संस्कार हैं, किंतु वह ढह रहे हैं। पुराना ज़माना जा रहा है। वह अब नहीं आएगा। नयी व्यवस्था का न तो अतीत है,

न परंपरा, न स्मृति और न मूल्य है। उसमें केवल पूँजी है, मुनाफ़ा है, ताक़त है। इन दोनों के बीच में कुछ विवेकशील आदर्शिकृत व्यक्तित्व हैं। साथ ही अंग्रेज़ी सरकार की औपनिवेशिक नीतियाँ हैं। उन नीतियों के प्रभावस्वरूप उपजी तनता की कानाफूसियाँ, किंवदंतियाँ तथा लोकवार्ताएँ हैं और इन सब के बीच औपनिवेशिक शोषण—व्यवस्था के खिलाफ़ समाज का प्रतिरोध भी है।

उपन्यास उपर्युक्त तमाम अंतर्विरोधों एवं दबावों को व्यक्त करता है। उपन्यास के विश्लेषण से पूर्व हमें इसके कथात्मक विकास को समझना होगा। उपन्यास शुरुआत में ही कह देता है — “अंगरेखे का चलन कस्बे में अंग्रेजों की अमलदारी कायम होने के साथ ही ख़त्म हो गया था और केसर रंग की पगड़ी केवल ब्याह—शादी के वक़्त सिर पर बांधी जाती थी।”⁵³ दीवान धनपत उपन्यास का प्रमुख पात्र है। पहले वह कस्बे वालों के लिए मज़ाक का पात्र था— “वह भी ज़माना था जब कस्बे में हर कोई इससे ठिठोली किया करता था।पर अब तो यह सचमुच दीवान बन चुका था, और जिस ‘माड़ी’ के चबूतरे पर बैठा गुड़गुड़ी के कश लगा रहा था, वह इसकी अपनी मिल्कियत थी, जबकि एक ज़माना था जब इसे इसी माड़ी में से निकाला गया था और इसका सामान बाहर गली में फ़िंकवा दिया गया था”, लेकिन अब वह अपनी माड़ी के चबूतरे पर “चैन से आरामकुर्सी पर दोनों टांगें चढ़ाए बैठा गुड़गुड़ी के कश ले सके और जब यह जान पड़े कि यह आदमी अंदर से तृप्त है, मनचाहा व्यवहार कर सकता है, उसे किसी की परवाह नहीं।”⁵⁴ अब यह सचमुच का दीवान बन चुका है। उपन्यास यहाँ संकेत देता है कि यह नया ज़माना अंग्रेजों का है। धनपत एक दिन डिप्टी कमिश्नर से मिलने जाता है—“.....और जब महीने में एक दिन डिप्टी कमिश्नर साहिब से मिलने जाता तो हारों की जगह नेकटाई लगाकर जाता था।”⁵⁵ कस्बे में रेलगाड़ी आ गयी है—“सुना है, रामजवाया को उसने अपना गुमाश्ता बना लिया है। जब से रेलगाड़ी चली है, उसके वारे—न्यारे हो गये हैं।”⁵⁶ भाग एक के अंत में यह भी सूचना मिल जाती कि ईसाई मिशनरी सक्रिय हो गये हैं— “जेहलम शहर से एक पादरी आया है जो यहां गिरजा बनाएगा। छोटे—छोटे बच्चों को बताशे बाँटता फिरता है। और दोनों देर तक आपस में खुसफुस करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे थे कि ‘कलियुग’ आ

गया है, पहले वाली बात नहीं रह गयी है।⁵⁷ दूसरे भाग में कस्बे की प्राचीनता का पता चलता है—“मशालों की अस्थिर रोशनी आसपास के घरों पर पड़ती तो दीवारों पर नाचते सायों के बीच किसी घर की टूटी हुई दीवार या दो सौ बरस पुराने दरवाजे पर की गयी बढ़िया नक्काशी या कहीं मलबे का ढेर या अधटूटे घर की छत पर से झाँकते चेहरे झिलमिला से उठते।”⁵⁸ इसी कारण कस्बा अतीत के गौरव में जीता था— “अतीत का गौरव कस्बे के लगभग सभी लोगों पर छिटका हुआ था। कुछ लोग दीवान कहलाते थे तो कुछ मलिक, कुछ रायजादे। ये सब अतीत से प्राप्त उनके बड़प्पन की निशानियां थी।”⁵⁹ ऐसे प्राचीन गौरवमयी अतीत प्रेमी कस्बे में अंग्रेजी बाजे का भी आगमन हो गया था— “कूदते काठ के घोड़े के पीछे बाजे—गाजे वाले थे—ढोल, मजीरा, तुरही, अंग्रेजी ‘तुतनी’ जिन्हें तीन आदमी फूले गालों के साथ एक साथ बजा रहे थे।”⁶⁰ यहां से लेकर पाँचवें भाग तक दीवान धनपत के मंझले पुत्र का मलिक मंसाराम की बेटी ‘पुष्पा’ तथा मानसिक रोगी बड़ा पुत्र ‘कल्ले’ का हरनारायण की दोहती रुक्मिणी के साथ विवाह की कथा वर्णित है। पाँचवें भाग में आंग्ल—सिक्ख युद्ध की थोड़ी सूचना मिल जाती है। धनपत का बूढ़ा टहलुवा बतलाता है— “बीबी जंग जो छिड़ गयी थी। सारा समां ही बदल गया था। मुझे याद है बड़े मालिक माड़ी में से सीधे निकल कर शीश महल की ओर गये थे। उस रात कस्बे में कोई नहीं सोया।”⁶¹ टहलुवा अतीत प्रेमी है। उसे पिछले ज़माने के चले जाने का क्षोभ है— “सब वक्त—वक्त की बात है” टहलुवा किसी गीत की आधार पंक्ति की तरह यह वाक्य बार—बार दोहराये जा रहा था।⁶² टहलुवा की स्मृति प्रबल होती जाती है। वह जंग के दिनों का गीत गाने लगता है। वह बतलाता है— “बहू रानी हम भी गीत बहुत गाते थे। उन दिनों सभी गाते थे। मनोहर, लेखराज, रामसिंह पिशोरी सभी गलियों में गाते फिरते थे। यही गीत गाते हुवे वे लोग लाहौर की तरफ निकल गये।”⁶³ यहां पहला खंड समाप्त होता है।

दूसरा खंड महत्वपूर्ण है। इसमें माड़ी तथा कस्बे के इतिहास के साथ ही ब्रिटिश अमलदारी के बसने तथा सिक्ख अमलदारी के उजड़ने की कथा दर्ज है। कस्बा अत्यंत प्राचीन है, सीधे मध्ययुग के घटाटोप में से निकल कर आया है। अतः यह अपने भीतर इतिहास के अनेक भग्नावशेष, स्मृतियाँ, किस्से—कहानियाँ,

किंवदंतियाँ समेटे हुए हैं।⁶⁴ माड़ी भी करीब सौ साल पुरानी थी।⁶⁵ जिसका पता अंग्रेज़ी अमलदारी के चिह्न के बाद भी मध्ययुगीन नक्काशी से चलता था— “कुछेक दरवाज़ों पर अभी भी मध्ययुगीन दरवाज़ों की जगह अंग्रेज़ी चलन के सपाट और सीधे दरवाजे लगा दिये गये हैं।”⁶⁶ यूँ तो माड़ी का निर्माण दीवान मथुरादास ने करवाया था, किंतु माड़ी की प्रतिष्ठा मथुरादास के पुत्र दीवान मय्यादास ने स्थापित की— “माड़ी पहले इकहरी हुआ करती थी, एक मंज़िला, अब दो मंज़िला बना दी गयी थी। ऊपर खुली छत थी पर उसमें कंगूरे बन गये थे, जैसे नवाबों की हवेलियों में बनाए जाते हैं, माड़ पर परिवार की समृद्धि की छाप तो थी ही, साथ ही खालसा राज की चढ़ती कला की छाप भी झलकती थी। तभी माड़ी के बाहर हाथी झूलने लगे थे।”⁶⁷ दीवान मय्यादास की प्रतिष्ठा बढ़ने के साथ—साथ माड़ी की भी प्रतिष्ठा बढ़ती गयी। कस्बा भी अपनी शांत गति से चल रहा था। तभी कस्बे के जीवन में तूफ़ान आ जाता है। अंग्रेज़ों की नज़र अब पंजाब की ओर घूम चुकी थी— “इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखे तो कस्बे का उस समय का जीवन एक शांत द्वीप—सा लगता था, जहां जिंदगी का कारोबार स्थिर, लयबद्ध गति से चल रहा था। कस्बा खुशहाल नहीं था, किंतु भूखा भी नहीं था। फिर सहसा, सागर में तूफ़ान फट पड़ा था, और उस द्वीप के समस्त जीवन पर थपेड़े लगे थे, और वह अस्त—व्यस्त होने लगा था।”⁶⁸ अंग्रेज़ों के आगे खालसा राज्य के पैर उखड़ गये थे। काबुल में खलबली मच गयी। फिर भी “जिन मूल्यों व आदर्शों से अनुप्राणित होकर खालसा राज्य की स्थापना हुई थी, वह सत्ता और व्यवहार की चट्टानों से टकरा कर भी चूर—चूर नहीं हो गये थे। साधारण नागरिक के हृदय में वे अभी भी उदारता, सदभावना और आत्म बलिदान की भावना का संचार करते थे और सदव्यवहार की प्रेरणा देते थे और मनुष्य के राग—द्वेष पर अंकुश लगाए रखते थे।”⁶⁹ नयी व्यवस्था ऐसे मूल्यों को नष्ट करते हुए आगे बढ़ती है। इस परिवर्तित सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दबाव के फलस्वरूप समाज के लयबद्ध जीवन तथा उससे जुड़ी उसकी अस्मिता, मान्यता तथा मूल्यों को मर्मांतक ठेस पहुँचती है। मय्यादास के लिए नयी अमलदारी अशुभ ठहरती है। उसका जवान बेटा ‘जूड़ी’ से मर जाता है। उसका भाई गोकुलनाथ अपनी पहली बीवी को घर से निकाल देता है और घर में एक रखैल रख लेता है। उसके पहली बीवी से उसको एक बच्चा होता है,

लेखराज, जो अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध लड़ता है और रखैल से भी एक बच्चा होता है, दीवान धनपत, जिसे अंग्रेजी सरकार की बदौलत कई गावों की जमींदारी मिल जाती है। दीवान धनपत के विरुद्ध लेखराज आदर्श, त्याग, बलिदान, परोपकार आदि मूल्यों से ओत-प्रोत युवक होता है। उसके मानस में दादी माँ के नायको की छवियाँ बसी रहती हैं। दादी माँ की कहानियाँ सिक्ख नायको के त्याग, बलिदान, परोपकार आदि मूल्यों एवं आदर्शों की कहानियाँ थीं। इन्हीं आदर्शों एवं मूल्यों से लेखराज का चरित्र निर्मित हुआ है। लेकिन जंग के मैदान में लेखराज के ये आदर्श और मूल्य सत्ता के समीकरण के आगे टिक नहीं पाते हैं। तब लेखराज को संशय होता है— “दादी माँ के मुख से सुनी शौर्य और बलिदान की कहानियाँ झूठी तो नहीं पड़ गयी थी, क्योंकि इन लड़ाइयों में उसने साहस और शौर्य और बलिदान के अद्वितीय उदाहरण देखे थे— स्वयं मृतप्राय मनोहर को मरने से पहले तलवार झूलाते हुए देखा था— और मन ही मन उसने स्वीकार किया था कि कोई भी लड़ाई मात्र हार-जीत की लड़ाई नहीं होती है। हर लड़ाई मात्र शक्ति का प्रदर्शन भी नहीं होती, हर लड़ाई एक संघर्ष होता है, जिसके साथ कहीं स्वार्थ तो कहीं आदर्श जुड़े होते हैं।”⁷⁰

इस प्रकार पता चलता है कि दादी माँ की कहानियों के नायकों के ठीक विपरीत सरदार लालसिंह और तेजसिंह ने खालसा फौज के साथ धोखा कर दिया वरना फिरंगियों के पैर उखड़ने लगे थे। यहां उपन्यासकार फुटनोट में इतिहास के इस तथ्य का उल्लेख भी करते हैं। “..... दसियों साल बाद फिरंगी इतिहासकार ने लिखा कि फिरंगी फौज की तो जान पर बन आई थी, वह तो खदेड़ी जाने लगी थी। फिरंगियों के बड़े लाट ने तो आखिरी हिदायतें भी दे डाली थीं कि अगर कोई ‘ऐसी वैसी बात’ हो जाए तो सभी गुप्त पत्र जला दिए जाएँ, आदि। अपनी निजी चीजों के लिए वह वसीयत भी कर गया था।”⁷¹ खालसा फौज के साथ गद्दारी के एवज मिस्ल लालसिंह प्रधानमंत्री और मिस्ल तेजसिंह को प्रधान सेनापति का दर्जा मिल जाता है। अमलदारी बदल जाती है। लेकिन अमलदारी बदलने का अर्थ क्या यह होता है कि— “कल तक जो दुश्मन थे, वे दोस्त बन जाते हैं। कल तक जो भगोड़े थे, वे सिपहसालार बन जाते हैं, जो काला था वह उजला लगने लगता है।”⁷²

पूँजी के शोषण पर आधारित अमलदारी ऐसी ही होती है। युद्ध के दौरान अंग्रेज़-छावनी में रसद पहुँचाने वाले धनपत के भाव अमलदारी परिवर्तन के साथ बढ़ जाते हैं— “पर अब पासा पलट गया था और धनपत भी पहलेवाला दसहरे का स्वांग नहीं रह गया था।”⁷³ इधर जंग में लाहौर दरबार के प्रति वफ़ादार रहे मय्यादास की हालत ख़स्ता हो जाती है— “इस लाम में मय्यादास का दिवाला पिट गया था। उसने अपनी सारी पूँजी लाहौर दरबार को कर्ज़ के रूप में दे दी थी। पहली पराजय के बाद जब खालसा राज के लिए संकट की घड़ी आ गयी थी तो उसने घर का सोना-चाँदी भी बेच डाला था। पर हर लड़ाई में पासा उल्टा ही पड़ता गया और जंग खत्म होते-न-होते एक माड़ी और हवेली को छोड़ कर दीवान मय्यादास का सब कुछ डूब चुका था और छः महीने के अंदर वह मानो बुढ़ा से गये।”⁷⁴ मय्यादास की प्रतिष्ठा को धक्का भी लगा। उनकी निष्ठा के प्रति जनता सशंकित हो उठी।

वाचक स्पष्ट करता है कि इतिहास की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि सत्ता पक्ष की मान्यता तथा दबाव के आगे सामान्य जनता झुक जाती है— “नई अमलदारी, अपनी कदरें—कीमतें लेकर, अपने नए किरदार, तौर—तरीक़े लेकर कस्बे की ओर बढ़ती आ रही थी। उसके अपने आग्रह थे, दबाव थे।..... और इसे भी जीवन की विडंबना ही मानिए कि जिस ओर सत्ता का पलड़ा भारी होता है, उसी ओर प्रजा की मान्यताएँ झुकने लगती हैं। गिने-चुने लोग ही अपनी निष्ठा अथवा अपने विवेक के बल पर अपनी दृष्टि की स्थिरता बनाए रख सकते हैं।”⁷⁵ स्वार्थी तत्त्व अपने हित के अनुसार कुछ ‘जनरल पर्स्पेक्त्स’ की बुनियाद डालते हैं। जनता उसे सच मानने लगती है। धीरे-धीरे वे जनता के मस्तिष्क पर एक ठोस सत्य की भाँति अंकित हो जाती हैं। रामजवाया जैसे स्वार्थी तत्त्व लालसिंह तथा तेजसिंह की गद्दारी को उचित ठहराते हैं— “पूरा राज्य तो फिरंगी के हाथ में जाने नहीं दिया”, रामजवाया बार-बार कह रहा था, “लोग कहते हैं कि अंदर—ही—अंदर फिरंगियों के साथ मिले हुए थे, पर मुझसे पूछो तो उन्होंने ठीक ही किया। वे दूरशनाश थे। उस वक़्त अंग्रेज़ों से मिलना ही सही था, यह नीति की बात है। सयाने कहते हैं— “सारा जाता देख के आधा दीजै बाँट।” फिर तनिक आवेश में तर्जनी झटकता हुआ बोला,” पूरा राज्य तो फिरंगी के हाथ में जाने नहीं दिया।”⁷⁶

इस जनरल पर्शेप्पन्स में फँसने के बाजूद जनता का विवेक तथा उसकी चेतना निरंकुश सत्ता का प्रतिरोध अवश्य करती है। इसीलिए जनता हमेशा एक उम्मीद, एक रोशनी की तलाश में रहती है। रामजवाया के इस स्वार्थी दृष्टिकोण के बावजूद अभी लोगों को उम्मीद थी कि— “बेशक कुछ वर्षों तक अनिश्चय डोलता रहा था कि मुमकिन है खालसा राज्य फिर से करवट बदले और फिरंगी को अपनी छाती पर से उतार फेंके।” लेकिन दो-चार झड़पों के बाद— “फिरंगी सरकार का पंजा मजबूत ही होता गया और अंत में पंजाब पर अंग्रेजों का पूर्ण अधिकार हो गया।”⁷⁷

पीली कोठियाँ दिखने लगीं। तहसीलदारी और डिप्टी कलेक्टरी शुरू हो गयीं। नये-नये काश्त, नये-नये बंदोबस्त बन गये। इस बीच छिट-पुट लड़ाइयाँ भी जारी रहीं। लेखराज जैसा सिपाही कभी मुल्तान तो कभी गुजरात में फिरंगी सेना के खिलाफ लड़ता रहा। उसका मन “फिरंगी के आगे घुटने टेक देने को कबूल नहीं कर पा रहा था।”⁷⁸ धीरे-धीरे लड़ाइयों और झड़पों की ख़बरें आनी बंद हो गयीं। लेखराज की याद भी धुंधलाने लगी। अब हर तरफ़ चर्चा नये कानून एवं नये बंदोबस्त की होने लगी— “हर आए दिन नये-नये हुक्मनामे, नये-नये बंदोबस्त जारी होने लगे थे। कमिश्नरियाँ बनीं, जिले बने, तहसीलें बनीं। एक-एक तहसील पर एक-एक कानूनगो को बिठाया गया। जिस दिन मालगुजारी का कानून बना, उस दिन कस्बे में बड़ी हलचल रही।”⁷⁹

ब्रिटिश शासन ने परंपरागत राजकीय सामंतवादी भारतीय कृषि व्यवस्था को नष्ट करके अपने यहाँ की पुरानी सामंतवादी व्यवस्था को लागू किया। इससे पूँजीवादी व्यवस्था के ढाँचे का निर्माण हुआ। भारतीय कृषि-व्यवस्था में खेत सामूहिक होते थे— “अंग्रेजों के आने से पहले हिन्दुस्तान में पुरानी भूमि-व्यवस्था के अनुसार ज़मीन किसानों की होती थी और सरकार को पैदावार का एक हिस्सा दिया जाता था— “गाँव में जिस जाति एवं भाईचारे के लोग रहते थे, ज़मीन उसी की होती थी। यह कभी न समझा जाता था कि ज़मीन का मालिक राजा है।”⁸⁰ अंग्रेजों ने अपना पूरा ध्यान मालगुजारी की तरफ़ लगाया ताकि ज़्यादा-से-ज़्यादा शोषण किया जा सके। इसके लिए उन्होंने भूमि-व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किए।

रजनीपाम दत्त लिखते हैं— “शुरू-शुरू में मालगुजारी तो बढ़ाई ही गयी, उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण भूमि व्यवस्था में परिवर्तन भी किया गया। सबसे पहले अंग्रेजों ने बंदोबस्त का नया तरीका निकाला और जो ज़मीन का मालिक था, उसकी रजिस्ट्री कराई। हिंदुस्तान की अर्थव्यवस्था की चाल-ढाल बिल्कुल दूसरे ढंग की थी। उसके ऊपर जबर्दस्ती विलायत का कानून और आर्थिक ढाँचा लादा गया। पहले राजा का अंश साल की पैदावार से लिया जाता था और पैदावार के अनुसार वह घटाया-बढ़ाया जाता था। किसान पंचायती ढंग से खेती करते थे और वे मिल कर राजा को यह अंश देते थे। इसके बदले अब यह तय कर दिया गया कि नकदी रुपयों में इतनी मालगुजारी दी जाएगी। साल में पैदावार चाहे कितनी हो; फ़सल अच्छी हो या बुरी हो; खेती के लिए ज़मीन ज़्यादा हो चाहे कम हो; खेती चाहे खुद किसान चाहे करे, ज़मींदार खेत उठा दे; साल में बंधी हुई मालगुजारी तो वसूल कर ही ली जाती थी। बंदोबस्त करने में ज़्यादातर किसानों पर अलग-अलग मालगुजारी मुकर्रर की जाती थी।

“अंग्रेजी राज में शुरू के हाकिम अपने कागज़ पत्रों में इस मालगुजारी को ‘लगान’ कहते थे। इससे मालूम होता था कि यद्यपि पुराने रिवाजों के मुताबिक किसानों का कुछ हक ज़मीन पर अब भी था, परंतु किसानों को खेत उठाए जाने थे, चाहे राजा उन्हें उठाए, चाहे राजा की तरफ़ से ज़मींदार। ज़मींदारी प्रथा जैसी चीज़ हिंदुस्तान में पहले नहीं थी। परंतु अंग्रेजों ने उन हाकिमों के आधार पर जो पहले मालगुजारी वसूल करते थे, एक नया वर्ग बना दिया। अंग्रेजों ने ज़मींदारी प्रथा चलाई, ज़मीन पर पंचायती हक तोड़कर व्यक्तिगत अधिकार का चलन चलाया, ज़मीन को रेहन रखने और बेचने की प्रथा चलाई। इनके अलावा हिंदुस्तान के लिए बिल्कुल नए पूँजीवादी कानून जारी किए। इन कानूनों को विदेशी नौकरशाही लागू करती थी। यह नौकरशाही कानून बनाती थी, वही लागू भी करती थी और कानून तोड़ने पर दंड भी देती थी। इस परिवर्तन से अंग्रेजों ने वास्तव में धरती पर अधिकार कर लिया और किसानों को रैयत बना दिया। लगान न देने पर वे बेदखल कर दिए जाते थे, या सरकारी गुर्गों को ज़मींदार बनाकर ज़मीन उन्हें सौंप दी जाती थी। ज़मींदार भी राज्य के बनाये हुये थे और मालगुजारी न देने पर उनसे भी ज़मीन छीनी जा सकती थी।”⁸¹

नये कानून से क़स्बा हिल उठा। जो बाप-दादों के ज़माने से चला जा रहा था, वह एक झटके में कैसे टूट सकता है? साथ ही उनका कानून किसी की भी समझ में नहीं आता। क़स्बे के अनेक लोग मय्यादास के पास पहुँचते हैं कि नये कानून में क्या होगा। मय्यादास इस प्रकार समझाते हैं, जैसे खुद भी समझ रहे हों— “अब तक तो मुखिया जिंस ले लेता था ना? अब वह जिंस नहीं लेगा, अब वह लगान की रकम नकद वसूल करेगा। एक बात। पहले तो खेत की उपज का अंदाज़ लगाकर लगान मुकर्रर किया जाता था, अब पूरा हिसाब लगाकर लगान लगाया जाएगा, समझे? पहले, खेत कटाई जाने पर लगान दिया जाता था (लगान के रूप में जिंस दी जाती थी) अब खेत कटाई से पहले ही भुगतान करना था, अब हर हाल जोतनेवाला किसान अपनी अपनी ज़मीन का खुद भुगतान करेगा।

“सारी ज़मीन बँट जाएगी, गाँव की साँझी ज़मीन न रहकर हर काश्तकार के पास ज़मीन का अपना टुकड़ा होगा। दूसरे, लगान के तौर पर वह जिंस न देकर भुगतान करेगा। तीसरा, यह लगान यह मुकर्रर होगा। हर साल उतना ही लगान देना होगा, न कम न ज़्यादा। यह नहीं के फसल अच्छी नहीं हुई तो लगान कम हो जाएगा।”⁸²

निर्मल पुरी, जे. डब्ल्यू. कार्ड के माध्यम से कहते हैं— “नयी कृषि व्यवस्था ने भारत की सदियों पुरानी व्यवस्था को तोड़कर नयी साम्राज्यवादी व पूँजीवादी शक्ति के लिए शोषण के द्वार खोल दिए। इसके द्वारा गाँव अब कर-निर्धारण और भुगतान की ईकाई नहीं रह गये थे। ज़मीन की निजी मिल्कियत के साथ-साथ व्यक्तिगत कर-निर्धारण और कर-अदाएगी की प्रथा शुरू हुई। आर्थिक दृष्टि से व्यवस्थाओं ने सभी वर्गों (जमींदार से लेकर रैयत तक) को प्रभावित किया। लेकिन रैयत सबसे बुरी अवस्था में थी। इसमें कोई शक नहीं के सब भुगतानों के बाद किसान के पास जो कुछ भी बच रहता था उससे वह जिंदा भर रह सकता था। वैसे भी अब लगान का भुगतान फसल (वस्तु) की बजाए मुद्रा में किया जाता था जिसका उसके पास अभाव था।”⁸³ इस नीति ने महाजन तथा व्यापारी वर्ग को असीमित शक्तियाँ प्रदान कर भारतीय व्यवस्था को भीतर से बदल डाला। रजनीपाम दत्त ने विस्तार से वर्णन किया है कि अंग्रेज़ी राज में किसान महाजनों के क्रूर शिकंजे में बुरी तरह फँस रहे थे। अंग्रेज़ी राज के पहले भी महाजन थे, लेकिन तब

वे न तो पंचों की अनुमति के बिना किसानों के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर सकते थे, न ही उनकी ज़मीन छीन सकते थे। अंग्रेज़ी राज में स्थिति बदल गयी— “महाजन और कर्ज भारतीय समाज के लिए कोई नयी बात नहीं है। लेकिन पूँजीवादी शोषण में और खास तौर से साम्राज्यवादी युग में महाजन ने अपने हाथ-पाँव बहुत फैला दिए हैं। उसका अब कुछ और ही महत्त्व हो गया है। पहले केवल अपनी निजी हैसियत पर किसान कर्ज लेता था और इसलिए महाजन का रोजगार निश्चित और ख़तरों से खाली न था। उसकी कार्रवाई पर गाँव के पंच अपनी मुहर लगाते थे। और न पुराने कानून के अनुसार वह कर्जदार की ज़मीन छीन सकता था। अंग्रेज़ी राज में यह सब कुछ बदल गया। अंग्रेज़ी कानून ने महाजन को यह अधिकार दे दिया कि वह कर्जदार को पकड़वा सकता है और उसकी ज़मीन बिकवा सकता है। महाजन को पुलिस और कानून की शह मिल गयी। उसे खुलकर खेलने का मौका मिला और वह पूँजीवादी शोषण का अचूक धुरी बन गया। मालगुजारी वसूल करने के लिए ही उसकी ज़रूरत नहीं होती। वह लेन-देन के साथ अनाज का व्यापार भी करता है। फ़सल कटने के वक़्त खरीदने में उसे एकाधिकार मिला होता है। अक्सर बिया-बेसार और हल-माची के लिए भी ही कर्ज देता है। ज़्यादातर किसान इस योग्य नहीं होते कि वे जमा-खर्च का हिसाब देख सकें, इसलिए दिन-पर-दिन वे महाजन के चंगुल में फँसते जाते हैं। वह गाँव का नादिरशाह बन जाता है और एक के बाद एक खेत हथियाता जाता है। किसान, खेतिहर, मज़दूर या फसल काटने वाले उसके गुलाम बन जाते हैं। महाजन के लिए वह मशक्कत करते हैं और लगान और ब्याज के नाम पर अधिकांश कमाई उसी को सौंप देते हैं। हिंदुस्तान के आर्थिक जीवन में महाजन का दर्जा उस छोटे से पूँजीपति का सा बनता जाता है, जो किसानों से मजदूरी करवाता है। किसानों को महाजन ही उनका सबसे बड़ा शत्रु मालूम पड़ता है। उन्हें लगता है, उनकी सारी विपदा की जड़ यही एक आदमी है। इसीलिए हिंदुस्तान के सीधे-सादे, सदा धीरज रखने वाले किसान भी कभी-कभी महाजनों की हत्या कर डालते हैं, जिससे मालूम पड़ता है कि किस तरह उनका शोषण किया जाता है। लेकिन बहुत जल्द उन्हें मालूम हो जाता है कि महाजन के पीछे अंग्रेज़ी राज का तमाम फ़ौज-फाटा खड़ा है। महाजनी-पूँजी के शोषण में महाजन एक अचूक कड़ी है। वह ऐन पैदावार के नाके पर बैठ कर शोषण की चक्की चलाता है।”⁸⁴

उपन्यास इस ऐतिहासिक सच्चाई को परत-दर-परत खोलता चलता है। मय्यादास जब कानून समझा चुकते हैं तो क़स्बे के लोग उनसे प्रश्न करते हैं—

“अगर किसान भुगतान नहीं कर पाये तो?

“तो वह साहूकार के पास से क़र्ज़ ले सकता है। ब्याज पर क़र्ज़ ले और भुगतान करे।

“और अगर अगले साल भी फसल अच्छी नहीं हो, तो?

“तो फिर क़र्ज़ ले और भुगतान करे।

“ब्याज कितना होगा?

“अब यह कौन जाने? इसका फैसला तो साहूकार करेगा के कितने ब्याज पर क़र्ज़ देता है।

“अगर झगड़ा हो जाए तो? किसान कहे, कम ब्याज बनता है; साहूकार कहे, ज़्यादा बनता है, तो?

“तो इसका फैसला तो अदालत करेगी। सरकार ने अदालतें भी खोल दी हैं।

“मालगुजारी का नया कानून बना तो पीली कोठी के बाहर किसानों की भीड़ रहने लगी। पटवारी हर किसान की ज़मीन का अलग से तख़्तीना निकाल कर देने लगा। और पीली कोठी में नायब तहसीलदार बैठा हिसाब लगा-लगा कर लगान की रक़म का तख़्तीना निकालने लगा और अपनी किताबों में नये इंदराज चढ़ाने लगा।”⁸⁵

एम. एल. डार्लिंग ने अपनी पुस्तक ‘क़र्ज़ और खुशहाली में पंजाबी किसान’ में लिखा है— “सिक्खों के ज़माने में बिरले ही किसी गाँव में ज़मीन रेहन रखी जाती थी। पर 1878 तक सूबे की 7 फिसदी ज़मीन रेहन रखी जा चुकी थी।

1880 तक किसान-महाजन की बेजोड़ लड़ाई में किसान पस्त हो गये।... अगले 30 साल में महाजन उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गया। वह समृद्ध हुआ और उसका परिवार बढ़ा। 1868 में आश्रितों को मिलाकर कुल महाजनों की संख्या 53,263 थी, 1911 में वह 1,93,890 हो गयी।”⁸⁶

उपन्यास इसे यूँ व्यक्त करता है— “नया कानून साहूकारों को रास आने लगा था। काश्तकार के पास नकद कहाँ? उसके पास तो जिंस—ही—जिंस होती है। गजमंडी में देखते—ही—देखते कितनी ही पैड़ियाँ खुल गयीं। किसान आते और लगान चुका पाने के लिए नकद कर्ज़ ले जाते थे। दीवान धनपत ने भी पैड़ी खोल दी।.....

नया कानून क्या बना, गजमंडी में भीड़ रहने लगी। नकद भुगतान कर पाना साधारण मुजारे के बस का न था। फिर कहीं शादी—ब्याह तो कहीं तीज—त्योहार, पैसे की ज़रूरत उसे सदा रहती थी। उधर फिरंगी ने नया कानून बनाया कि काश्तकार अपनी ज़मीन रेहन रखकर कर्ज़ उठा सकता है। इससे भी लाभ हुआ। साहूकारों ने ब्याज की दरें बढ़ा दी। फिर नायाब तहसीलदार कानूनगो के साथ मेल—मिलाप बढ़ जाये तो तहसील कचहरी में काश्तकार को बेदखल करने के भी साधन निकल आते हैं। फिरंगी ही हुकूमत में साधारण कानूनगो का रुतबा, कारदार के रुतबे से ज़्यादा ऊँचा था। कारदार से कोई डरता तो नहीं था। कानूनगो, तहसीलदार, नायाब तहसीलदार से तो किसान—मुजारे थर—थर काँपने लगे थे। लाला गोविंदराम तो साहूकारों के साथ दूकानदारी भी करने लगा था। गोविंदराम का गुमाश्ता मलिक मंसाराम, जेहलम से तरह—तरह का विलायती माल उठा लाता, और गोविंदराम जहाँ कर्ज़ देता, वहाँ उधार में ही माल उठाने की भी सहूलतें देता था। किसान कर्ज़ ले और उसके सामने चमचमाता विलायती माल रख दो, तो लोभ से उसकी आँखें निकल आती हैं। वह उसी वक्त कुछ—न—कुछ उठा लेता। उस तरह विलायती माल का निकास भी हो जाता और रुपया भी ब्याज पर लगा रहता। और लाला गोविंदराम पिछले कुछ ही सालों में पाँच बीघे ज़मीन कुर्की करवा के अपनी मिल्कियत में ले चुका था।”⁸⁷ ब्रिटिश भूमि—व्यवस्था ने ज़मींदार, महाजन व्यापारी वर्ग को उभारा। ये लोग कृषक और मंडी के बीच में काम करते थे, “बड़े—छोटे व्यापारी वर्ग का प्रादुर्भाव भी ब्रिटिश पूँजीवादी व्यवस्था का ही परिणाम था। प्राक—ब्रिटिश भारत में ग्रामीण आत्मनिर्भरता के कारण शहर और गाँव में विनिमय का लगभग अभाव था। इस कारण व्यापारी वर्ग की भूमिका नगण्य थी। लेकिन नयी ब्रिटिश आर्थिक नीति के कारण अब प्रत्येक वस्तु पण्य हो गयी थी। कृषि उत्पादन व ग्रामीण उद्योग उत्पादन, जो कि प्राक—ब्रिटिश भारत में विनिमय के काम में आता था, अब पण्य वस्तु बन गया और देशी और विदेशी बाज़ारों में बिकी

के लिए आने लगा। फलतः व्यावारी वर्ग की भूमिका अब महत्त्वपूर्ण हो उठी और व्यापारी वर्ग का बड़े पैमाने का विकास होने लगा। धीरे-धीरे यह वर्ग एक आर्थिक शक्ति में परिणत हो गया। यह वर्ग किसान या पट्टेदार से कृषि-उत्पाद सस्ते दामों में खरीद लेता था। किसान पूँजी के अभाव में शुरू में ही अपनी सारी फसल सस्ते दामों में बेच देता था, भले ही छः महीने बाद ही उसे महँगे दामों पर वे चीजें खरीदनी पड़े। ये हालात उसकी गरीबी को और बढ़ावा देते थे। रेलवे, यातायात तथा संचार-साधनों के विकास से शहरों में पूँजीपति वर्ग अथवा औद्योगिक बुर्जुआजी को जन्म दिया।⁸⁸

उपन्यास इतिहास में आये इस नये मोड़ का आख्यान प्रस्तुत करता है— “किसान नमक कहाँ से लेगा, तेल कहाँ से लेगा, कपड़ा कहाँ से लेगा। पहले जिंस देकर जुलाहे से कपड़ा ले लेता था, अब जिंस कहाँ है देने को! अब तो पैसे का बोलबाला है, सब काम नकद पैसे के बल पर चलता है। और पैसा वह क्यों दे? इससे तो बेहतर है, साहूकार के पास से कपड़ा ले आए और धीरे-धीरे चुकता करता रहे। लाला गोविंदराम का सितारा चमकने लगा था। साहूकार के बल पर उसने तरह-तरह के तरीके ढूँढ निकाले थे। काश्तकार से वह अनाज कम दाम पर खरीद लेता और बदले में विलायती माल ऊँचे दाम पर उसी को बेच देता।”⁸⁹

इस प्रकार एक ऐसे नये अमलदारी की शुरूआत होती है जिसके बुनियाद में न केवल शोषण, क्रूरता, छल-कपट बल्कि अनैतिकता तथा दुष्चापन भी शामिल था। गाँधी तथा प्रेमचंद ने इसी आधार पर इसका घोर विरोध किया था। उपन्यास इस अनैतिकता तथा दुष्चापन को नैरेट करता है— “उस दिन गोविंदराम की पैड़ी पर दीवान मय्यादास भी बैठे थे, जब एक किसान स्त्री आयी। बीस सेर गेहूँ की बोरी सिर पर उठाए हुए थी। लाला गोविंदराम ने पहले तो जिंस लेने से इंकार कर दिया। बोला— बेचेगी तो ले लूंगा पर इसे लेकर बदले में तुम्हें भी कुछ लेना होगा। अठन्नी पंसेरी के हिसाब से गेहूँ खरीद लिया, जबकि मंडी में भाव ऊँचा था और विलायती छींट का कपड़ा दुगने मोल पर उसे बेच दिया।

दीवान मय्यादास चुप रहे, पर उन्हें गोविंदराम के व्यवहार में एक प्रकार का दुष्चापन लगा।”⁹⁰

मय्यादास जैसे पुराने रईस, प्रतिष्ठित दीवान को अब लगने लगता है कि—
 “पिछला ज़माना अब लौटनेवाला नहीं। कभी-कभी मन कचोटने भी लगता कि मैं
 बाहर की दुनिया से कटता जा रहा हूँ, और लोग अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं।
 पर फिर अंदर से ही आवाज़ भी उठती कि और लोग उल्लू सीधा करते हैं तो करें,
 मैं तो जिस आन से जिया हूँ उसी आन-बान से मरूँगा।”⁹¹

उपन्यास केवल ऐतिहासिक तथ्यों को ही नहीं बल्कि उनसे पड़ने वाले
 प्रभावों को भी व्यक्त करता है। यह प्रभाव जनता के ऊपर पड़ते हैं। जनता
 कभी-कभी उन्हें सच मान लेती है। उनके पीछे छुपे सच की पड़ताल नहीं करती।
 उसका विश्लेषण नहीं करती। इस उपन्यास में कई ऐसे प्रसंग हैं, जैसे इस
 व्याख्यान को लिया जा सकता है— “अनोखा जुलूस जा रहा था वह। बरसों बाद
 उसे कस्बे के जीवन में एक ऐतिहासिक घड़ी की संज्ञा दी जाने लगी थी और कहा
 जाने जगा था कि इस भड़ैत के साथ ही कस्बा उजड़ने लगा था। पहले जेहलम
 नदी कस्बे के बिल्कुल बगल से बहा करती थी, फिर धीरे-धीरे नदी का पाट कस्बे
 से दूर होने लगा। धीरे-धीरे नदी के रास्ते होने वाली कस्बे की तिजारत भी ठप हो
 गयी। लोगों की यह पक्की धारणा थी कि नदी का पाट उसी दिन से दूर होने
 लगा था, जिस दिन कस्बे के आस-पास की ज़मीनों में से शोरा फूट निकला था,
 सफेद चूर्ण—सा जो घरों की दीवारों और खेतों की ज़मीनों में फैलता नज़र आने
 लगा। लोग समझते थे कि इसी के कारण खेतों की उपज कम होती जा रही है।
 इसे भी वे भड़ैत का ही परिणाम मानते थे।”⁹² जबकि इस दुष्परिणाम का अपना
 एक तार्किक पक्ष है। उपन्यास इसे प्रत्यक्षतः व्यक्त नहीं करता है। दरअसल ब्रिटिश
 शासन व्यवस्था ने जिस रेलगाड़ी नामक परिवहन व्यवस्था की शुरुआत की थी,
 उसके अपने दुष्प्रभाव भी थे। नदी का सिकुड़ते जाना, नदी के रास्ते का तिजारती
 काम ठप्प पड़ते जाना, ज़मीन से शोरा फूट पड़ना, आदि उसके दुष्प्रभाव थे।
 गाँधीजी ने ‘हिंद स्वराज’ में इसी कारण रेलगाड़ियों का घोर विरोध किया था—
 “रेल से महामारी फैली है, रेल से अकाल बढ़े हैं क्योंकि रेलगाड़ी की सुविधा के
 कारण लोग अपना अनाज बेच डालते हैं। जहाँ मंहगाई हो वहाँ अनाज खिंच जाता
 है। लोग लापरवाह बनते हैं और उससे अकाल का दुख बढ़ता है। रेल से दुष्टता

बढ़ती है।⁹³ शेखर बंधोपाध्याय लिखते हैं— “कुछ मिसालों में तो निर्माण कार्य ने पर्यावरण को भी प्रभावित किया, प्राकृतिक जल निकास व्यवस्था को तबाह किया, और मिसाल के लिए बंगाल में उन्नीसवीं सदी में मलेरिया की महामारी को जन्म दिया।”⁹⁴

इसी तरह जब कृषि व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ, नयी अमलदारी की शुरुआत हुई तो कस्बे का आपसी सौहार्द जाता रहा— “उन्हीं दिनों कस्बे में एक अजीब घटना घटी, जैसी पहले कभी नहीं घटी थी। बात मामूली-सी थी। कस्बे के बाहर दो चच्चाजात भाईयों की ज़मीनें साथ-साथ थी। एक के दो भैंसे दूसरे की ज़मीन में घुस गए और तू-तू मैं-मैं शुरू हो गयी और फिर पूरे दो दिन तक वह हगामा मचा कि देखने वाले दंग रह गये। भागसुद्धि के पति बलराम को पूरे आठ ज़ख्म लगे। कितने ही लोग बुरी तरह से पिट गए, घायल हुए। ऐसा अनूठा झगड़ा कस्बे में पहले कभी नहीं हुआ था कि सिर फुटौवल में इतने लोग घायल हो जाएं।”⁹⁵

बात फिर सिर फुटौवल तक ही नहीं रुकी बल्कि खून-खराबे तक पहुँच गयी— “ऐसा खून-खराबा हुआ जैसा पहले कभी कस्बे में नहीं हुआ था। कस्बे के बड़े-बूढ़े हैरान थे कि कैसा ज़माना बदला है कि दो पूले गेंहू को लेकर मरने-मारने पर उतर आएँ हैं। किसी को आशा नहीं थी कि छोटी सी बात को लेकर एक ही परिवार के लोगों के बीच इतना वैमनस्य पैदा हो जाएगा।”⁹⁶ कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भूमि के निजत्व का परिणाम था। नयी अमलदारी ने कस्बे के जीवन को बदल डाला— “कस्बे के जीवन का रूप सचमुच बदलने लगा था। पहलेवाली बात अब नहीं रह गयी थी।”⁹⁷

लेकिन ऐसा विधि के विधान की वजह न हुआ कि कस्बा सचमुच में बदल गया। ब्रिटिश साम्राज्यवादी औपनिवेशिक नीतियों का परिणाम था— “इन हिंदुस्तानियों का कोई भरोसा नहीं, कब कोई इन्हें बरगला ले। सोचते-सोचते साहिब बहादुर सहसा हँस पड़े। बरगला ले..... मैं भी तो इन्हें बरगला ने ही तो आया हूँ। पिछले बीस साल से हम इन्हें बरगला ही तो रहे हैं। कभी इनके हाकिमों को बरगलाओ, इनके सब से बड़े खैरख्वाह बनो, फिर इनके सालारों को बरगलाओ..

. बरगलाओबरगलाओ, खूब बरगलाओ.....।⁹⁸ यह अंग्रेज़ कमिश्नर था। साम्राज्यवादी नीतियों का साक्षात प्रतिमूर्ति। इसका व्यक्तित्व कुछ यूँ वर्णित हुआ है— “कमिश्नर पैंतालीस और पचास की उम्र का रहा होगा। छोटी-छोटी नीली आँखें, जो एक जगह पर टिक नहीं पाती थीं। शरीर के अंग-अंग से चुस्ती, दृढ़ता, आत्मविश्वास झलकते थे, मानो नयी अमलदारी की जड़ें जमाने का दायित्व इसी ने ले रखा हो। होंठ भिंचे हुए जिनसे उपेक्षा और दूरी का भाव झलकता था। यह ऐसा चेहरा नहीं था, खिला-खिला, जो चारों ओर सदभावना बिखरता सा प्रतीत होता है, बल्कि ऐसा जिससे कर्मठता, दृढ़ता, व्यवहार-कुशलता और उपेक्षा लक्षित है।⁹⁹

इसने सनदें बाँटने के लिए मुनादी करवायी है। कस्बे के लोगो में इसे लेकर तरह-तरह की अटकलें हैं— “जब से सनदें बाँटने की मुनादी हुई थी, कस्बे के लोग तरह-तरह के अटकलें लगा रहे थे। ये सनदें क्या होती हैं?, क्यों बाँटेंगे? सनदें क्या ज़मीन के पट्टे होते हैं, उन्हें बाँटने क्यों आएंगे? लोग अपनी-अपनी अटकलें लगा रहे थे। यह भी उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि बड़े हाकिम साहब ने कस्बे से दूर क्यों खोला गया है। पीली कोठी में क्यों नहीं खोला गया? शायद फिरंगी चाहता है कि तलब लेकर आनेवाले लोग, लंबा फ़ासला तय कर के आयें, दरख्वास्ती बन कर आयें ताकि लोग जान जायें कि साहिब की अर्दली में जा रहें हैं।¹⁰⁰ रियासत का राजा अमीरचंद अपनी ढहती हुई शान से नावाकिफ़ नये इंग्लिशिया कानून मानने से इन्कार करता है— “उसे अभी भी विश्वास था कि एक-न-एक दिन खालसा-दरबार फिर से सर उठाएगा, तितर-बितर होती फ़ौजें फिर से एक झंडे के नीचे जमा होंगी और फिरंगियों को खदेड़ देंगी। उसकी समूची जिंदगी लाहौर-दरबार की सरपरस्ती में बीती थी और अब उसे नया सरपरस्त कबूलने में कठिनाई हो रही थी।¹⁰¹ यहाँ हमें पता चलता है कि यह 1857 के कुछ चंद साल बाद की कथा चल रही है क्योंकि दीवान मतिराम इस असमंजस में है कि वह फिरंगी की कचहरी में चला जाये या राजा अमीरचंद के साथ रहे क्योंकि— “अभी कुछ ही साल पहले बहुत बड़ा देशव्यापी विद्रोह हुआ था। कई जगह पर फिरंगियों के पाँव उखड़ गये थे। अगर स्थिति बदल गयी और सिक्खों का सितारा फिर से चमकने लगा तो क्या होगा? कहीं लेने के देने न पड़ जाएंगे।¹⁰² रायजादा आफ़ताब राय, दीवान गोविंदराम आदि अनेक रईस इसी असमंजस में थे— “ऐसी ही

कैफियत अनेक और रईसों के मन की भी थी। सिक्खों की अमलदारी खत्म हो चुकी है। अब इसी में समझदारी है कि फिरंगी का दामन जल्दी-से-जल्दी थाम लो। यह उधेड़बुन का वक़्त नहीं है अंग्रेज़ अपने पैर जमा चुका है।¹⁰³ रईस सामंतवादी वर्ग के लिए रियासत(देश)भक्ति, रियासत(देश)प्रेम, वफ़ादारी जैसे आदर्शवादी मूल्य गौण थे। उनके सामने केवल अपना स्वार्थ था— “सवाल देशप्रेम या देशभक्ति का नहीं था। सवाल नमकहरामी का भी नहीं था, वफ़ादारी का भी नहीं था। सवाल केवल अपने हित का था। किस ओर क़दम उठाएँ कि बच भी जाएँ और कुछ प्राप्ति भी हो जाए। क़स्बे के राजा का रुतबा न के बराबर था। उससे बड़े रईस साहूकार क़स्बे में बैठे थे, जिनका सीधा सरोकार सिक्ख दरबार के साथ रहा था। क़स्बे के राजा के प्रति तो केवल परंपरागत शिष्टाचार निभानेवाली बात रह गई थी। साल में एक बार पालकी या हाथी की सवारी, एक अशरफ़ी फी—कस नज़राना और बस। राजा न तीन में, न तेरह में। वह तो मात्र बीते दिनों का चिह्न मात्र रह गया था।”¹⁰⁴

लेकिन दीवान मय्यादास स्वार्थ हित के लिए ही न जीते थे। उनके लिए पुराने मूल्यों का संबंध प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान तथा अपने ज़मीर से जुड़ा था— “हर बात आत्म-सम्मान और मान-मर्यादा के साथ करनी चाहिए, दीवान मय्यादास को इसका बड़ा पास था। जहाँ एक बार वफ़ादारी की हलफ़ उठा ली तो फिर उससे हटना क्या। हर आदमी में खुदारी होनी चाहिए, उसे अपनी परंपरा का, पुरखों के नाम का पास होना चाहिए। उसे कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिससे वह खुद अपनी नज़रों में गिरे।”¹⁰⁵ लेकिन दीवान मय्यादास का भतीजा दीवान धनपत ऐसी नैतिकता से कोसों दूर था। युद्ध के दिनों में वह अंग्रेज़ छावनी में मरे ऊँटों की दुम काटकर नये ऊँटों की सप्लाई करता था— “तो यह है वह आदमी जो जंग के दिनों में ब्रिटिश सरकार को ऊँट सप्लाई किया करता था और मरे हुए ऊँटों की पूँछे काट-काट कर नये नये आर्डर लिया करता था।”¹⁰⁶ कमिश्नर ने ऐसे “सनकी, मैले पाजामे, मुचड़ा अंगरखा, बदरंग जूते पहने, बिन ज़मीन-जायदाद, ऊँटों की पूँछ की पोटली लिये हुए धनपत” को तीन गाँवों का मुरब्बा देकर “क़स्बे के रईसजादों के मुँह पर तमाँचा मारा— “अगर इसे कुछ दे दिया तो क़स्बे के उन रईसजादों के मुँह पर चपत पड़ेगी जो अभी तक हमारे पास नहीं पहुँचे हैं।”¹⁰⁷

तमाम लोगों को जिस तरह से ज़मीनें बाँटी गयी, उसका आघात राजा अमीरचंद बर्दाश्त न का सका और मर गया। किंतु कस्बे में जिस बात की चर्चा थी, वह था धनपत का दीवान बन जाना तथा तीन गाँवों का मुरब्बा मिलना— “राजा अमीरचंद की मृत्यु कस्बेवालों के लिए बहुत बड़ी घटना थी, पर दुमकटे दीवान को तीन गाँवों का मुरब्बा मिल जाना किसी भूचाल से कम न था। राजा की अंत्येष्टि में शामिल होते हुए भी, उमरा—बुजरा की कोई दिलचस्पी स्वर्गीय राजा में नहीं रह गयी थी। दीवान धनपत ही उनके मस्तिष्क पर छाया हुआ था। एक दिन में ही कस्बे का विदूषक, कस्बे का राजा बन गया था। और तो और, दीवान मय्यादास की भी समझ में नहीं आ रहा था के धनपत के प्रति कैसा व्यवहार करें।”¹⁰⁸ इन सब घटनाओं के बीच एक घटना और भी चुपके से घट गयी— कस्बे में रेलगाड़ी का आगमन हो जाता है। रेलगाड़ी को लेकर कस्बे में ‘उत्साह, आशंका, कुतूहल, संशय—तरह तरह की भावनाएँ और विचार’ उसको लेकर उठते रहे थे। साथ ही साथ तरह तरह के अटकल और अनुमान भी, जिनके कारण रेलगाड़ी के प्रति और भी ज्यादा उत्सुकता पायी जाने लगी थी।”¹⁰⁹ गाँधी तथा शेखर बंद्योपाध्याय ने रेलगाड़ी से होने वाले जिस दुष्प्रभाव का उल्लेख किया है, उसे यहाँ किंचित विस्तार से वर्णित किया है— “जहाँ—जहाँ से रेलगाड़ी गुजरेगी, आसपास की ज़मीन जलकर राख हो जाएगी।” बूढ़ा लखमीदास कहता, “उसके आगे भट्टी जलती है, जो सारा वक़्त दहकती आग उगलती रहती है। पेड़—पौधे नहीं होंगे तो क्या होगा?”¹¹⁰ कुछ लोगों को शक था कि फिरंगी ज़मीनों पर कब्ज़ा करने के लिए रेल की पटरी बिछा रहे हैं— “पटरियाँ बिछाते हैं तो क्यों बिछाते हैं? हदबंदी करने के लिए। लोहे की पटरी बिछ गयी तो ज़मीन पर कब्ज़ा हुआ या नहीं हुआ, कोई बोल नहीं सकेगा। फौजें उतारने की ज़रूरत नहीं।

किसान—ज़मींदार अपनी जगह शंकित थे— “लाहौर—लायलपुर में जहाँ रेलगाड़ी चलने लगी है, गाय—भैसों का दूध सूखने लगा है। जहाँ—जहाँ रेल गयी है, मवेशियों का दूध आधा रह गया है। मवेशी जला हुआ चारा खाएंगे तो दूध क्या देंगे। यह तो इस नस्ल की बात है, अगली नस्ल के देखना।”

तुम तो गाय-भैंस की बात करते हो, मैंने सुना है, ज़मीन की उपज भी आधी रह जाएगी। ज़मीन जल जाएगी तो उसमें पैदा क्या होगा। बड़े-छोटे सभी किसान ज़मीनों पर से भिखारी बनकर निकलेंगे।”¹¹¹ सच्चाई भी यही है कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने अधिकाधिक मुनाफ़ा कमाने के लिए रेलगाड़ी चलाई थी। लार्ड डलहौजी का रेल मसौदे में उल्लिखित बयान का एक हिस्सा देखने पर यह स्पष्ट हो जाएगा— “रेलें बनाने से हिंदुस्तान को जो व्यापारिक और सामाजिक लाभ होंगे, वे मेरी समझ में अकथनीय हैं.....विलायत में रूई की माँग बराबर बढ़ रही है। हिंदुस्तान में कुछ रूई पैदा होती है। यहाँ से अच्छी किस्म की काम भर रूई मिल जाती है, मगर शर्त यह है कि बड़े-बड़े मैदान पार करके बंदरगाहों में जहाजों तक माल ले जाने के लिए उपयुक्त साधन हों। दूसरे व्यापार में जितनी ही सुविधाएं मिलती हैं, उतनी ही विलायती चीज़ों की माँग हिंदुस्तान के दूर-दूर कोनों में होने लगती है। दुनिया के इस हिस्से में हमें नया बाज़ार मिल रहा है और ऐसी हालत में मिल रहा है कि बड़े-बड़े दिमागदार भी यह अंदाज़ नहीं लगा सकते कि आगे चलकर इससे कितना मुनाफ़ा होगा और यहाँ कितना माल खपेगा।”¹¹² यह भारत में बाज़ारवाद का पहला चरण था। इससे यह स्पष्टतः साबित होता है कि ब्रिटिश साम्राज्य की नीति भारत से अधिकाधिक दोहन कर पूँजी कमाने की थी। फलस्वरूप कृषि जैसे भारतीय समाज-व्यवस्था के आधारभूत जीविका के साधन की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। अतः ब्रिटिश राज में सिंचाई व्यवस्था बेहतर होने के बजाए और बदतर हो गयी। सर विलियम विलफ़ाक्स पानी के कामों के इंजीनियर थे। उन्होंने बंगाल में सिंचाई पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था— “.....पुरानी नहरों को सुधारने और उनसे काम लेने की कोई कोशिश नहीं की गयी। पर रेलें बनाते हुए उस नहरों के जाल को छिन्न-भिन्न ज़रूर कर दिया गया। कुछ इलाकों में गंगा की उपजाऊ मिट्टी पहुँचने से वहाँ खेती होती थी। नहरें टूटने से यह उपजाऊ मिट्टी पहुँचना बंद हो गयी, इसलिए वह खेती की ज़मीन बरबाद हो गयी। कुछ दूसरे इलाकों से ढंग से पानी नहीं निकाला जाता। वहाँ पानी इकट्ठा होने से मलेरिया फैला करता है। हर साल गंगा की बाढ़ से गाँव के गाँव, बाग़ और खेत बरबाद हो जाते हैं, लेकिन इस तरफ़ गंगा की धारा को सीमित रखने के लिए किनारे पर बांध नहीं बांधे जाते।”¹¹³ सार्वजनिक निवेश के लिए रेल को प्राथमिकता देने का विरोध तो राष्ट्रवादियों ने किया। शेखर बंधोपाध्याय लिखते हैं— “राष्ट्रवादियों की मुख्य आपत्ति

ऐसे सार्वजनिक निवेशों के लिए प्राथमिकता के क्षेत्रों के चयन के खिलाफ थी, क्योंकि उनमें से बहुतों का विश्वास था कि ऐसे निवेश के लिए सिंचाई कहीं बेहतर क्षेत्र होती और अधिक सामाजिक लाभ भी। मुनाफों की इच्छुक उपनिवेशी सरकार के लिए स्पष्ट है कि सिंचाई में निवेश के लिए कम आकर्षण था। इस तरह लगता है कि रेलों ने जिस भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास को उस तरह बढ़ावा नहीं दिया, जिस तरह के यूरोप के औद्योगीकरण को दिया।¹¹⁴ यहाँ एक और बड़े इतिहासकार को उल्लेख करना भी ज़रूरी लगता है। ए. आर. देसाई का मानना है— “भारत में आवागमन के आधुनिक साधनों की स्थापना और विस्तार भारतीय राष्ट्र के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के सहज, स्वतंत्र और बहुमुखी विकास के दृष्टिकोण से नहीं, वरन मूलतः भरत में अंग्रेजों के आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया गया। इस कारण भारतीय आवागमन और संचार व्यवस्था का रूप उपनिवेशी रहा। इसलिए भारत में रेलवे और सड़कों का विकास अपर्याप्त, एकांगी और विकृत रहा।”¹¹⁵ उपन्यास में जनता के रेलगाड़ी को लेकर जो शंकाएँ उत्पन्न हुयी थीं, वह निराधार न थीं। रेल व्यवस्था ने पर्यावरण के साथ कृषि-व्यवस्था को भी बुरी तरह प्रभावित किया था। हालाँकि रेलगाड़ी चलने के कुछ अप्रत्याशित सामाजिक-सांस्कृतिक परिणाम भी सामने आये थे। शेखर बंधोपाध्याय लिखते हैं— “रेलों ने फीडर सड़कों के और भारत के विभिन्न भागों को जोड़ने वाले कुछ दूसरी राजनीतिक सड़कों के निर्माण को भी बढ़ावा दिया। इससे भारतीय बाज़ार का एक हद तक एकीकरण अवश्य हुआ, जिसका लाभ आगे चलकर आज़ादी के बाद भारतीय व्यापारों को मिला। और अंतिम बात, रेलों ने भारतीय समाज और राष्ट्र पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला, पर याद रहे कि ये ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अप्रत्याशित परिणाम थे।”¹¹⁶ भूमि-व्यवस्था परिवर्तन से जो नया व्यापारिक-वाणिज्यिक वर्ग पैदा हुआ था, उसे रेलगाड़ी से विशेष लाभ था। रामजवाया उसके गुण गाता है— “पर कुछ लोग थे जो रेलगाड़ी की तारीफ़ करते थकते नहीं थे। रामजवाया, जो अब मनियारी का काम करने जगा था, और विलायती माल लाने के लिए अक्सर लाहौर तक का दौरा किया करता था, रेलगाड़ी के बारे में चहक-चहक कर बातें करता था। वह रेलगाड़ी में लाहौर से अमृतसर तक का छोटा-सा सफ़र भी तय कर चुका था।”¹¹⁷

उपनिवेशित समाज के चरित्र में हमेशा 'कांस्ट्रास्ट' पाया जाता है। पुराना समाज अपने जड़ संस्कारों एवं सामंती-परिधि से बाहर आना पसंद नहीं करता है। अतः जब उन सड़ चुकी मान्यताओं एवं संस्कारों पर दबाव पड़ता है तो वह चिहुँक उठता है। वही लोग जो रेलगाड़ी के दुष्प्रभावों को एक-एक करके गिना रहे थे, अनजाने में रेलगाड़ी में बैठने का विरोध इसलिए अधिक कर रहे थे कि उससे जाँत-पाँत तथा ऊँच-नीच जैसा पुराना सामंती संस्कार नष्ट हो रहा था— “भंगी, चूड़ा-चमार भी इसी गाड़ी में बैठेगा! ऊँची जात का आदमी उसी में बैठेगा और रईस-साहूकार भी उसी में बैठेगा! नेम-धरम भी कोई चीज़ है या नहीं? साहूकार भी उसी में और उसका देनदार भी उसी में! मोची-नाई भी उसी में! सेठ-साहूकार की क्या रह जाएगी? इधर वह बैठा है और उसके सामने कोई कुंभी-तेली बैठा है! किसी को यह बात भी अटपटी लगने लगी कि एक ही रफ़्तार पर चलती हुई गाड़ी सेठ-साहूकार को भी अपने ठिकाने उतनी ही देर में पहुँचाएगी, जितनी देर में भंगी-चमार को। इसमें सेठ-साहूकार की क्या रह जाएगी? सोचनेवाली बात है।.... जो आदमी घोड़े की सवारी करता है, वह भी उसी वक्त सरगोधा पहुँचे, और भंगी-चमार भी उसी वक्त पहुँचे। फिर तो बड़े-छोटे की तमीज़ ही नहीं रह जाएगी।”¹¹⁸ लेकिन कस्बे में रेलगाड़ी का आगमन हो ही जाता है। उपन्यास में रेलगाड़ी को अजगर, काला दैत्य आदि की उपमाएँ दी गयी हैं, साथ ही फिरंगी दिमाग की अनूठी उपज और उसकी देन रेलगाड़ी के पीछे उस प्रक्रिया को भी व्यक्त करता है जिससे अंदाज़ा लगाना मुश्किल नहीं के यह फिरंगी 'देन' किसकी मेहनत का नतीजा था— “नाई का बेटा उनका नेता था। बड़े अधिकार के साथ वह एक डिब्बे के पायदान पर चढ़ कर खड़ा हो गया था, क्योंकि उसका बाप रेलगाड़ी की पटरी बिछाने के लिए कस्बे के बाहर पत्थर तोड़ता रहा था, और बहुत दिन तक घर नहीं लौटा था। एक बार उसने अपने बेटे के लिए लाल रंग का छींट कर कुर्ता भेजा था, जिसे आज वह पहने हुए था, और इसी कारण रेलगाड़ी को अपनी रेलगाड़ी समझ रहा था, मानो उस पर उसे कोई विशेष अधिकार प्राप्त हो। उसका बाप अभी भी नहीं लौटा था, और किसी दूसरी जगह रेलगाड़ी के लिए ही पत्थर तोड़ रहा था।”¹¹⁹

यहाँ से कथा का केंद्रीय मोड़ आता है जब प्रतिष्ठित दीवान मय्यादास अपने सौ साल की सामंतवादी प्रतिष्ठा के बाद भरभरा के टूट जाते हैं। वह रेलगाड़ी के गार्ड को हाकिम समझकर फर्शी सलाम आदाब बजाते हैं। मय्यादास की अप्रत्याशित हरकत पुरानी सामंतवादी संस्कार का औपनिवेशिक पूँजीवादी ताकत के आगे घुटने टेकने का ही प्रतीक रूप है। डा. आशुतोष कुमार कहते हैं— “आखिर सौ साल की प्रतिष्ठा का यही हास्यास्पद और दुखद अंत होना था। आत्महीन हो चुकी भारतीय सामंतशाही को इसी तरह औपनिवेशिक निज़ाम के कदमों में गिरना ही था।”¹²⁰ मय्यादास को जब पता चलता है कि वह फ़िरंगी हाकिम नहीं बल्कि रेलवे का गार्ड है तो उसका आघात सहन नहीं कर पाते और चल बसते हैं। तत्पश्चात माड़ी पर दीवान धनपत का क़ब्ज़ा हो जाता है। महत्त्वपूर्ण केवल धनपत का दीवान बनना ही नहीं था बल्कि दीवान धनपत की शैली का बदल जाना भी महत्त्वपूर्ण दिखायी देता है। वह अंग्रेज़ों की नकल करने लगता है। मय्यादास अगर ढहते हुए सामंतवादी व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं तो धनपत चढ़ती हुई पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतिनिधि करता है। माड़ी में धनपत की अंग्रेज़ी शैली की कचहरी लगने लगती है— “कुछ ही दिन में दीवान धनपत अपनी कचहरी लगाने लगा। माड़ी के बाहर मुजारों—काश्तकारों की लंबी पाँत नज़र आने लगी। अंदर कचहरी में दरियाँ बिछ गयीं, एक ऊँची पीठवाली कुर्सी लाल और सुनहरे रंगवाली लगा दी गयी, नीचे पैर रखने के लिए पायदान आ गया, ऊँची कुर्सी के पीछे एक चोबदार खड़ा चौरी झुलाने लगा, पीछे दीवार पर फ़िरंगियों की मलका मुअज़्ज़मा महारानी विक्टोरिया का बड़ा चित्र टाँग दिया गया— सिर पर ताज, कंधों पर नीले रंग का लबादा, और मलिका की सफ़ेद झिलमिलाती पोशाक। धनपत ने अपनी पोशाक को भी अपनी हैसियत के अनुकूल बना लिया— पगगड़ तो सिर पर वही केसरी रंग का था, पर उस पर उसने मोरपंख लगा लिया। गले में मोतियों के हार आ गए और उन पर सोने में सुहागा नेकटाई भी पहनने लगा।”¹²¹ यह फ़िरंगी हुकूमत की नज़रे करम ही थी जिसने क़स्बे में मज़ाक़ के पात्र को गाँव का सबसे बड़ा रईस बना दिया था— “माड़ी के बाहर चबूतरे पर जहाँ कभी दीवान मय्यादास टहला करता था, अब बरसों से दीवान

धनपत टहल रहा है और हर राह जाता उसे झुक-झुक कर अभिवादन करता है। अब तो उसकी भैंवें भी हिलती हैं तो लोग हाथ जोड़ देते हैं। कस्बे भर में उसका दबदबा है, तीन गाँवों की मिलिक्यत क्या छोटी-सी बात होती है? महीने में एक बार फिटन में बैठ कर हुजूर डिप्टी कलक्टर से मिलने जाता है, माड़ी के अंदर ही कचहरी लगाता है, हुकूमत करता है, कस्बे में लोग बात-बात पर माड़ीवाले दीवान जी की चर्चा करते हैं; और धनपत ही वह दीवान है जिसकी वह चर्चा करते हैं। सभी उससे दबते हैं।¹²² इसके बाद फिरंगी सरकार ने कस्बे की प्रतिष्ठा बन चुकी सामंतवादी मूल्यों की प्रतीक हवेली की नीलामी का आदेश दे दिया। लोगों की आशा के विपरीत हवेली दीवान धनपत की बजाय मंसाराम ने खरीदी, जो कि —“मूलतः कस्बे का ही रहने वाला आदमी था, पर कई बरस तक बाहर रहा था, जहाँ पहले ठेकेदारी और फिर कमीशन-एजेंटी करता रहा था और अब साल-भर से वह गजमंडी में दूकान लेकर उसी के ऊपर चौबारे में रहता था। वह ठेकेदार मंसाराम के नाम से जाना जाता था, पर ठेकेदारी का काम ज्यादातर कस्बे के बाहर करता था।”¹²³ और यह भी कि— “पहले जेहलम में था, फिर वहाँ से ठेके लेता हुवा रावलपिंडी जा पहुँचा। वहाँ ‘कमसराह’ का दफ़तर बन रहा था। फिर जब रेल की पटरी बिछायी जाने लगी तो वहाँ पर भी ठेकेदारी करता रहा। सरगोधा में जब फिरंगी की छावनी बन रही थी तो इसे पक्की सड़क बिछाने और दो बैरकें बनाने का ठेका मिला था। धीरे-धीरे ठेकेदारी में अच्छा धन कमा लेने के बाद यह विलायती माल की बिक्री के लिए विलायत के दो-तीन विक्रेताओं का नुमाइंदा बन गया था।”¹²⁴ यह भारत में बाज़ारवाद-निर्माण का पहला चरण था।

यहाँ से कथा कई बरस आगे बढ़ जाती है — “रेलगाड़ी ने कस्बे वालों का मन मोह लिया था। अब तो वह कस्बे में बरसों से चल रही थी।”¹²⁵

कथावाचक यहाँ इतिहास के उन अंतर्विरोधों की ऐतिहासिक पड़ताल करता है जिनसे ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के पीछे का शोषण का खूंखार चेहरा बेनकाब हो जाता है। जब जनता रेलगाड़ी के रोमांचकारी अनुभव के पश्चात —

“शाबा शाबा वे फिरंगिया,

अटल होवी राज!

शाबा शाबा वे फिरंगिया,

अटल होवी राज!

शाबा शाबा करमावालिया वे

तू सभणा दा सरताज!

तू सभणा दा सरताज!

शाबा शाबा वे ¹²⁶

कहकर औपनिवेशिक शासन का गुणगान करती है, तभी इंडिया हाउस के गलियारों में ब्रिटिश व्यापारियों का रेलगाड़ी से होने वाले मुनाफ़े को लेकर एक बैठक चलती रहती है जिसमें मंत्री महोदय बड़े सुव्यवस्थित ढंग से आँकड़ों एवं तथ्यों को गिनाते हुवे रेलवे के शेयरधारकों को इत्मीनान दिलाते हैं कि— “हिस्सेदारों को किसी बात का डर नहीं होना चाहिए। शीघ्र ही हमारी रेलगाड़ियां हर प्रदेश से, दक्षिण के गर्म मसाले के इलाकों से चाय उगानेवाला इलाकों से, जहाँ से भी माल हमारे कारखानों के लिए लाभकारी हो सकती है.....”

कहते हुए मंत्री महोदय उत्साहित और उत्तेजित हो उठे— “ज़रा सोचिए, भारत में चलानेवाली रेलगाड़ियों से भारत को तो लाभ होगा, वे ब्रिटेन को भी मालामाल कर देंगी। कपास और काफी और चाय और गर्म मसाले— ये सब बुवाएंगें भी हम, उनके दाम भी हम निर्धारित करेंगे, उन्हें खरीदेंगे भी हम, और वहाँ से निर्यात भी हम करेंगे.....।” कह चुकने के बाद मंत्री महोदय ठिठके खड़े रहे कि उनके वाक्य का श्रोताओं पर क्या असर हुआ है, फिर, सिर आगे की ओर बढ़ाकर अपनी तर्जनी उठाकर बोले —“और मैं भेद की भी एक बात बता दूँ।.....आपने जो पूँजी भारतीय रेलवे में लगाई है, वह आपने भारत को कर्ज़ दिया है। इसका मतलब है कि आपके दिए हुए कर्ज़ पर आपको सूद भी मिलेगा और शेयरों पर जो मुनाफ़ा होगा, वह अलग रहा।”¹²⁷ इससे पहले वह भारतीय जनता को कामचोर बताने के साथ-साथ उसके काम करने की अदभुत क्षमता पर भी प्रकाश डालता है— “और

हम यह भी भली-भाँति जानते हैं कि हिंदुस्तानी लोग कामचोर होते हैं, मुस्तैदी और ईमानदारी से काम नहीं करते। यह भी, एक तरह से हमारी मजबूरी है। पर साथ ही, जितना सस्ता मजदूर हिंदुस्तान में मिलता है, उतना सस्ता अफ्रीका में भी नहीं मिलता। उसे थोड़ी सी दाल-भात मिल जाए तो वह दिन में बारह-बारह घंटे तक काम करता रह सकता है.....।”¹²⁸ फिर वह लार्ड डलहौजी के रेल के मसौदे का जिक्र करते हुए उस सपने के सच होने का एलान भी करते हैं। आर्थिक शोषण पर आधारित ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियों का बखान करते हुए वह स्पष्ट करते हैं कि —“रेलगाड़ियों के निर्माण का सारा खर्चा भारत के नाम पर डाला जा रहा है, भारत ही मूल पूँजी भी अदा करेगा। उस पर सूद भी, और एक तरह से आपका लाभांश भी।.....यही उचित भी है।” फिर और भी गहरी, रहस्यपूर्ण आवाज़ में बोले— “इसमें भारत का ही हित है। भारत की ही ज़मीन पर रेलों का जाल बिछाया जा रहा है। हम एक तरह से भारत की ही उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।”¹²⁹ तभी एक अध्यापक उठ कर खड़ा हो गया और मंत्री महोदय की बातों का ऐतिहासिक आधार पर विरोध करता है— “अगर मैं भूल नहीं करता तो भारत में पहले से बहुत कपड़ा बनाया जाता है और तरह-तरह का बहुत बढ़िया कपड़ा बनाया जाता है। वहाँ हमारा कपड़ा बिकने जाए, इसमें क्या तुक है?”¹³⁰

मंत्री महोदय के यह कहने पर कि, भारत एक पिछड़ा कृषि प्रधान देश है तथा यहाँ औद्योगिकरण का विकास आवश्यक है, अतः ब्रिटिश सरकार इन क्षेत्रों में आवश्यक सुधार कर रहा है, अध्यापक कहता है कि— “यह ग़लत है कि भारत केवल कृषिप्रधान देश है। वह एक ऊँचे दर्जे का आद्योगिक देश भी है। दुनिया भर में उसकी चीज़ें पहुँचती रही है। आप उसे मात्र कृषि क्षेत्र बनाए रखना चाहते हैं, यह अन्याय है।”¹³¹ फिर वह अध्यापक ब्रिटिश साम्राज्य में हुए औपनिवेशिक क्रूरताओं का भी बयान करता है— “क्या यह सच है कि मुर्शिदाबाद के बुनकरों के अंगूठे काट डाले गये, ताकि वे हथकरघों पर अपना बारीक कपड़ा नहीं बुन सकें, क्योंकि उनके रहते मैनचेस्टर के हमारे माल के लिए खुली मंडी नहीं मिल सकेगी?”¹³² लेकिन मंत्री महोदय का व्यक्तित्व पूरी तरह साम्राज्यवाद में पगा हुआ था— “मंत्री महोदय के चेहरे पर दृढ़ता थी, ऐसी दृढ़ता जो साम्राज्य की स्थापना करनेवाले प्रत्येक निष्ठावान व्यक्ति में पायी जाती थी। साम्राज्य स्थापित करने का काम एक

महान राष्ट्रीय ध्येय था और उसके लिए जो भी कुर्बानी दी जा सके, कम है। इस ध्येय के प्रति निष्ठा के ही कारण मंत्री महोदय के दाँत भिंच गये थे और नीली आँखों में काँच की सी चमक आ गई थी.....साम्राज्य का विस्तार एक विराट अभियान है और मुझे उसमें अपना दायित्व निभाना है, साम्राज्य के विशाल भवन का मैं भी एक स्तंभ हूँ।”¹³³ इस उपन्यास में वर्णित मंत्री महोदय ‘रंगभूमि’ के मि. क्लार्क से ज़रा दो कदम आगे बढ़े हुए दिखायी देते हैं। क्योंकि वह इस नशे में हैं कि —“जैसे वह भी उस महान सेना के सेनानी हैं जो महाद्वीपों में, रेगिस्तानों और सागर की लहरों पर सतत आगे बढ़ती जा रही है, और उसके आगे एक के बाद एक झंडे झुकते चले जा रहे हैं, विजय उनके पाँव चूम रही है।”¹³⁴ इस दरम्यान मंत्री 1813 से लेकर 1877 तक भारत से निर्यात किये जाने वाले कपास, ऊन, गेहूँ, चावल आदि में वृद्धि की दर सुनाकर हाउस में बैठे ब्रिटिश पूँजीपतियों का प्रसन्न करता रहता है। तभी एक बार फिर अध्यापक पूछ बैठता है कि इन 64 सालों में भारत में कितने दुर्भिक्ष पड़े हैं? मंत्री का जवाब उस पूरे *civilizing mission* की पोल खोल देता है— “गत शताब्दी के पहले पचास वर्षों में भारत में सात दुर्भिक्ष पड़े थे।” फिर तनिक रुक कर बोले, “पर बाद के पचास वर्षों में 24 दुर्भिक्ष पड़े।”¹³⁵ साथ ही वह अध्यापक के पूछने पर यह भी बतलाता है कि पहले 7 अकालों में जहाँ मरने वालों की तादाद 15 लाख थी, जो बाद के अकालों में बढ़कर 2 करोड़ हो गयी। इंडिया हाउस के गलियारों में चलती इस बैठक पर ही खंड दो समाप्त हो जाता है।

अंतिम खंड संभवतः 1880 से 1900 के बीच का है। अब देश में एक और वर्ग का उदय हो चुका है— “वकील, काले रंग के कोट पहने, और नीचे सफेद रंग की सलवार या कमीज़ लगाए और वकीलों के मुंशी, बगल में कागज़ों का पुलिंदा दबाए आ-जा रहे होते हैं।”¹³⁶ लेखराज दुबारा लौटकर कस्बे में आता है। वह बूढ़ा हो चुका होता है। उसे कस्बा बदला-बदला नज़र आता है— “वही गलियाँ, वही घर, वही चेहरे, पर उनमें से कुछ था जो निकल गया था। और निकल जाने पर उन्हें निर्जीव कर गया था। क्या उसकी अपनी जवानी बीच में से निकल गयी थी? या कस्बा ही सचमुच बदल गया था?”¹³⁷ इस बीच लेखराज कूकों के आंदोलन में शरीक हो गया था। अब वह कस्बे के लिए और कस्बा उसके लिए असंगत हो चुका होता है।

रामजवाया अब विलायती माल का एजेंट बन गया है— “गली के पार, एक दूकान के चबूतरे पर रामजवाया टाँगें लटकाए बैठा था।..... उसके पीछे एक खुली दुकान नज़र आ रही थी जिसके दरवाज़ों पर रंगारंग के विलायती माल के नमूने सजे थे—घासलेट से जलने वाली लालटेन, छतरियाँ, रेशमी रुमाल, बालों में लगानेवाले रंगारंग के फीते।”¹³⁸ रामजवाया जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है वह प्रत्यक्षतः ब्रिटिश शासन व्यवस्था की देन है। एक प्रकार से वह ब्रिटिश नीतियों का भारतीय एजेंट है। उसका सीधा-सा मानना है कि— “..... न कोई नमकहलाल होता है और न नमकहराम। हम सब हाकिमे वक्ता का हुक्म बजा लाते हैं, सदा से ऐसा ही चलता आ रहा है।”¹³⁹ वह कूका आंदोलन का भी मज़ाक़ उड़ाता है— “कूके, कूक-कूक कर चुप हो गये हैं। फ़िरंगी के सामने किसी की भी दाल नहीं गलती।”¹⁴⁰ रामजवाया दोहरे चरित्र वाला है। वह एक तरफ़ तो ऐसी झीनी-झीनी चुन्नियाँ उठा लाया है जिसे देखकर बड़ी उम्र की स्त्रियाँ नाराज़ होती हैं। दूसरी तरफ़ वानप्रस्थी मास्टर के स्कूल खोलने का विरोध करता है कि लड़कियों में बेपर्दगी फैलती है।

औपनिवेशिक नीति का पहला हमला वैसे तो देश की अर्थव्यवस्था पर होता है लेकिन इसका असर संस्कृति पर पड़ता है। औपनिवेशिकरण की प्रक्रिया का दबाव सांस्कृतिक परिवर्तन का कारक बनता है। अब कस्बे में लगने वाले मेले में तंबू के भीतर मंडवु लगने लगते हैं। बाईस्कोप चलने लगता है जिसमें एक ओर तो कृष्ण-गोपी की छवि दिखायी जाती है दूसरी ओर अधनंगी स्त्री का। अब तो सिगरेट भी चलन में आ गयी है— “सिगरेट है। अंग्रेजी बीड़ी है। डिबिया में पूरे पाँच सिगरेट है।”

लेखराज ने डिबिया को उलट-पुलट कर देखा, फिर खिसिया कर बोला, “मेरे पास पैसे नहीं हैं।”

“पैसे कौन माँगता है, भाया जी, पियो और आनंद लो।” काली-काली मूँछेवाला वह आदमी मुस्कुराया। फिर तंबू की भीतर की ओर इशारा करके बोला, “आप भी जाइए और अपनी किस्मत आजमाइए।”¹⁴¹ कस्बे के आम जीवन में बाज़ार का प्रवेश हो गया है। कस्बा धीरे-धीरे उसका शिकार होता जा रहा है— “लेखराज अंदर बढ़ गया। यहाँ सचमुच कोई खेल चल रहा था। एक नीचे से लंबे मंच पर

बहुत-से पुतले रखे थे। रंग-बिरंगी। हर पुतले पर एक नंबर लिखा हुआ था, 5, 9, 7, 3 आदि। मेज के ऊपर जिसके पीछे युवकों की पाँत खड़ी थी, एक टोकरी में लकड़ी की बड़ी-बड़ी गेंदें रखी थी। लेखराज ने देखा, एक युवक ने टोकरी में से दो गेंदें उठाईं और निशाना बाँधकर एक गेंद सात नंबर वाले पुतले पर दे मारी।..... निशाना अचूक रहा, पुतला गिर पड़ा। इस पर तंबू वालों के एक आदमी ने एक लंबे से तख्त पर से सिगरेटों की दो डिबियां उठाई और उस लड़के को दे दी।

“लो जी, यह है आपका इनाम!”

लड़का खुश था। एक और अधन्नी देकर उसने दो और गेंद टोकरी में से उठाये और फिर से किस्मत आजमाई थी, पर नाकामयाब रहा।¹⁴² बाज़ार की यह चकाचौंध क़स्बे के लोगों को अंधा कर देती है, उन्हें कुछ सूझता नहीं है किंतु एक अंधा फ़कीर इसे देख लेता है। वह गाता है—

“ओ घड़ियाँ ते ऐनका ने जोर अज पाया।

चौथे दिन हो गया दीवाला, सजणा, इन्हाँ फैशनाँ ने,

इन्हाँ फैशनाँ ने सानू मार दित्ता, सजणा

इन्हाँ फैशनाँ ने.....।”

वह फिरंगी को बंदर की शकल वाला कहता है। रामजवाया को भी बंदर की उपाधि देता है।¹⁴³

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने समूचे भारत वर्ष के सांस्कृतिक चरित्र को बदल डाला। अब जो नया वातावरण तैयार हुआ, उसका आधार मूल्य, आदर्श, एवं नैतिकता आदि गुण नहीं बल्कि लूट-खसोट, स्वार्थ-लिप्सा जैसी मनोवृत्तियाँ थीं। उपन्यास इसका आख्यान प्रस्तुत करता है— “क़स्बे की गलियाँ लाघँते हुए लेखराज सोच रहा था, एक अमलदारी वह होती है जिसमें मनुष्य की अच्छी भावनाओं को बल मिलता है, प्रोत्साहन मिलता है, दर्दमंदी को, सेवाभाव को, दिल की उदारता को, सहनशीलता को, एक दूसरे का दर्द बाँटने की भावना को। एक अन्य प्रकार की अमलदारी वह होती है जिसमें नोच-खसोट, घृणा-द्वेष, धन-लोलुपता को बढ़ावा मिलता है। एक में मनुष्य की उदात्त भावनाएँ विकास पाती हैं, जिसमें आपसी सदभावना बढ़ती है। बेशक पाँचों उंगलियाँ एक बराबर तो नहीं होती, स्वार्थी लोग

तो हर ज़माने में पाये जाते हैं, पर समूचे वातावरण में स्वार्थ का विष नहीं घुला रहता, जनमत लोगों की दुर्भावनाओं पर अंकुश लगाये रहता है। लेखराज ने वे दिन भी देखे थे, जब लोगों दिलों के रहम के सोते सूखते नहीं जा रहे थे, जब बाँट खाने का चलन था, जब धर्मभीरु स्वभाव वाले लोग किसी का बुरा चेतने, किसी का बुरा करने से अपने को रोक रखते थे.....।¹⁴⁴ धर्मभीरु समाज अब प्रबल शक्तियों से आक्रांत होकर वैराग की ओर रुख कर लेता है। इसका प्रतिनिधित्व हरनारायण करता है जो कभी लेखराज की ही भाँति आदर्शवादी युवक था किंतु नयी अमलदारी में उसके जैसे लोगों के लिए कोई जगह नहीं है। अतः उसके जैसे लोग अपनी वर्तमान दयनीय स्थिति को कर्म का फल मानकर वैरागी हो जाते हैं। लेखराज उसकी नियतिवादिता तथा उसके मर चुके ज़मीर को धिक्कारता है। वह हरनारायण की तुलना धनपत से करता है। दोनों को कसाई कहता है। वह भाग्यवाद के विरुद्ध है। उसका कहना है —“मैं तेरी बात नहीं मान सकता, हरनारायण हमें कुछ तो करना पड़ेगा। हम बच्ची को चुपचाप यातना सहते देखते तो नहीं रह सकते। मरता हुआ आदमी भी छटपटाता है, डूबता आदमी भी हाथ-पैर मारता है। जो कुछ उसके वश में है वह तो करता है....।”¹⁴⁵ हालाँकि स्वयं लेखराज का चरित्र भी ‘डायनमिक’ नहीं है। अपने प्रेम को पाने के लिए वह कोई कोशिश नहीं करता है, उसकी निष्ठा का डगमगा जाना, गिरफ़्तार हो जाना, माड़ी पर अपने अधिकारों की माँग न उठा पाना आदि ऐसे पहलु जिनसे लेखराज के व्यक्ति के अंतर्विरोध सामने आ जाते हैं।

दीवान धनपत की बहू तथा हरनारायण की दोहती रुक्मिणी का वानप्रस्थी के स्कूल में नाम लिखवाना कस्बे में कोई बड़ी घटना तो नहीं बनती किंतु धनपत का मंझला पुत्र इसका विरोध करता है। रामजवाया भी विरोध करता है। लेकिन कस्बे में किसी से न डरने वाली भागसुद्धी मौसी इसका समर्थन करती है। यहाँ उपन्यास रुक्मिणी तथा भागसुद्धी मौसी के माध्यम से यह संकेत देता है कि भारतीय मानस के नवजागरण की शुरुआत हो चुकी है। लेखराज भागसुद्धी मौसी से कहता है—“इस अंधेरे कस्बे में एक दीया जल गया है, उसकी लौ सारे कस्बे को रौशन करेगी।”¹⁴⁶

यहाँ से कथा कई बरस आगे बढ़ जाती है। रुक्मिणी स्कूल की हेडमास्टर हो जाती है। अपने पति कल्ले को लाहौर के अस्पताल में भर्ती कराकर साधु-संतों की टोली में शामिल हो जाती है। एक दिन अत्यधिक भावावेग में आकर खाई गिरकर मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। कल्ले के मानसिक रोग का ईलाज हो जाता है किंतु रुक्मिणी की मृत्यु का समाचार सुनते ही फिर से विक्षिप्त हो जाता है। धनपत के मंझले बेटे को धनपत की मौजूदगी में पुलिस पूरे गाँव में घुमाती है। दीवान धनपत फालिज का शिकार हो जाता है और तिल-तिल का मर जाता है। कस्बा बाढ़ में उजड़ कर फिर बस भी चुका होता है। अब कस्बे में रोज रेलगाड़ी आती है। स्टेशन बन गया है। रामजवाया वजीराबाद चला जाता है। उसके बेटे को देसी शराब का ठेका मिल जाता है। मालिक मंसाराम का मंडुवा माड़ी के पीछे खुल गया है वहाँ मीना बाज़ार भी लगने लगा है। साहूकारों ने पक्के घर बनवा लिये हैं— “कस्बे में बहुत से साहूकारों ने पक्के घर बनवा लिये थे, पक्के दो मंजिला घर। किसी गजी में चले जाओ तो जहाँ अनेक घर पक्की ईंटों के बने दीखते थे, जिन पर अक्सर नज़र-बटटू भी लगा रहता था... यह नज़र बटटू साहूकार के घर को लोगों की बुरी नज़र से रोकता था।

अब गलियों में हाकिम घूमते थे— छोटे हाकिम और बड़े हाकिम, ऊँचे तुर्रवाले हाकिम और तहसीलदार, और सब जिला कचहरी लगानेवाले अंग्रेज डिप्टी कमिश्नरी के मंजूरे-नज़र को पाने की कोशिश में रहते थे।”¹⁴⁷

अब माड़ी में धनपत का छोटा बेटा हुकूमत राय विराजमान है। वह इंग्लिस्तान से बैरिस्ट्री पढ़कर आया है। धनपत की कचहरी इंग्लिशिया शैली की थी, किंतु हुकूमत ने पूरी माड़ी को ही इंग्लिस्तान बना दिया— “बैरिस्टर बेटे ने आते ही माड़ी में छोटा-सा इंग्लिस्तान खड़ा कर दिया। विलायती रंग-ढंग का अनुसरण करते हुए बैरे और अर्दली रखे, घर की साज-सज्जा विलायती तर्ज पर की। बरामदे में बेल-बूटों के गमले लग गये। खिड़कियों-दराजों पर पर्दे टाँग दिए गये। अंग्रेज डिप्टी की ही देखा देखी अपनी सवारी के लिए नयी फिटन बनवा ली। शाम के वक्त अब वह फिटन में हवाखोरी के लिए निकलता था, और फिटन में ही बैठकर जिला कचहरी भी जाता था—कभी सिर पर सफेद रंग की ‘सोला टोपी रखे, कभी पगड़ी लगाये और नीचे काला सूट पहने।”¹⁴⁸

क़स्बा अब तेजी से अपनी मध्ययुगीन घटाटोप से बाहर निकल कर एक औपनिवेशिक शहर में तब्दील होता दिखाई पड़ने लगता है— “अब यह क़स्बा पहलेवाला क़स्बा नहीं रह गया था, अब तो यह जिले का सदर मुकाम बन गया था। अब तो इसे ‘शहर’ की संज्ञा दी जाने लगी थी।”¹⁴⁹ साथ ही क़स्बे में ब्रिटिश राज तथा हुकूमत राय के विरुद्ध प्रदर्शन होने लगता है। तिलकराज आजाद के नेतृत्व में एक बड़ा भारी जुलूस निकलता है। हुकूमत राय के ही परामर्श पर डिप्टी कमिश्नर हैनरी लाठी चार्ज करवा देता है। हुकूमत राय हेनरी से अपने ब्रिटिश प्रेम की दुहाई देता है— “anything for the empire, Henry! We both worship at the same altar.”¹⁵⁰ हेनरी उसके साम्राज्य प्रेम से खुश होकर उसे रायबहादुर बनाने की इच्छा प्रकट करता है— “you will soon be a Raibahadur, you know, I recommend your name.”¹⁵¹ लेकिन अब शाबाँ शाबाँ वे फिरंगिया गाने वाली जनता “असाँ ते साइयाँ करम कमा दे/साडा गुलामी कोलों, देस छुड़ा दे” गाकर गुलामी की जंजीर तोड़ने पर आमादा हो चुकी होती है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि क़स्बा मध्ययुगीनता के घटाटोप से सीधा निकल कर एक औपनिवेशिक शहर में तब्दील को जाता है। धनपत का स्थान हुकूमत राय ले लेता है। रामजवाया का स्थान उसके बेटे ने ले लिया। साहूकार, वकील आदि नये वर्गों की उत्पत्ति हो जाती है। साथ ही समाज की प्रगतिशील ताकतें भी बढ़तीं गयीं। भागसुद्धी का स्थान जोगे की माँ ले लेती है। लेखराज का स्थान तिलकराज आजाद ने ले लिया। साम्राज्यवादी नीतियों के सामने जनता का प्रतिरोधी शक्ति बनकर उभरना — “मानव की विवेक परंपरा और गतिशीलता को रेखांकित करता है।”¹⁵²

औपनिवेशिक क़स्बे के माध्यम से उपन्यास पूरे भारत की कथा को व्यक्त करता है कि किस प्रकार एक देश आधुनिकीकरण तथा ‘सिविलाइजिंग मिशन’ के नाम पर मध्यकालीन सामंतवादिता से निकाल कर औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का शिकार बना दिया जाता है। फ्रेडरिक जेम्सन ने संभवतः इसीलिए औपनिवेशिक देश के साहित्य को बतौर रूपक साहित्य पढ़ने की सलाह दी। धनपत राय, हुकूमत राय आदि देश के अवसरवादी नेताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं तो रामजवाया तथा

उसका बेटा घोर व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका उद्देश्य केवल मुनाफा कमाना है। वानप्रस्थी आदि नवजागरणकालीन बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधित्व करते हैं तो रुक्मिणी, भागसुद्धी, जोगे की माँ संघर्षशील स्त्रियों की। कल्ले तथा टहलुवा आदि सबाल्टर्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं तो लेखराज, तिलकराज आजाद आदि परिवर्तनकारी संघर्षशील जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। सालार लाल सिंह तथा तेज सिंह की गदारी आजाद भारत की विसंगतियों को दर्ज करते हैं। डा. विश्वनाथ त्रिपाठी का कहना है— “ये पूरी घटना एक फैंटेसी बन जाती है। यह स्वतंत्रता पूर्व 19वीं शताब्दी की कथा स्वान्त्योत्तर भारत की कहानी बन जाती है। जो प्रेरणा स्रोत थे, जिनके लिए पता नहीं कितने लेखराजों ने प्राणों की आहुति दी..... उन्होंने ही आगे चलकर कितना बड़ा विश्वासघात किया जनता के साथ।”¹⁵³ अतः उपन्यास एक खिड़की की भाँति है, जहाँ से हम किसी भी देश के जबरन औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को प्रत्यक्षतः देख सकते हैं। ‘मय्यादास की माड़ी’ ‘तमस’ का पूर्व भाग भी है। यहाँ औपनिवेशिकरण का प्रक्रिया शुरू हो चुकी है, ‘तमस’ में वह अपने समाप्ति की ओर है किंतु अपने ‘साइड इफेक्ट’ के साथ। मय्यादास की माड़ी तमाम औपनिवेशिक विमर्शों एवं षड्यंत्रों की पोल खोलता है जो तमस में आकर भारतीय मानस में पैठ जमा चुके हैं। यह उपन्यास आधुनिक बाजारवाद के जन्म की कहानी बयाँ करता है।

उपन्यास का रूप भी बहुत सी पश्चिमी उपन्यास कर एक रैखिक अवधारणा को तोड़ता है। औपनिवेशिक समाज में उपन्यास मध्यवर्ग की दैनिक जीवन का दास्तान ही नहीं बल्कि अपनी खोयी हुयी स्मृति को, परंपरा को पुर्नलब्ध करने का एक जरिया भी होता है। स्मृति में बिंब प्रमुख हो उठते हैं जिनका निर्माण सदियों में होता है— “मौसी की बातें सुनते हुये रुक्मिणी को लगता, जैसे दुनिया से ओझल होने से पहले प्रत्येक व्यक्ति एक वह बना रहता है, पर वास्तव में वह बिंब ही उसका असली रूप होता है, उसके अतीत में से, उसके समूचे जीवन में से उभर कर निकला हुआ, उसके चरित्र का बिंब।.....समूचे जीवन के कर्म—कूकर्म, मात्र एक बिंब का ही निर्माण करते हैं, वही बिंब किसी व्यक्ति का वास्तविक रूप होता है, उसका हाड़—माँस का शरीर नहीं।”¹⁵⁴ ‘खोये हुए की जुस्तजू’ उत्तर औपनिवेशिक

साहित्य की बहुत प्रमुख प्रवृत्ति रही है। राही, कमलेश्वर, रेणु, निर्मल वर्मा, अज्ञेय सभी के यहाँ यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी खोये हुए की जुस्तजू ने कस्बे को बेनाम रखा है। वह हिंदुस्तान का कोई भी कस्बा हो सकता है जहाँ दीवान मय्यादास से लेकर तिलकराज आजाद तक के तमाम चरित्र मिल सकते हैं। यह खोये हुए की ही जुस्तजू ही है जिसने इतिहास के एक कालखंड पर लिखे जाने के बावजूद इसे ऐतिहासिक उपन्यास के आयाम से बाहर निकालता है। यह आख्यान के पश्चिमी शैली का भी नकार करता है। इसमें एक ओर इतिहास के तमाम आकँड़े मौजूद हैं जो पश्चिमी प्राच्यवादी विमर्शों एवं चालों को बेनकाब करते हैं तो दूसरी ओर उनसे पड़ने वाले प्रभाव से उपजी किंवदंतियाँ, कानाफूसियाँ, लोकवार्ताएँ भी हैं, जो कथा को मुख्य आधार प्रदान करती हैं। डा. विश्वनाथ त्रिपाठी का मानना है कि इसमें इतिहास के पारंपरिक रूप से भिन्न आयामक का उपयोग किया गया है—

“इतिहास घटनाओं की सरणिमात्र नहीं है। घटनाएँ तो स्थूल रूप से घटित होती हैं। मुख्य बात ये है कि उन घटनाओं का जनता पर प्रभाव कैसा पड़ता है। उन घटनाओं को सामान्य जनता किस रूप में ग्रहण करती है।.... किंवदंतियाँ जन्म लेती हैं। लोकवार्ता पैदा होती है। ऐसे अवसरों पर पर गीत लिखे जाते हैं। कानाफूसियाँ होती हैं।..... वो बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। और वस्तुतः इतिहास लेखन उनके सहारे होना चाहिए। सच क्या है? वो कई तरह से देखा जा सकता है, और जो चीज़ कई तरह से देखी जा सकती है, उसमें ठीक-ठीक सच का अनुसंधान करना पड़ता है। ये काम बड़ा मुश्किल है। घटनाओं को सामान्य जनता, निरक्षर जनता, शिक्षित जनता, औरतें, बच्चे ये सब ग्रहण करते हैं अपने रूढ़ियों के चौखट में।..... और इन सब के बीच में इतिहास है। उसे खोज निकालना बहुत मुश्किल है। ऐसा मुश्किल काम, जो किताबी इतिहासकार या प्रोफेशनल्स शायद कम कर पाते हैं। ऐसा काम साहित्यकार रचना के माध्यम से शायद ज़्यादा अच्छी तरह करते हैं।”¹⁵⁵

इसे हम ‘स्मृत्यात्मक इतिहास’ कह सकते हैं। औपनिवेशिक शासन तंत्र में इस पर चोट की जाती है। उपनिवेशित की स्मृति को विखंडित करने का प्रयास किया जाता है। उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार सदैव इसका विरोध करता है। निर्मल वर्मा के लिए तो इस पर चोट किया जाना ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। वह कहते हैं—

“भारत में अंग्रेजी राज का सबसे अधिक दुखदायी प्रभाव यह नहीं था कि हम आर्थिक तथा राजनीतिक रूप से गुलाम हुए बल्कि यह कि इतिहास ने हमारी चेतना को पहली बार अतीत, वर्तमान और भविष्य जैसे कटघरों में परिभाषित किया।”¹⁵⁶

अज्ञेय के लिए स्मृति ही काल, इतिहास, साहित्य तथा भाषा को सर्जनात्मक बनाती है— “स्मृति ही वह गतिशील सर्जनात्मक तत्त्व है, जो काल, इतिहास, साहित्य और हाँ भाषा के नये परिदृश्य रचती चलती है।”¹⁵⁷ रचना में स्मृत्यात्मक इतिहास जब व्यक्त होता तब उसे जादुई यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है। यही वह घटक हैं जिनके चलते मय्यादास की माड़ी पर आलोचकों ने गर्बिएल गार्सिया मार्खेज के उपन्यास ‘एकांत के सौ वर्ष’ के प्रभाव को माना है।

इस प्रकार मय्यादास की माड़ी अंतर्वस्तु तथा रूप के स्तर पर जिन विषयों को उठाकर प्रस्तुत करता है, वह उसे भारतीय संदर्भ में उत्तर औपनिवेशिक पाठ का प्रस्थान—बिंदु बनाता है। साथ ही यह उपन्यास हिंदी साहित्य में अपने लिए एक स्थान की माँग करता है।

संदर्भ

1. उत्तर-औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिन्दी साहित्य, डा० प्रणय कृष्ण, शोध प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, 2007, पृ० 184
2. पूर्वोद्धृत, पृ० 184-185
3. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ. 132
4. कल्चर कोलोनियलिज्म एंड रेसिस्टेंस, के. एन. पनिककर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2007, पृ. 9
5. रंगभूमि, प्रेमचंद, फुलसर्किल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, पृ. 177
6. प्रेमचंद रचनावली 9, डाकों की धूम, संपा. आनंद राय, जनवाणी, दिल्ली, 1996, पृ. 103
7. रंगभूमि, प्रेमचंद, फुलसर्किल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, पृ. 183
8. इसके लिए प्रेमचंद रचनावली 9 में संकलित लेख 'अंग्रेजी न्याय-परंपरा' पृ. 113, 'न्याय में विलंब अन्याय है' पृ. 115, तथा 'न्यायालय और पुलिस' पृ. 121 देखें
9. रंगभूमि, प्रेमचंद, फुलसर्किल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, पृ. 250
10. द कैंब्रिज इंट्रोडक्शन टू पोस्टकोलोनियल लिटरेचर इन इंगलिश, सी. एल. इन्नस, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रकाशन, प्रथम दक्षिण एशियाई संस्करण 2008, पृ. 137
11. वही, पृ. 137
12. शेखर बंद्योपाध्याय लिखते हैं- "उपनिवेशी संवादों में आरंभ से ही भारत की प्रजा की स्थिति की तुलना बचपन और स्त्रैणता से की जाती थी, जिसके लिए प्रशिक्षण और संरक्षण की आवश्यकता होती थी, पर अब उसको आदिमपन के बराबर भी ठहराया जाने लगा, जो (अंग्रेजों की) संस्कृति की श्रेष्ठता की दंभ भरी मान्यता के आधार पर भारत में साम्राज्यवाद की स्थापना को उचित ठहराता था।" पलासी से विभाजन तक आधुनिक भारत का इतिहास, ओरिएंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, पृ. 81-82
13. रंगभूमि, प्रेमचंद, फुलसर्किल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, पृ. 262-63
14. वही, पृ. 345

15. कल्चर कोलोनियलिज्म एंड रेसिस्टेंस, के. एन. पनिक्कर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2007, पृ. 21
16. रंगभूमि, प्रेमचंद, फुलसर्किल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, पृ. 360
17. आलोचना की सामाजिकता, मैनेजर पांडेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 280
18. प्रेमचंद रचनावली 7, संपा. आनंद राय, जनवाणी, दिल्ली, 1996, पृ. 351
19. वही, पृ. 351
20. रंगभूमि, प्रेमचंद, फुलसर्किल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, पृ. 106
21. वही, पृ. 106
22. प्राच्यवाद और प्राच्य भारत, विनोद शाही, आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2007, पृ. 56–57
23. मैला आँचल, फणीश्वर नाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, 2004, पृ. 9
24. पूर्वोद्धृत, पृ. 9
25. मैला आँचल, फणीश्वर नाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, 2004, पृ. 13
26. वही, पृ. 12–13
27. वही, पृ. 16
28. वही, पृ. 10
29. वही, पृ. 30
30. वही, पृ. 128
31. वही, पृ. 217
32. आज का भारत, रजनी पामदत्त, 1970 के संस्करण की भूमिका, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ. 10
33. मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, 2004, पृ. 217–218
34. वही, पृ. 223
35. मैला आँचल : रचनादृष्टि का सवाल, डा. हरदयाल, मैला आँचल का महत्त्व, संपा. मधुरेश, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 88
36. मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, 2004, पृ. 219
37. वही, पृ. 230

38. वही, पृ. 290
39. वही, पृ. 310–311
40. कान्टेस्टिंग पोस्ट कोलोनियलिज़्म, संपा. जसबीर जैन एवं वीना सिंह, रावत प्रकाशन, जयपुर तथा नई दिल्ली, 2000, पृ. 34
41. हिंद स्वराज, महात्मा गाँधी, नया ज्ञानोदय, संपा. रवींद्र कालिया, दिसंबर 09, नई दिल्ली, पृ. 90
42. मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, 2004, पृ. 275
43. वही, पृ. 309
44. वही, पृ. 301
45. मैला आँचल: वर्तमान सृजनशीलता का साक्ष्य, नित्यानंद तिवारी, मैला आँचल का महत्त्व, सं. मधुरेश, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 31
46. मेरा दागिस्तान, रसूल हमज़ातोव, अनुवाद, डॉ. मधुलाल मधु, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 30
47. वही, पृ. 248
48. उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिन्दी साहित्य, डा. प्रणय कृष्ण, शोध प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पृ. 225–26
49. अभिनव भारती, संपा. डा. आशुतोष कुमार, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, 2006–2008, संपादकीय
50. मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, 2004, पृ. 125
51. वही, पृ. 126
52. कान्टेस्टिंग पोस्ट कोलोनियलिज़्म, संपादन— जसबीर जैन एवं वीना सिंह, रावत प्रकाशन, जयपुर तथा नई दिल्ली, 2000, पृ. 36
53. मय्यादास की माड़ी, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1988, पृ. 9–10
54. वही, पृ. 10
55. वही, पृ. 10
56. वही, पृ. 11
57. वही, पृ. 25

58. वही, पृ. 30
59. वही, पृ. 28
60. वही, पृ. 27
61. वही, पृ. 89
62. वही, पृ. 90
63. वही, पृ. 93
64. वही, पृ. 97
65. वही, पृ. 97
66. वही, पृ. 97
67. वही, पृ. 98
68. वही, पृ. 99
69. वही, पृ. 100
70. वही, पृ. 133
71. वही, पृ. 135
72. वही, पृ. 136—137
73. वही, पृ. 138
74. वही, पृ. 142
75. वही, पृ. 144
76. वही, पृ. 144—145
77. वही, पृ. 147
78. वही, पृ. 149
79. वही, पृ. 150
80. पुनः उद्धृत आज का भारत, रजनीपाम दत्त, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ. 217
81. वही, पृ. 221—222
82. मय्यादास की माड़ी, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 150

83. भारत में उपनिवेशवाद , कृषि व्यवस्था तथा उत्पादन पर औपनिवेशिक प्रभाव, निर्मल पुरी, संपादक— डा. सत्या राय, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ. 53
84. आज का भारत, रजनीपाम दत्त, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ. 240—241
85. मय्यादास की माड़ी, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 150—151
86. आज का भारत, रजनीपाम दत्त, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ. 241
87. मय्यादास की माड़ी, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 151
88. कृषि व्यवस्था तथा उत्पादन पर औपनिवेशिक प्रभाव, निर्मल पुरी, भारत में उपनिवेशवाद, संपादक— डा. सत्या राय, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ. 57
89. मय्यादास की माड़ी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 152
90. वही, पृ. 152
91. वही, पृ. 152—153
92. वही, पृ. 143
93. हिंद स्वराज, महात्मा गांधी, नया ज्ञानोदय, 2009, दिसंबर, पृ. 95
94. पलासी से विभाजन तक, आधुनिक भारत का इतिहास, शेखर बंद्योपाध्याय, ओरिएंट लांगमैन, पृ. 139
95. मय्यादास की माड़ी, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 153
96. वही, पृ. 154
97. वही, पृ. 155
98. वही, पृ. 155
99. वही, पृ. 156
100. वही, पृ. 156—157
101. वही, पृ. 158
102. वही, पृ. 159
103. वही, पृ. 159
104. वही, पृ. 162
105. वही, पृ. 163

106. वही, पृ. 167
107. वही, पृ. 168
108. वही, पृ. 168
109. वही, पृ. 171
110. वही, पृ. 175
111. वही, पृ. 175
112. लार्ड डलहौजी, रेलों के बारे में मसौदा, 1853, आज का भारत, रजनीपाम दत्त, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 2000, पृ. 138-139
113. आज का भारत, रजनीपाम दत्त, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 2000, पृ. 210-211
114. पलासी से विभाजन तक, आधुनिक भारत का इतिहास, शेखर बंद्योपाध्याय, ओरिएंट लांगमैन, पृ. 139
115. भारतीय राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि, ए. आर. देसाई, मैकमिलन, दिल्ली, 1976, पृ. 104
116. पलासी से विभाजन तक, आधुनिक भारत का इतिहास, शेखर बंद्योपाध्याय, ओरिएंट लांगमैन, पृ. 138-139
117. मय्यादास की माड़ी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 175
118. वही, पृ. 176
119. वही, पृ. 180
120. आशुतोष कुमार, शहर पर उड़ती चीलें, संपा. अरुण कमल, आलोचना 17-18, अप्रैल-सितंबर, भीष्म साहनी स्मृति अंक, 2004, पृ. 57
121. मय्यादास की माड़ी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 184
122. वही, पृ. 185
123. वही, पृ. 192
124. वही, पृ. 193
125. वही, पृ. 195
126. वही, पृ. 197
127. वही, पृ. 199
128. वही, पृ. 198-99
129. वही, पृ. 201

130. वही, पृ. 202
131. वही, पृ. 203
132. वही, पृ. 203
133. वही, पृ. 203–204
134. मय्यादास की माड़ी, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 204
135. वही, पृ. 207
136. वही, पृ. 212
137. वही, पृ. 212
138. वही, पृ. 215
139. वही, पृ. 216
140. वही, पृ. 218
141. वही, पृ. 223
142. वही, पृ. 223–224
143. वही, पृ. 224
144. वही, पृ. 228
145. वही, पृ. 235
146. वही, पृ. 287
147. वही, पृ. 304
148. वही, पृ. 303
149. वही, पृ. 326
150. वही, पृ. 318
151. वही, पृ. 318
152. संघर्षशील रचनात्मकता का नया पाठ, सत्यप्रकाश मित्र, संपा. अरुण कमल, आलोचना 17–18, अप्रैल–सितंबर, भीष्म साहनी स्मृति अंक, 2004, पृ. 119

153. भीष्म साहनी का उपन्यास 'मय्यादास की माझी', डा. विश्वनाथ त्रिपाठी, अभिनव भारती, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, संपादक— आशुतोष कुमार, 2006–2008, पृ. 134
154. मय्यादास की माझी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 286
155. भीष्म साहनी का उपन्यास 'मय्यादास की माझी', डा. विश्वनाथ त्रिपाठी, अभिनव भारती, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, संपादक— आशुतोष कुमार, 2006–2008, पृ. 125
156. शताब्दी के ढलते वर्षों में, पत्थर और बहता पानी, निर्मल वर्मा, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2000, पृ. 65
157. खुले में खड़ा पेड़, स्मृति और काल, अज्ञेय, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 1999, पृ. 26

अध्याय तीन

राही मासूम रज़ा :
व्यक्तित्व एवं कृतित्व

राही मासूम रज़ा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

व्यक्ति की महत्ता उसके व्यक्तित्व और कृतित्व पर निर्भर करती है। व्यक्ति तो मात्र एक पृथक् इकाई है। प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति है और दूसरों से भिन्न भी। व्यक्ति की भिन्नता कुछ अंशों में उसकी बुद्धि एवं विवेक पर निर्भर करती है। यही कारण है कि व्यक्ति कैसा भी हो, उसका पृथक् व्यक्तित्व अवश्य होता है और इस व्यक्तित्व का निर्माण व्यक्ति के परिवेश में होता है। इसीलिए मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। अतः व्यक्ति एवं उसका व्यक्तित्व का सामाजिक संदर्भ होता है।

राही का जन्म सन् 1927 में हुआ। 1927 का वह साल ऐसा था कि जब एक तरफ़ राष्ट्रीय आंदोलन अपनी तीव्रता पर था, दूसरी तरफ़ सांप्रदायिकता की आग चारों ओर फैल रही थी। ऐसी विषम परिस्थितियों में ज़िला गाज़ीपुर उत्तर प्रदेश के 'बुधही' नामक गाँव में सैयद मासूम रज़ा का जन्म हुआ। बुधही मासूम रज़ा का ननिहाल था। ददिहाल के गाँव का नाम है— गंगौली, जो कि गाज़ीपुर शहर से लगभग 12 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। वास्तव में मासूम रज़ा के दादा आजमगढ़ स्थित 'ठेकमा बिजौली' नामक गाँव के निवासी थे। दादी गंगौली के राजा मुनीर हसन की बहन थी। वह राही के दादा के संग गंगौली में ही बस गयी थीं। तदोपरान्त धीरे-धीरे परिवार में गंगौली का रंग रचता-बसता गया। मासूम रज़ा की निगाहें गंगौली में ही खुलीं, 'ठेकमा बिजौली' से कोई संबंध नहीं रहा।

मासूम रज़ा के पिता श्री बशीर हसन आब्दी, गाज़ीपुर जिला कचहरी के प्रसिद्ध वकील थे, इसलिए पूरे परिवार का रहना-सहना और शिक्षा-दीक्षा वहीं हुई। परंतु मुहर्रम और ईद के कारण आब्दी परिवार गंगौली से जुड़ा हुआ था। श्री बशीर हसन आब्दी के वर्षों तक गाज़ीपुर में एक ख्याति प्राप्त वकील के रूप में कार्य करने के कारण परिवार में सुख-वैभव की कोई कमी नहीं थी। इसलिए मासूम रज़ा का बचपन निर्द्वंद्व व्यतीत हुआ। परिवार भी भरा-पूरा था। बड़े भाई मूनिस रज़ा के अलावा दो भाई एवं दो बहनें थी। मासूम रज़ा के बाल्यकाल में चंचलता अपेक्षाकृत

अधिक थी, इसलिए घर के बड़े-बूढ़ों के साथ-साथ के भाई-बहनों को भी अपनी छेड़-छाड़ के द्वारा तंग करते रहते थे। पारिवारिक परंपरा के अनुसार पहले बिस्मिल्लाह के साथ मासूम की शिक्षा-दीक्षा प्रारंभ हुई। प्रारंभ में पढ़ाई-लिखाई में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी, इसलिए अपने मौलवी मुनव्वर साहब की पिटाई से बचने के लिए उन्हें अक्सर अपने जेब खर्च की इकन्नी दे देनी पड़ती थी। अभी मासूम रज़ा की शिक्षा सुचारु से प्रारंभ भी नहीं हुई थी कि परिवार के सदस्यों ने यह महसूस करना शुरू किया कि मासूम लंगड़ाता है। प्रारंभ में लगड़ेपन को उनकी उदंडता समझकर नज़रअंदाज़ कर दिया गया, लेकिन कुछ दिनों के पश्चात् स्थिति की गंभीरता को ध्यान में रखकर जब परीक्षण पर परीक्षण प्रारंभ हुआ तो पता चला कि मासूम रज़ा को बोन टी. बी. है।

टी. बी. की बीमारी ने मासूम रज़ा के जीवन को एक नया मोड़ प्रदान किया। साथ ही उनकी संवेदनाओं को गहराई तक छेड़ते हुए उनके भविष्य के साहित्यकार जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में के महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उदंडता ठहर-सी गयी। चंचलता टाँगों पर चढ़े प्लास्टर के कारण जीवन में उत्पन्न रिक्तता में खो गयी। न वो अब घोड़े पर चढ़ सकते थे, न हवेली के लॉन में क्रिकेट खेल सकते थे, एक छत से दूसरी छत पर भागते हुए आकाश में पतंग उड़ाना स्वप्न की बात हो गयी। एकांत में पड़े-पड़े बहन को छेड़ने में भला अब क्या मज़ा आता? उन्हीं दिनों माँ से मिलने वाले विशेष लाड़-प्यार ने मासूम रज़ा के अंदर माँ के प्रति विशेष लगाव उत्पन्न कर दिया जिसकी अभिव्यक्ति आद्योपांत उनके संपूर्ण साहित्य में देखी जा सकती है। बीमारी के कारण उन्हें फिल्म देखने का शौक भी पूरा करने का भी मौका मिला। दोस्तों, हवालियों-मवालियों के साथ पालकी पर बैठ कर फिल्म देखने जाते। शायद बीमार मासूम का मन फिल्मों से बहल जाये, संभवतः इसी कारण परिवार के बड़े-बूढ़ों ने उन्हें फिल्म देखने से रोकने के बजाय बढ़ावा ही दिया। उनके फिल्मी जीवन के प्रेरणा-स्रोत के रूप में उनके बचपन के फिल्मा कें शौक ने अवश्य कहीं-न-कहीं पृष्ठभूमि का कार्य किया।

अपनी उदासी और सूनेपन को दूर करने में फिल्म इत्यादि से असफल हो अंत में 'हसरत' या फिर अन्य उर्दू की पत्र-पत्रिकाओं की शरण में जाना पड़ता। परिवार के घरेलू कार्यों के लिए अली हुसैन साहब थें, जिन्हें सब कल्लू काका कहा करते। उनका अन्य कार्यों के अतिरिक्त एक प्रिय कार्य था किस्सागोई। कल्लू काका 'तिलस्मे होशरूबा' सुनाने बैठ जाते। धीरे-धीरे अन्य बच्चों का मन उकता जाता, लेकिन मासूम रज़ा कभी नहीं थकते थे। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि प्रेमचंद भी बचपन में तिलस्मे होशरूबा के दीवाने थे। बाद में मासूम रज़ा द्वारा किये गये शोध कार्य 'तिलस्मे होशरूबा में वहजती अनासिर' के प्रेरणा-स्रोत के रूप में उनके द्वारा बचपन में तिलस्मे होशरूबा के किस्से को बार-बार सुनने की उत्कंठा को रेखांकित किया जा सकता है।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में प्रवेश से पहले मासूम रज़ा ने किसी भी शिक्षण-संस्था से औपचारिक रूप में शिक्षा नहीं प्राप्त की। बीमारी के कारण टाँगें पहले टेढ़ी हो चुकी थीं। डॉक्टरों ने निरंतर इलाज की सलाह दी थी, इसलिए प्राइवेट परीक्षाओं के द्वारा धीरे-धीरे शिक्षा का क्रम आगे बढ़ता रहा। साथ ही उनके लिए गाज़ीपुर में एक को-आपरेटिव स्टोर खुलवा दिया गया। पर अब तक उनके आगामी जीवन की भूमिका के रूप में साहित्य ने अपनी जड़ों के लिए ज़मीन तैयार कर ली थी, अतः दुकान में मन लगाना आसान कार्य नहीं था।

मासूम रज़ा की शादी के साथ जीवन में उथल-पुथल एवं परिवर्तनों का एक नया दौर प्रारंभ हुआ। साहित्य का बीज मासूम रज़ा के मस्तिष्क में पहले ही अपना स्थान बना चुका था, लेकिन उनकी वैचारिक दृढ़ता को दिशा प्रदान करने में शादी एवं उससे उत्पन्न स्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान है। उनकी शादी उत्तर प्रदेश के ज़िला फैज़ाबाद (वर्तमान में अंबेडकर नगर) की टांडा तहसील में स्थित गाँव कलापुर के एक खानदानी व्यक्ति, जो कि पेशे से पोस्टमास्टर थे, की पुत्री मेहरबानो से संपन्न हुई। मेहरबानो एक पारंपरिक रूढ़िवादी परिवार से आयी थी, रंग-रूप भी औसत था जबकि मासूम रज़ा का घर बहुत हद तक रूढ़ि-मुक्ति एवं आधुनिक विचार वाला था। घर के स्वच्छंद एवं स्वतंत्र वातावरण का अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि उनके घर में बड़े भाई मूनिस रज़ा प्रगतिशील विचारधारा के समर्थक थें, तो पिता श्री बशीर हसन आब्दी कांग्रेसी थें।

कुछ साल तक मेहरबानो ने मासूम रज़ा के परिवार में अपना जीवन बड़ी कठिनाईयों के बीच व्यतीत किया। मासूम रज़ा के साथ ही उन्होंने प्राइवेट हाई स्कूल की परीक्षा पास की, पर उनको वहाँ फूटी आँख भी पसंद नहीं किया गया। सैयद जुहेर अहमद जैदी ने अपने अप्रकाशित शोध-प्रबंध में लिखा है कि, “एक सूत्र के अनुसार मासूम अत्यधिक क्रोध में आकर उस अबला को खूब-खूब पीटा करते थे।”¹ संभवतः कम आयु में विवाह हो जाने, विकलांग होने और निरंतर बीमार रहने का प्रभाव उनके वैवाहिक जीवन पर पड़ा। आगे चलकर मासूम रज़ा का मेहरबानो से तलाक़ हो गया।

जीवन के छिट-पुट इन अँधेरे पक्षों एवं दुखद घटनाओं के अतिरिक्त उनके बचपन से ही, उनकी विरोधी प्रवृत्तियों का स्वर सकारात्मक रहा है। मासूम रज़ा पर बड़े भाई मूनिस रज़ा का बहुत प्रभाव था। यही कारण है कि मूनिस रज़ा के साथ-साथ मासूम रज़ा पर प्रगतिशील विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप उनकी विरोधी प्रकृति प्रगतिशील विचारधारा के माध्यम से समाज के निम्न वर्ग को स्वर प्रदान करती हुई साहित्य के माध्यम से मुखरित हुई।

मासूम रज़ा का बचपन विशिष्ट सामाजिक मान्यताओं, परंपराओं के बीच बीता, जहाँ सलाम और आदाब ‘खालिस’ (नस्लीय शुद्धता) पर आधारित था, परंतु इन रूढ़ियों को तोड़ने का प्रण मासूम ने जैसे बचपन से ही कर लिया था। धर्म और रोजी-रोटी के आपसी संबंधों की समझ संभवतः उन्हें बचपन से ही हो गयी थी। मासूम का बचपन जहाँ बीता वहाँ राकी, जुलाहों और सैयदों में अंतर तो था ही, उत्तर पट्टी के सैयदों में भी फ़र्क़ था। अहीर और चमारों की बस्तियाँ गाँव से दूर थी। मीर साहबानो के सामने सब निम्न थे, ऐसी दोनों पक्षों की धारणा थी। मीर साहबानों के बच्चों को सख्त हिदायत थी कि नीचे समझे जाने वाले वर्ग के बच्चों के साथ खेलना तो क्या उनके साथ बातचीत भी नहीं करना चाहिए, परंतु मासूम ने कबड्डी का खेल उनके साथ खेलते हुए पहली बार इस परंपरा को क्रांतिकारी ढंग से तोड़ा।

सन् 1948 तक मासूम रजा 'राही' उपनाम से उर्दू शायरी में प्रवेश पा चुके थे। धीरे-धीरे उनकी प्रतिभा से डॉ० एजाज़ हुसैन जैसे विद्वान भी प्रभावित होने लगे। उनकी साहित्यिक गतिविधियों का क्षेत्र विस्तृत होने लगा। एक-एक करके डॉ० अजमल अजमली, श्री मुजाविर हुसैन (इब्ने सईद), श्री जमाल रिज़वी (शकील जमाली), मसूद अख़्तर जमाल, ख़ामोश गाज़ीपुरी, तेग़ इलाहाबादी, असरार जैसे नवोदित शायरों के साथ-साथ बलवंत सिंह और फ़िराक़ गोरखपुरी जैसे स्थापित लोगों से उनका संपर्क होने लगा। इन मिलने-जुलने वाले अधिकांश साहित्यकारों का रुझान प्रगतिशील विचारों के प्रति थी। राही मासूम रज़ा का प्रगतिशील विचार धारा से पहले ही संबंध था, फलतः इन लोगों के संपर्क में आने के पश्चात् उनके विचारों को और अधिक बल प्राप्त हुआ। स्वाभाविक रूप से उनकी दृष्टि भी साफ़ हुई। सब लोगों ने डॉ० एजाज़ हुसैन के संरक्षण में मिलकर 'नकहत' क्लब की स्थापना किया। इसके गोरखपुर में होने वाले पहले अधिवेशन के साथ ही नियमित रूप से राही ने इसकी गतिविधियों में हिस्सा लेना प्रारम्भ किया। पटना के सम्मेलन तक राही मँझ चुके थे। आजमगढ़ का सम्मेलन होते-होते उनकी शायरी प्रसिद्धि के शिखर को छूने लगी थी। इसी बीच कथा-साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने उर्दू के उपन्यास 'मुहब्बत के सिवा' के साथ प्रवेश किया पर वो एक रोमानी उपन्यास साबित हुआ। शायरी के समानान्तर मुहब्बत के सिवा की तर्ज पर उन्होंने बहुत सारे उपन्यासों की रचना की। उपन्यासकार के रूप में उन्होंने 'शाहिद अख़्तर' नाम अपनाया।

राही का इलाहाबाद में प्रगतिशील साहित्यकार वर्ग से जुड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव उन पर गाज़ीपुर में ही पड़ चुका था, परंतु ग़ैर प्रगतिवादियों से भी उन्हें कोई परहेज़ नहीं था। इलाहाबाद का तत्कालीन साहित्यिक संसार प्रगतिवादियों के अतिरिक्त कांग्रेसी, महासभाई इत्यादि सभी विचारधारा के साहित्यकारों का गढ़ था। 'परिमल' नामक संस्था से बच्चन एवं धर्मवीर भारती इत्यादि हिंदी कवि सक्रिय थे। प्रत्येक विचारधारा के साहित्यकारों एवं संस्थाओं से संपर्क में आने के कारण उन्हें एक विस्तृत साहित्यिक फ़लक मिला, जहाँ उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई। 'हिंदोस्ताँ की मुकद्दस जीम, जैसे मेले में तन्हा हो नाजनी' नज़म ने पहली बार उनकी इलाहाबाद के बाहर के साहित्यकारों के बीच प्रसिद्धि का कारण बनी।

डॉ० एजाज़ हुसैन के संपादकत्व में निकलने वाली पत्रिका 'कारवाँ' में उनकी नज़्में और लेख प्रकाशित होते रहे। 'फ़साना' दिल्ली से प्रकाशित होती थी, उसमें भी राही का प्रकाशन लगभग नियमित था।

राही मासूम रज़ा के तेवर बचपन से ही तेज़ थे, यही उनके साहित्यिक जीवन में स्पष्ट बयानी, दो टूक जवाब की प्रवृत्ति के रूप में और भी अधिक मुखरित हुई। यह प्रवृत्ति उनके लेखन में स्थान-स्थान पर लक्षित की जा सकती है। उपन्यासों में तो गालियों की हद तक। लेकिन इन प्रवृत्ति में कोई पूर्वाग्रह अथवा निजी दुश्मनी जैसी कोई बात नहीं है, अपितु यहाँ उनकी साहित्यिक ईमानदारी की भावना दृष्टिगोचर होती है।

राही मासूम रज़ा के जीवन का यह वह काल था जब भारत का विभाजन तो हो चुका था, लेकिन उसका प्रभाव अब तक था। सामाजिक विघटन, सांप्रदायिकता की सड़ांध अब भी वातावरण में बाकी थी। लेकिन इस विघटन और सड़ांध के प्रभाव से, गंगा की गोद में पल-बढ़ कर बढ़े हुए राही दूर रहे। फिर भी वे कहीं-न-कहीं से टूटने लगे थे। टूटने का कारण भी अपनों के बीच ही अजनबीपन का एहसास पैदा होना।

साहित्यिक गतिविधियों के बीच ही राही ने उर्दू में बी. ए. के समकक्ष परीक्षा पास कर ली थी। देश विभाजन के कारण डॉ. मुस्तफ़ा, जिनके यहाँ वह रहते थे, भारत छोड़कर पाकिस्तान चले गये। फलस्वरूप राही का मन इलाहाबाद से उचाट हो गया। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में उनके बड़े भाई मूनिस रज़ा और दो छोटे भाई पहले से ही थे। मूनिस रज़ा की प्रेरणा से उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में एम. ए. उर्दू में प्रवेश ले लिया। एम. ए. में प्रवेश से पहले ही उनका 'रक्से मय' 'मौजे सबा' 'नया साल' 'अजनबी शहर अजनबी रास्ते' इत्यादि काव्य संग्रह उर्दू में प्रकाशित हो चुके थे।

जिस काल में अलीगढ़ में राही मासूम रज़ा आये, वह समय अलीगढ़ की साहित्यिक गतिविधियों के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है। अनेक लेखक एवं शायरों की गतिविधियों प्रगतिशील झंडे के तले सक्रिय थी। राही को यहाँ मार्ग ढूँढने में कोई कठिनाई नहीं हुई। दूसरी तरफ़ 'उर्दू-ए-मुअल्ला' नामक कैंप भी था जिसके संचालक आले अहमद सुरूर एवं शहाब जैसे साहित्यकार थे।

अलीगढ़ आने से पहले ही राही के पास अपना एक निश्चित दृष्टिकोण था। बचपन से ही उनके अंदर 'इगो' की भावना भी विद्यमान थी, यहाँ के वातावरण ने उसे और अधिक पहले पलने बैठने का अवसर प्रदान किया। इसलिए उन्हें अकेलेपन एवं लोगों से अलगाव का एहसास होता था।

अलीगढ़ में राही द्वारा अपने से सबको कमतर समझने का कारण भी था। जब तक साहित्यकार में प्रतिस्पर्धा की भावना हो उसका साहित्य तभी तक जीवित रह सकता है; जब वह ऐसे नये सवाल लेकर आये जिसका जवाब दूसरे साहित्यकार के पास न हो और वे सवाल साहित्य को झिंझोड़ने की क्षमता रखते हों। राही भी नये तेवर और नये सवालों के साथ साहित्य को झिंझोड़ रहे थे।

परंपरा के जुड़ाव के साथ विद्रोह की भावना भी इनके 'इगो' के कारणों में से थी। इस दृष्टि से अलीगढ़ की साहित्य मंडली भिन्न थी। वे लोग बाहर की दुनिया में झाँकना तो चाहते थे, मगर जीना नहीं चाहते थे। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के परिवार में जीने वाले साहित्यकारों के साथ यह विडंबना भी जुड़ी रही है कि वे अपने ऊपर फैले हुए आक्रोश को ही संपूर्ण मानकर जीने के अभ्यस्त हो जाते हैं। उसी के साथ 'महान' शब्द का पूर्ण प्रत्यय लगाकर आस्वस्थ हो जाते हैं। बाहर निकल कर जीना नहीं चाहते न ही उसे मान्यता देते हैं। जबकि राही इस भावना से मुक्त थे, इसीलिए न तो वह विचारों की सीमाओं में सीमित रहे, न ही भाषा के बन्धनों में उलझे रहे। बदलते हुए परिवेश को वो भली-भाँति समझ गये थे। काव्य संग्रह 'अजनबी शहर अजनबी रास्ते' के मुख पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है—

“टिंकू और नीलू के नाम शायद तुम इस रस्मुलखत से नावाकिफ़ रह जाओ जिसमें तुम्हारा अम्मू अपने शेर लिखता है और शायद तुम्हारे अम्मू को वह ज़बान कभी पूरी तरह न आ सके तुम्हारी ज़बान होने वाली है मगर मैं एक रस्मुलखत के लिए तुम्हें नहीं सकता। क्या कोई दूसरा रास्ता नहीं कि हम लोग एक दूसरे के लिए अजनबी न हो पाएँ?”²

फिर राही रास्ते की खोज में लगे गये। भाषिक सीमाओं तो तोड़ती हुई राही की खोजी प्रवृत्ति, उन्हें कला के एक दूसरे क्षेत्र 'फिल्म' तक घसीट ले गयी।

फिल्मों के प्रति अनुराग राही के अंदर बचपन से ही था। अलीगढ़ में एम. ए. के बाद शोध-कार्य में लग गये, परंतु उनका बहुमुखी व्यक्तित्व सक्रिय रहा। साहित्यिक गतिविधियों के अतिरिक्त राही विश्वविद्यालय के नाट्य मंच से भी कुछ दिन तक जुड़े रहे। राही के द्वारा नाटक 'एक पैसे का सवाल है बाबा' भी उस जमाने में अत्यधिक चर्चित हुआ। अलीगढ़-प्रवास काल में ही उनका संपर्क प्रसिद्ध अभिनेता भारत भूषण के भाई रमेश चंद्र से रहा। उनके साथ राही सन् 1963 में बंबई भी जा चुके थे।

राही के फिल्मों के प्रति लगाव की पृष्ठभूमि के रूप में उनकी रंगमंचीय सक्रियता एवं रमेश चंद्र के संपर्क ने कार्य किया। दूसरी तरफ उनके निजी जीवन की उथल-पुथल ने भी उन्हें फिल्मों की तरफ जाने के लिए मजबूर कर दिया।

अलीगढ़ में राही को एक शायर के रूप में लोकप्रियता तो मिल ही चुकी थी किन्तु 'आधा गाँव' की लोकप्रियता ने उनके जीवन में एक नयी हलचल उत्पन्न कर दी। यह उपन्यास नागरी लिपि में प्रकाशित हुआ था। पहले के उपन्यास के लिए अपनाया गये नाम 'शाहिद अख्तर' को छोड़कर इस उपन्यास पर लेखक के नाम के स्थान 'राही' भासूम रज़ा लिखा गया। इसकी रचना 1964 ई० में हुई। शोध समाप्त करने के बाद राही उर्दू विभाग में प्रवक्ता हो गये। कुछ ही दिनों बाद संपर्क एक अन्य महिला श्रीमती नैयर से हो गया। दोनों लोगों ने दिल्ली जाकर शादी कर ली। इस विवाह के कारण ही उनकी नौकरी छूट गयी। उनके स्थान पर एक अन्य शोधार्थी अतीक अहमद सिद्दीकी की नियुक्ति कर दी गयी। राही का दिल टूट गया। दिल्ली में उन्हें आकाशवाणी से नौकरी का निमंत्रण मिला। लेकिन उन्होंने आकाशवाणी की नौकरी अस्वीकार करके, बंबई जाकर सिनेमा-संसार में भाग्य आजमाने का निर्णय किया। सन् 1968 से राही बम्बई रहने लगे थे। वह अपनी साहित्यिक गतिविधियों के साथ-साथ फिल्मों के लिए भी लिखते थे, जिससे उनकी जीविका की समस्या हल होती थी। राही अपने सांप्रदायिकता-विरोध तथा

धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय दृष्टिकोण के कारण वहाँ अत्यंत लोकप्रिय हो गए। बंबई रहकर उन्होंने 300 फिल्मों की पटकथा और संवाद लिखे तथा दूरदर्शन के लिए 100 से अधिक धारावाहिक लिखे, जिनमें 'महाभारत' और 'नीम का पेड़' अविस्मरणीय हैं। राही ने प्रसिद्ध टीवी सीरियल 'महाभारत' की स्क्रिप्ट भी लिखी। सन् 1977 में 'आलाप', 1979 में 'गोलमाल', 1980 में 'हम पाँच', 'जुदाई' और 'कर्ज', 1991 में 'लम्हे' तथा 1992 में 'परंपरा' आदि फिल्मों के संवाद उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त है सन् 1979 में 'मैं तुलसी तेरे आँगन की' फिल्म के लिए राही को बालीवुड का प्रतिष्ठित फिल्म फेयर बेस्ट डायलाग अवार्ड भी मिला। बंबई में रहते हुए राही लगातार विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छिटपुट तथा नियमित स्तंभ भी लिखा करते थे, जो व्यक्ति, राष्ट्रीयता, भारतीय संस्कृति और समाज, धार्मिकता तथा मीडिया के विभिन्न आयामों पर केंद्रित हैं। अपने समय में राही भारतीय साहित्य और संस्कृति के एक अप्रतिम प्रतिनिधि हैं। उनका पूरा साहित्य हिंदुस्तान की साझा विरासत का तथा भारत की राष्ट्रीय एकता का प्रबल समर्थक है। बंबई फिल्मी जीवन के संघर्ष में लगे राही के अंदर का साहित्यकार संघर्ष करता हुआ साहित्य-यात्रा के अनेक पड़ावों को तय करता रहा। 15 मार्च सन् 1992 में बंबई में ही राही ने इस नश्वर संसार से आखिरी विदाई ली।

कृतित्व

राही ने साहित्य में कदम 1945 में रखा। तब उन्होंने विधिवत उर्दू में शायरी आरंभ की। 1966 तक आते उनके 4 काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके थे— 'नया साल', 'मौजे गुल: मौजे सबा', 'रक्से मय', 'अजनबी शहर अजनबी रास्ते'। बाद में 'शीशे के मकाँ वाले' तथा 'मैं एक फेरीवाला' दो काव्य-संग्रह और प्रकाशित हुए। 1857 पर लिखा उनका एक महाकाव्य 'क्रांति-कथा : 1857' हिंदी-उर्दू दोनों में प्रकाशित है। सन् 1966 में गाज़ीपुर के परमवीर चक्र विजेता शहीद अब्दुल हमीद पर उनकी जीवनी 'छोटे आदमी की बड़ी कहानी' प्रकाशित हुआ। उनका अंतिम काव्य-संग्रह 'गरीबे शहर' सन् 1993 में प्रकाशित हुआ।

हिंदी उपन्यास रचना के क्षेत्र में उपन्यासकार राही मासूम रज़ा का व्यक्तित्व कुल बारह वर्षों के छोटे से दायरे में सिमट कर रह जाता है। वैसे तो राही के भीतर का उपन्यासकार उर्दू में 'शाहिद अख़्तर' और 'आफ़ाक़ हैदर' के नामों से अनेक हल्की-फुल्की औपन्यासिक कृतियाँ तीन दशकों में प्रस्तुत करता रहा, किंतु उर्दू उपन्यासकार 'राही' न तो चर्चा का विषय बन सका और न ही उसकी कृतियाँ साहित्यिक मूल्यांकन के योग्य समझी गयीं। शायद लेखक का उद्देश्य उर्दू उपन्यासों के माध्यम से केवल कुछ पैसे कमा लेना था। यही कारण है कि उर्दू कवि के रूप में प्रतिष्ठित और सम्मानित कवि को उपन्यास लेखन के लिए उपर्युक्त नामों की आवश्यकता पड़ी।

सन् 1964 ई० में जब राही मासूम रज़ा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के उर्दू प्रवक्ता पद के लिए तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप अयोग्य ठहराये गये, तो राही के भीतर का रचनाकार साहित्यिक तलवार लेकर बीच चौराहे पर खड़ा हो गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि यह रचनाकार उर्दू साहित्य के महंतों के ही रक्त का प्यासा नहीं है, बल्कि उर्दू की विशिष्ट सामंती मानसिकता को भी सिर से क़त्ल कर देना चाहता है। उसकी आक्रोशपूर्ण दृष्टि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, उर्दू और मुस्लिम समाज की ज़मींदाराना मनोवृत्ति के विरुद्ध सशक्त मोर्चा बनाने के लिए उसे तत्पर हुई। राही का प्रथम उपन्यास 'आधा गाँव' इसी आक्रोश के नतीजे में हिंदी में लिखा गया। वैसे तो राही के पास उर्दू कविता का सशक्त माध्यम था, किंतु कविता के पाठक सीमित थे, फिर कविता का फलक राही के आक्रोश को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त नहीं था।

'आधा गाँव' का रचना काल सन् 1964 ई० के आस-पास का है। इस समय तक राही को हिंदी लिखने का ठीक-ठाक अभ्यास नहीं था। राही ने अपने दृढ़ संकल्प और लगन से न केवल हिंदी सीखी, बल्कि हिंदी में निरंतर लिखने का निश्चय कर लिया। उनके भीतर की आत्मा ने उनके इस निर्णय को अद्भुत शक्ति प्रदान की। इसी अद्भुत निर्णय का परिणाम था— 'आधा गाँव'।

महाभारत जैसे अत्यंत लोकप्रिय टी. वी. सीरियल के पटकथा और संवाद लिखकर भी राही को अपार सफलता मिली।

‘आधा गाँव’ के बाद राही की अन्य औपन्यासिक कृतियाँ काल-क्रम के अनुसार इस प्रकार आती हैं— ‘टोपी शुक्ला’ (1968), ‘हिम्मत जौनपुरी’ (1969), ‘ओस की बूंद’ (1970), ‘दिल का सादा कागज़’ (1973), ‘सीन 75’ (1977), ‘कटरा बी आर्जू’ (1978), ‘असंतोष के दिन’ (1986), तथा ‘नीम का पेड़’ (2003)।

राही की मृत्यु के बाद उनके मित्र और साथी तथा हिंदी के सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक प्रो. कुँवरपाल सिंह ने उनकी अप्रकाशित रचनाओं को छह पुस्तकों में संपादित करके प्रकाशित कराया है। पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं— ‘क्रांतिकथा : 1857’, ‘लगता है बेकार गये हम’, ‘खुदा हाफ़िज़ कहने का मोड़’, ‘सिनेमा, समाज और संस्कृति’, ‘राही का रचना संसार’ तथा ‘राही मासूम रजा से दोस्ती’। ‘अभिनव कदम’ पत्रिका ने भी राही विशेषांक नवंबर 2001—अक्टूबर 2002 निकाला, जिसमें राही के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर पर्याप्त सामग्री है। इन सभी संपादित पुस्तकों में विभिन्न विषयों पर लेख, भाषण, संस्मरण और पत्र संकलित हैं।

संदर्भ

1. सैयद जुहेर अहमद जैदी, उपन्यास राही मासूम रजा : कृतित्व एवं उपलब्धियाँ (अप्रकाशित शोध-प्रबंध) अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, पृ. 4
2. वही, पृ. 10

अध्याय चार

राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में
उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ

राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ

राही मासूम रज़ा का साहित्य स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में अपनी एक अलग पहचान रखता है। राही ने उपन्यास और कविता के साथ-साथ लेख, नाटक, फिल्मों की पटकथा, संवाद आदि भी लिखे। राही को एक साहित्यकार के रूप में पहचान उनके पहले उपन्यास 'आधा गाँव' से मिली। 'आधा गाँव' का प्रकाशन सन् 1966 में हुआ। इस उपन्यास ने हिंदी के पाठकों और आलोचकों दोनों का ध्यान अपनी तरफ खींचा। राही का दूसरा उपन्यास 'टोपी शुक्ला' सन् 1968 में आया। सन् 1969 में 'हिम्मत जौनपुरी', सन् 1970 में ओस की बूंद, सन् 1973 में 'दिल एक सादा कागज़', सन् 1977 में 'सीन 75', सन् 1978 में 'कटरा बी आर्जू', और सन् 1986 में 'असंतोष के दिन' का प्रकाशन हुआ। 'आधा गाँव' को छोड़कर अन्य सभी उपन्यास नगरीय पृष्ठभूमि पर केंद्रित हैं यद्यपि इनमें प्रयुक्त भाषा लगभग एक सी—भोजपुरी उर्दू ही है। इन सभी उपन्यासों में राही की चिंताएँ अलग-अलग हैं। आधा गाँव देश-विभाजन से उपजी सांप्रदायिकता और विस्थापन का दर्द, अल्पसंख्यक मुसलमानों के भय के साथ-साथ उनके सामाजिक स्तर में आयी गिरावट को भी रेखांकित करता है। 'टोपी शुक्ला' में अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त शिक्षा प्रणाली में फैलती बेरोजगारी में नवयुवकों के आत्महत्या को केंद्र में रखकर कथा कही गयी है। इसके साथ हिंदी-उर्दू संबंधी भाषागत विभेदों, सांप्रदायिकता और औपनिवेशिक इतिहास के प्रश्नों को भी बीच-बीच में उठाता चलता है। 'कटरा बी आर्जू' के केंद्र में उत्तर औपनिवेशिक राजनीति की एक दुखद घटना 'इमरजेंसी' में सरकारी तंत्र और भ्रष्टाचार के बीच फँसे आम आदमी की इच्छा-आकांक्षा तथा आशा-निराशा के निर्मम दमन को रोमांचकारी ढंग से चित्रित किया गया है। 'ओस की बूंद' के केंद्र में धर्म और सांप्रदायिक दंगे के अंतर का रेखांकन है। उपर्युक्त तीनों ही उपन्यासों में मुस्लिम लीग की राजनीति का घोर विरोध किया गया है। कांग्रेस और वाम दलों में आयी विसंगतियों को भी निष्पक्ष ढंग से चित्रित किया गया है। 'सीन 75' फिल्म-नगरी में फैले अजनबीपन, संत्रास, कुंठा आदि को व्यक्त करती है। 'हिम्मत जौनपुरी' में बंबई शहर की चकाचौंध में पूरब के एक आम आदमी के दर्द को बयान किया गया है।

इस प्रकार राही अपने उपन्यासों में अलग-अलग कथ्य उठाते हैं। जहाँ तक उनके उपन्यासों में उत्तर औपनिवेशिक चेतना की अभिव्यक्ति का सवाल है, तो यह उनके सभी उपन्यासों में अभिव्यक्त नहीं होता।

औपनिवेशिक विमर्शों एवं उनके साम्राज्यवादी दबाव के चलते देश-विभाजन, सांप्रदायिकता, विसंस्थापन, बर्जुआ राजनीति तथा भाषाई विभेद उत्पन्न हो जाते हैं और इनका विरोध उत्तर औपनिवेशिक चिंतन के आयामों से जुड़ जाता है। बहुत हद तक यह भी देखना हागा कि क्या कोई रचना खुद ही औपनिवेशिक विमर्शों को तो व्यक्त नहीं कर रही है। इस विषय में अभयकुमार दुबे का कहना है कि “... भारतीय ज़मीन पर औपनिवेशिक प्रभाव के खिलाफ संघर्ष करने के सीधे और सरल लगने वाले तौर तरीक़े भीतर से कितने पेचीदा थे। ... भारतीय समाज में परंपराप्रदत्त जड़ता और औपनिवेशिक जकड़बंदी से संघर्ष करना ज़्यादा आसान था, लेकिन इस संघर्ष के दौरान खुफ़िया तौर पर चल रही उस प्रक्रिया का मुक़ाबला करना कठिन था जिसके तहत हम उपनिवेशवादी मूल्यों को ही आत्मसात करते जा रहे थे, यानी उपनिवेशवाद का ही एक ‘डबल’ हमारे भीतर बनता जा रहा था।”¹

राही के लेखन में उत्तर औपनिवेशिक तत्त्वों की पड़ताल तीन संदर्भों में कर सकते हैं। पहला संदर्भ देश-विभाजन तथा सांप्रदायिकता के साथ-साथ बर्जुआ किसिम की राजनीति और सरकारी व्यवस्था-तंत्र का है। दूसरा संदर्भ अपनी परंपरा, उसकी स्मृति तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत को सहेज कर रखने का है तथा तीसरा संदर्भ भाषा के प्रति अत्यधिक संवेदनशील दृष्टिकोण का है। पहला संदर्भ राही के उपन्यासों के साथ-साथ उनके लेखों में भी दिखायी पड़ता है। दूसरा संदर्भ कविता के साथ-साथ लेखों में स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। तीसरा संदर्भ उनके समूचे लेखन शैली में दिखायी पड़ता है।

इस प्रकार हम पहले राही के उपन्यासों की विवेचना करेंगे।

औपनिवेशिक नीतियाँ और देश-विभाजन तथा सांप्रदायिकरण

राही का पहला उपन्यास 'आधा गाँव' सन् 1966 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास 1947-1948 की दहलीज पर खड़े होकर गाज़ीपुर के एक छोटे से गाँव गंगौली की कहानी के माध्यम से पूरे देश की कहानी कहता है। यह अपने समय की कहानी कहता है। यह समय ब्रिटिश राज के जाते-जाते देश को बँट जाने का समय है। हमारी चेतनाओं के भी बँट जाने का समय है। यही कारण है कि यह सांप्रदायिकता के उभार का समय है। विस्थापन का समय है। किसानों की विवशता का समय है। मुसलमान ज़मींदारों के पतन का समय है। अल्पसंख्यक मुसलमानों के भय का समय है। इस उपन्यास में देश-विभाजन और सांप्रदायिकता और किसानों की समस्या के साथ-साथ हमारी साझी संस्कृति, नस्लीय चेतना आदि का भी चित्रण किया गया है। लेकिन इसमें सांप्रदायिकता और देश-विभाजन की समस्या ही मुख्य रूप से चित्रित है। राही के संपूर्ण लेखन में सांप्रदायिकता एक ज्वलंत मुद्दा है। 'आधा गाँव', 'टोपी शुक्ला' और 'ओस की बूंद' में पाकिस्तान-विमर्श, सांप्रदायिकता, उससे उपजा अल्पसंख्यक मुसलमानों का भय, साथ ही मुसलमानों का विस्थापन, मुसलमानों की कांग्रेस निष्ठा और मुस्लिम लीग का विरोध, सांप्रदायिकता से ग्रसित भाषा -हिंदी-उर्दू विवाद और साझी संस्कृति का पुरज़ोर चित्रण हुआ है। राही के इन तीन उपन्यासों के पाठ करने से पूर्व सांप्रदायिकता की निर्मिति को देखना और समझना होगा। आज तक हम यह पढ़ते आये हैं कि हिंदुस्तान में सांप्रदायिक भावना इस्लाम के आगमन के बाद पनपी जिसके फलस्वरूप देश का विभाजन हो गया। तत्कालीन नेताओं की परस्पर राजनीतिक महत्वाकांक्षा ने इसको और भी पाला-पोसा तथा अंग्रेज़ों ने इसमें अपनी रोटी सेंकी और देश-विभाजन की त्रासदी घटित हो गयी। लेकिन क्या यही सच है?

भारत में सांप्रदायिकता की शुरुआत औपनिवेशिक सरकार की नीतियों के फलस्वरूप हुई, एक बड़ा सच यह भी है। भारतीय समाज के संस्कृति-साहित्य और जीवन में सांप्रदायिकता का ज़हर घोलने के लिए औपनिवेशिक सरकार की कई नीतियाँ एवं विमर्श थे। इनमें सबसे पहले भारतीय इतिहास को तोड़-मरोड़ कर भारतीय मानस को औपनिवेशिक बना लेने की नीति थी। ज्ञानेंद्र पांडेय कहते हैं—

“इस अर्थ में, भारत का आधुनिक इतिहास, पहले औपनिवेशिक काल में और औपनिवेशिक विद्वानों द्वारा लिखा गया। यह उपनिवेशवादी लेख ही थे जिन्होंने भारतीय अतीत के उस पैटर्न को स्थापित किया जिसे बहुत हद तक हम आज जानते हैं। ओर इस पैटर्न में सांप्रदायिक संघर्ष एक महत्वपूर्ण मूल भाव था।”² औपनिवेशिक शासन के दौरान इस तरह का इतिहास-लेखन आम बात थी। उत्तर औपनिवेशिक चिंतन में इस तरह के तमाम औपनिवेशिक विमर्शों एवं नीतियों को बेनकाब करने की कोशिश शुरू हुई। लेकिन औपनिवेशिक काल में तैयार गुलाम मानस उन्हीं विमर्शों और नीतियों को आगे बढ़ाने लगा। विश्वमोहन पांडेय ने अपनी पुस्तक ‘भारतीय विभाजन का इतिहास-लेखन : साम्राज्यवादी लेखन का विश्लेषण’ में ऑक्सफ़ोर्ड तथा कैम्ब्रिज के विद्वानों के लेखन में भारतीय विभाजन के संदर्भ में औपनिवेशिक साम्राज्यवादी सोच की संरचना का विवेचन-विश्लेषण किया है। के. एन. पनिकर, मेहंदी अर्सलान, जानकी राजन, पी. सी. जोशी के लेखों के आलोक में वह कहते हैं कि अपने आधुनिक संदर्भों में सांप्रदायिकता सीधे-सीधे ब्रिटिश शासन की भारत को देन है। विभिन्न तरीकों से यह परिभाषित किया गया जैसे “सभी विचारधाराओं से ऊपर”, “एक भ्रामक चेतना”, “एक रहस्यपूर्ण स्रोतों का संघर्ष”, “नौकरियों की प्रतिस्पर्धा” तथा “शासक वर्ग की राजनीति का एक तंत्र”। जो भी हो, इसे हमेशा एक सामाजिक फ़ेनोमेना की तरह ही लेना चाहिए जिसकी जड़ समकालीन राजनैतिक तथा आर्थिक ढाँचे में फैली है।”³

पांडेय सांप्रदायिकता को सीधे तौर पर ब्रिटिश इतिहास-लेखन का परिणाम मानते हुए लिखते हैं— “सांप्रदायिकता तथा राष्ट्रवाद दोनों मुख्यतः उच्चवर्ग से ही जुड़े रहे। चूँकि उच्च वर्ग शारीरिक यंत्रणा में विश्वास नहीं करता है, अतः यह विवाद सैद्धांतिकी तथा वैचारिक धरातल तक सीमित रहा। इस विवाद में, इतिहास-लेखन की राजनीति ने उस समय बहुत ही निर्णायक भूमिका अदा की। जेम्स मिल, एच. एम. इलियट, एडनड थार्नटन तथा अन्य लेखकों के लेखन ने भारतीय इतिहास में सांप्रदायिकरण की गहरी नींव डाली। इलियट जो कि भारतीय शासन के सचिव थे, ने मध्यकालीन भारत पर लिखते समय यह कहा कि मुस्लिम शासकों ने हिंदू उपासकों तथा उपासना को निषिद्ध किया, मूर्तियों को तोड़ा, मंदिर

गिराये, जर्बदस्ती जनता का धर्मांतरण करवाया तथा सामूहिक हत्याएँ करवायीं, राज्य अधिहरण किया आदि—आदि। दूसरा, ईसाई मिशनरियों, जो 1813 से भारत में वैधानिक रूप से आये थे, ने अपने लेखन में भारतीय इतिहास की औपनिवेशिक व्याख्याएँ की तथा इस प्रकार के इतिहास को पढ़ा कर इसे संस्थाबद्ध कर दिया।.... राष्ट्रवादी इस प्रक्रिया का सामना करने में विफल रहे ओर सांप्रदायिकतावादी अपने चाल में कामयाब रहे।⁴ के. एन. पनिककर का कहना है कि, “इतिहास अक्सर सभी सरकारों द्वारा वैधता के एक स्रोत के रूप में लागू किया जाता है। सत्तारूढ़ ताकतों द्वारा पाठ्यपुस्तकों की तैयारी तथा संवर्धन इस राजनीतिक हित को परिलक्षित करते हैं। पिछले दो सौ साल में भारत के इतिहास लेखन का विकास सत्ता तथा राजनीति की बदलती रूपरेखा के प्रभाव को समाविष्ट करता है। भारत पर ज्यादातर लेखन औपनिवेशिक प्रशासकों द्वारा रचित था और विचारधाराएँ औपनिवेशिक हितों के साथ गुँथी हुई थीं।⁵ अधिकांशतः औपनिवेशिक इतिहासकारों का यही मानना था कि औपनिवेशिक शासन के पूर्व भारतीय समाज खंडित और विभाजित था। और इनमें भी हिंदू—मुस्लिम विभाजन सबसे घातक था— “भारतीय इतिहास को सांप्रदायिक बनाने की प्रक्रिया में जेम्स मिल, वी. ए. स्मिथ, विलियम वारड, जेसी मार्शमैन, जॉन स्टूअर्ट मिल, हंटर, वैंलेंटाइन चिरोल और अन्य ब्रिटिश विद्वानों ने निर्णायक भूमिका निभायी।⁶ इन इतिहासकारों ने विभाजन के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को दोषी करार दिया। इस पैटर्न के सभी इतिहासकारों ने इसे एक हिंदू संगठन माना और इसे हिंदू राष्ट्रवाद के समकक्ष माना। पांडेय का कहना है कि इन इतिहासकारों ने “भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं में गाँधी और नेहरू को लगभग अपशब्द कहते हुए निंदा की। इस ग्रुप के कुछ ‘हाई प्रोफाइल’ विद्वानों ने विभाजन को भारतीयों को दी गयी सत्ता की ताकत का अप्रत्यक्ष उत्पाद माना। इस स्कूल के कुछ विद्वानों ने जिन्ना को बहुत ऊपर बिठाया, कभी—कभी तो राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में गाँधी से ऊपर उनको माना।⁷

इन औपनिवेशिक इतिहासकारों में कुछ और उल्लेखनीय नाम और भी हैं। पर्सिवल सीमर, एच. वी. हडसन, एलेन कैंबेल जानसन, पी. एन. एस मानसर्गह, पेन डेरल मून तथा आर. जे. मूर आदि मुख्य हैं। भारत में सांप्रदायिकरण की नींव

डालने का श्रेय इन लोगों को ही जाता है। यह सभी विद्वान लगभग एक स्वर से इस बात पर तर्क करते रहे कि मुसलमान भारत में विदेशी हैं तथा उनकी एक अलग पहचान है। साथ ही यह भी प्रचारित करते रहे कि इस्लाम आगमन के बाद से हिंदुओं से उनका राज छिन गया और उन पर बेहद जुल्म ढाये गये, अतः स्वाभाविक तौर पर उनके भीतर एक विंगारी हमेशा बनी रही जो कभी भी मुसलमानों को जला कर राख कर देगी। अंग्रेज़ी पढ़ा हुआ भारतीय मानस उनके इस जाल में आसानी से फँस गया। और उसने मुस्लिम कौम तथा हिंदू राष्ट्र की सांप्रदायिक अवधारणा को स्वीकार कर लिया। विश्व मोहन पाण्डेय का कहना है—

“मुस्लिम सांप्रदायिकतावादियों ने कहना शुरू किया कि चूँकि वह एक अलग किस्म के समुदाय हैं, अतः उनके हित हिंदू समुदाय के हितों से अलग है और चूँकि उनके हित अलग-अलग हैं, अतः उन्हें विशेष दर्जा दिया जाना चाहिए, और इसने आल इंडिया मुस्लिम लीग (1906) के गठन, अलग निर्वाचन क्षेत्र, द्विराष्ट्र सिद्धांत तथा भारत के विभाजन को औचित्यपूर्ण ठहराया। दूसरी तरफ हिंदू सांप्रदायिकतावादियों ने अपने साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्वी की राह पर चलते हुए भारतीय मध्यकाल को मुस्लिम काल के तौर पर ही लिया, क्योंकि उसमें अधिकांश शासक इस्लाम से ही संबंध रखते थे। अतः, शासक के धर्म ने राष्ट्र के स्वरूप को तय किया तथा उस दौर को एक नाम दे दिया।.... इसमें पूरे मुस्लिम समुदाय को हिंदुत्व के पतन के लिए जिम्मेदार माना जाने लगा। अतः साधारणीकृत करते हुए मुसलमानों को उन सभी गलतियों के लिए दोषी दिया जाने लगा जो उनके समानधर्मी शासकों ने की थी। इन सबके ऊपर, उन हिंदू शासकों को जिन्होंने मध्यकाल में मुस्लिम शासकों से टक्कर ली थी, वे राष्ट्रीय नायक बना दिये जाते हैं। अतः यहाँ से दोषारोपण की प्रक्रिया शुरू होती है जिसने पूरे इतिहास को सांप्रदायिक कर दिया तथा सांप्रदायिकता के ज़हर के पलने-पोसने तथा फैलने में एक मुख्य तत्त्व बना। इस पूरे खेल में, औपनिवेशिक तंत्र अगोचर उत्प्रेरक की भाँति काम करता रहा।”⁸

वस्तुतः यह सारा का सारा मामला औपनिवेशिक इतिहास लेखन और औपनिवेशिक प्रशासनिक नीतियों का है। सर्वप्रथम हम इस औपनिवेशिकताग्रस्त इतिहास-लेखन पर एक नज़र डालेंगे। इस इतिहास-लेखन का श्रीगणेश जेम्स

मिल के इतिहास “ब्रिटिश भारत के इतिहास” से हुआ। जेम्स मिल उन उपयोगितावादी विद्वानों में से था जो यह मानता था कि भारत में या किसी भी उपनिवेश में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का आना ईश्वर की इच्छा या आज्ञा थी। ईश्वर की ही आज्ञा से ब्रिटिश शासन ने भारतीयों को सभ्य, श्रेष्ठ और राजनीतिक चेतना संपन्न बनाने का बीड़ा उठाया था। के. एन. पनिकर कहते हैं कि प्राच्यवादियों के अनुसार, “उपनिवेशवाद ने एक अराजक समाज में हस्तक्षेप किया था, धार्मिक समुदायों को, जो एक दूसरे के साथ अंतहीन ढंग से संघर्ष में थे, विभाजित किया। भारतीय समाज का यह दृष्टिकोण अतीत के प्रति औपनिवेशिक संकल्पना को भी सूचित करता था जो धर्म को भारतीय इतिहास और सामाजिक चेतना के संचालक के रूप में अभिस्वीकृत करता था। परिणामस्वरूप औपनिवेशिक विचारकों ने धार्मिक पहचान को भारतीय इतिहास की एक खास विशेषता के रूप में लागू कर दिया।”⁹

रोमिला थापर जेम्स मिल के इतिहास-लेखन के भीतर बोये गये सांप्रदायिकता के बीज की पहचान करते हुए कहती हैं— “सबसे अहम् पहलू यह है कि उसके बहुचर्चित ग्रंथ “ब्रिटिश भारत का इतिहास” ने ही भारतीय इतिहास के सांप्रदायिक भाष्य की आधारशिला रखी थी और इस तरह बहुत पहले ऐतिहासिक द्विराष्ट्रवादी सिद्धांत के औचित्य को पेश कर दिया था। वही ऐसा पहला इतिहासकार था, जिसने भारतीय इतिहास को तीन कालों में बाँटा था और उनका नामकरण ऊपर बताये ढाँचे में किया था— हिंदू सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता और ब्रिटिश सभ्यता (कितनी दिलचस्प बात है, ईसाई सभ्यता नाम नहीं रखा)।”¹⁰

मिल के इतिहास-लेखन के पीछे के साम्राज्यवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुई कहती हैं— “उपयोगितावादी चिंतन के पीछे बौद्धिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि को देखते हुए यह समझा जा सकता है कि मिल ने इस स्कीम को इतने मनमाने ढंग से क्यों पेश किया?...मिल का इतिहास एक तो सबसे पहला मान्य इतिहास था और इसका प्रभाव इतना गहन था कि इसकी बहुत सी मान्यताएँ आज भी अनेक क्षेत्रों में मान्य हैं। कुछ इतिहासकार यद्यपि इसकी जगह दूसरे नामकरण प्रयोग में लाते हैं, जैसे प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक वगैरह लेकिन इस विभाजन का आधार वही रहता है जो मिल का था, अर्थात् महान शासक-वंश और उनके धर्म। मिल का इतिहास ब्रिटिश

प्रशासकों का मूल आधार बना और 19वीं शताब्दी के मूल इतिहासकार मुख्यतः प्रशासक वर्गों से ही आये थे। मिल के 'इतिहास' का एक दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि यह हिंदू-संस्कृति के प्रति बेतरह आलोचनात्मक था और इसका वर्णन इस रूप में करता था कि वह बहुत ही पिछड़ी हुई, नुकसानदायक, अतार्किक है, अतः प्रगति-विरोधी है। इसकी तुलना में उसकी सहानुभूति उस काल के प्रति अधिक थी, जिसे वह 'मुस्लिम सभ्यता' कहता है, हालाँकि जगह-जगह इसकी भी तीव्र आलोचना को बख्शा नहीं गया है। शायद यही वजह है कि प्राच्यविद्यावादियों का एक हिस्सा और बाद में भारतीय इतिहासकार "हिंदू सभ्यता" का पक्ष लेने खड़े हुए। ज़ाहिर है इस पक्षधरता को प्राचीन काल के महिमामंडन यानी 'स्वर्णिम हिंदू अतीत' तक पहुँचना ही था।¹¹ भारत में स्वर्णिम अतीत जैसी चेतना विकसित होने के कारणों की पड़ताल करते हुए बिपिनचंद्र कहते हैं— "अंग्रजों द्वारा भारतीय इतिहास का बेजा इस्तेमाल करने, भारत के राष्ट्रीय चरित्र को नकारने, बदनाम करने और जनतंत्र के अयोग्य सिद्ध करने के बरखिलाफ़ भारतीय इतिहास और राजनीति में एक दूसरी तोड़-फोड़ शुरू हुई। भारतीयों ने इस अवैज्ञानिक और अनैतिहासिक दृष्टिकोण का विरोध तो किया लेकिन अपने अनैतिहासिक दृष्टिकोण से ही। उन्होंने बदले में अतीत का गुणगान शुरू कर दिया।..... स्पष्टतः इसकी मूल थी राष्ट्रीय अस्मिता और गर्व की अनुभूति की आवश्यकता। लेकिन राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इसमें जो दुर्भाग्यपूर्ण बात थी वह यह कि यह अतीत जो गुणगान के लिए चुन गया वह अतीत तो था लेकिन धुर प्राचीन। आंशिक तौर पर इसकी वजह यह थी कि मुग़ल शासन का जो अतीत था, वह लोगों की स्मृतियों में अभी ताज़ा था, लिहाज़ा उसका महिमामंडन आसानी से नहीं किया जा सकता था। दूसरी तरफ़ यह 'प्राचीन काल' सुदूर अतीत में स्थित था और इसे केवल सरकारी या लगभग सरकारी स्रोतों से ही जाना जा सकता था। जबकि वस्तुतः निकट का अर्थ होता कि जो बात मुग़ल शासन पर लागू होती वही मराठा राज पर और वही राजा रणजीत सिंह के प्रशासन पर भी लागू होती। अर्थात् उसका महिमामंडन तभी हो सकता था, जब सांप्रदायिकता पूरी तरह फैल सके। लिहाज़ा हुआ यह कि उस 'सुदूर' से लगातार एक से बढ़कर के एक मिथ फूट चले, जिन्होंने स्वस्थ धर्म निरपेक्षतावाद

को कमजोर किया और यदि सीधे सांप्रदायिकता को बल नहीं दिया तो कम से कम उसका रास्ता जरूर खोल दिया।”¹² बिपिन चंद्र भी सांप्रदायिक इतिहास-लेखन को कठघरे में खड़ा करते हुए कहते हैं— “लेकिन यह बीमारी भी यूरोप की ही दी हुई है। एक सीमा तक, यूरोपीय इतिहास से परिचित भारतीय विद्यार्थियों को ऐसा लगता है, जैसे यह हिंदू-मुस्लिम संघर्ष भारत का कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट संघर्ष हो।

भारतीय राज्यों के हिंदू-मुस्लिम चरित्र को रूपायित करने, 18वीं शताब्दी में या उससे पहले के हिंदू-मुस्लिम संघर्षों, 19वीं और 20वीं शताब्दियों के हिंदू-मुस्लिम वैर-विरोधों के बारे में प्रायः सभी सामान्यीकरण सबसे पहले तो ब्रिटिश इतिहासकारों और प्रचारकों ने ही पैदा किये थे। और भारतीयों ने तो केवल उनका अंधानुकरण ही किया। ऐसा करना आसान भी था क्योंकि ब्रिटिश अधिकारियों को ऐसी सांप्रदायिक व्याख्याओं पर या प्राचीन और मध्यकालीन शासकों और ‘नायकों’ के महिमा मंडन पर कोई एतराज नहीं था। उन्होंने केवल अचूक ढंग से उन्हीं कोशिशों पर पानी फेरा जो स्वयं में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आलोचना थीं।”¹³

इस प्रकार के इतिहास-लेखन को व्यवहारिक रूप देने के लिए ब्रिटिश प्रशासन ने धार्मिक ढंग के संस्थाओं और स्कूलों आदि को बढ़ावा देना शुरू किया। विश्व मोहन पाण्डेय का कहना है कि, “मुहम्मडन एंग्लो ओरिएंटल स्कूल और कालेज, इस्लामिक स्कूल, दयानंद एंग्लोवेदिक स्कूल और कालेज, सनातन धर्म और सिक्ख स्कूल और कालेज आदि ने भारतीय इतिहास के सांप्रदायिक सोच को बढ़ावा दिया। जो भी हो, स्कूल और कालेज ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा शुरू किये गये और ईसाई मिशनरियों ने मुख्य खलनायक की भूमिका निभायी। इन संस्थाओं में पढ़ाने वाले तथा पढ़ने वाले अधिकांशतः किसी न किसी रूप से सांप्रदायिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त हो जाते थे। अतः व्यापक निर्दोष जन समुदाय उनसे प्रभावित हो जाती थी। यह पूरी व्यवस्था कुछ इस तरह निर्मित हुई कि पूरा का पूरा सेकुलर राष्ट्रवाद जर्बदस्त दबाव में आ गया और सांप्रदायिकता से समझौता करते हुए विभाजन को आखिरी रास्ता मान लिया।”¹⁴

1857 के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम के बाद ब्रिटिश प्रशासन ने मुस्लिम सांप्रदायिकता को बढ़ावा देना शुरू कर दिया। ज्ञानेंद्र पांडेय का कहना है कि “ब्रिटिश प्रशासन ने राष्ट्रवादी आंदोलन की बढ़ती हुई ताकत के खिलाफ अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए अलग मुस्लिम संगठन को बढ़ावा दिया।”¹⁵ हालाँकि शुरू के कुछ सालों में अंग्रेज़ मुसलमानों के प्रति शंकाकुल भी रहते थे, क्योंकि जब अंग्रेज़ों का भारत आगमन होता है, तब भारत में मुसलमान शासक थे। अंग्रेज़ी शासन के फलस्वरूप उन्हें अपदस्थ होना पड़ा था। अतः अंग्रेज़ों को भय था कि मुसलमान अपनी खोयी हुई सत्ता पुनः प्राप्त करने का प्रयास अवश्य करेंगे। यही कारण है कि उन्हें कंपनी के पदों से दूर रखा गया। हिंदुओं को अधिक महत्त्व दिया गया। अंग्रेज़ों की विभाजनकारी नीति से मुस्लिम अभिजात वर्ग संभल गया। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में उसने अपने आप को ढालना शुरू कर दिया तथा अंग्रेज़ों से वफ़ादारी बढ़ाने लगा। 1857 के लगभग एक दशक बाद तक भारतीय मुस्लिम अभिजातवर्ग ने अंग्रेज़ों का विश्वास अर्जित कर लिया। 1871 में विलियम हंटर की पुस्तक *THE INDIAN MUSALMANS* में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का मुसलमानों के प्रति एक बदला हुआ रुख मिला। इसमें इस्लाम तथा मुसलमान को पिछड़ा मानते हुए उनपर विशेष ध्यान देने जैसी बात की गयी। तत्पश्चात् लार्ड कर्जन ने 1905 में मार्ले-मिंटो सुधार के तहत अलग निर्वाचन क्षेत्रों की स्थापना, सांप्रदायिक आधार पर मतदान की प्रणाली द्वारा ताबूत में आखिरी कील ठोक दी गयी— “हंटर की रचना ‘इंडियन मुसलमान्स’ ने बड़ी तेजी से सरकारी क्षेत्रों में यह कहने और सोचने का चलन कर दिया कि मुसलमान एक समांग पिछड़ा हुआ समुदाय है। 1888 में डफ़रिन ने मुसलमानों को पाँच करोड़ लोगों का एक राष्ट्र बताया जो एक ही धर्म और समान रीति-रिवाजों को मानते थे और जो, “उन दिनों की एक साझी संस्कृति अपने दिलों में संजोए हुए थे जब वे दिल्ली में गद्दीनशीन थे और हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक उन्हीं की हुकूमत चलती थी। (क्रास के नाम डफ़रिन का पत्र, 11 नवंबर 1888) ऐसी एक नहीं अनेक धारणाएँ थी, जो ऐतिहासिक रूप से मिथ्या थी किंतु हमारे विदेशी शासकों के लिए राजनीतिक रूप से उपयोगी थीं। फ्रांसिस राबिंसन द्वारा संयुक्त प्रांत के एवं एन. जी. बैरियर द्वारा पंजाब से संबंधित हालिया अध्ययन दर्शाते हैं कि किस प्रकार म्युनिसिपल चुनावों के लागू होते ही इन दोनों प्रांतों में हिंदू-मुसलमान तनाव तीव्र हो गया। 1886 में तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि पंजाब में लायल की सरकार होशियारपुर लाहौर और मुल्तान शहरों में अलग-अलग चुनाव कराने लगी।... जैसा कि बैरियर कहते

हैं, हो सकता है कि पहले से विद्यमान संघर्ष को कम करने की बात रही हो, फिर भी इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि अलग-अलग निर्वाचन मंडलों के होने से विभाजित करनेवाली रेखाएँ दृढ़ ही हुईं, क्योंकि इससे अलग-अलग संप्रदाय के नेता केवल अपने ही धर्म के लोगों के पास जाने के लिए प्रोत्साहित ही नहीं, अपितु बाध्य भी हुए।¹⁶ यहाँ जर्नल कोक की टिप्पणी का उल्लेख करना आवश्यक है। जर्नल कोक ने स्पष्टतः कहा ही कि 'फूट डालो और राज करो' की नीति से ही ब्रिटिश शासन देर तक कायम रह सकता है— "पहले ज़माने में अंग्रेज लोग खुल्लमखुल्ला फूट की लाठी से राज्य चलाने की बात किया करते थे। अब वे होशियार हो गये हैं। 1821 में ही एक अंग्रेज अफसर ने इस नीति का ऐलान कर दिया था। मई 1821 की *एशियाटिक रिव्यू* में कर्नाटिकस नाम से लिखते हुए उसने कहा था, "हिंदुस्तानी हुकूमत की टेक होनी चाहिए—फूट डालो और राज्य करो; हमें चाहे राजनीतिक शासन करना हो चाहे फौजी या नागरिक, हमें इसी नीति से काम लेना चाहिए।" लेफ्टिनेंट कर्नल कोक ने, जो मुरादाबाद में सैनिकों के प्रधान थे, 1850 के लगभग यह सिद्धांत निश्चित किया था कि, "हमारे सौभाग्य से हिंदुस्तान की जातियों और धर्मों में भेदभाव है। हमें कोशिश करनी चाहिए कि यह भेदभाव अच्छी तरह बना रहे। उसे मिटाने की कोशिश न करनी चाहिए। फूट डालो और राज्य करो, हिंदुस्तानी सरकार का यही सिद्धांत होना चाहिए।" 1888 में हिंदुस्तान पर अधिकारी विद्वान माने जाने वाले सर जॉन स्ट्रेची ने लिखा था, "साफ़-साफ़ बात यह है कि इन विरोधी धर्मों का होना हमारी राजनीतिक स्थिति के लिए बहुत ही हितकर है।"¹⁷ इसके बाद 1935 में भारतीय शासन अधिनियम पारित कर पृथक निर्वाचन प्रणाली को वैधता दे दी गयी— "1906 में मुस्लिम लीग का जन्म, 1909 में सुधार, 1935 का कानून, ये सारे कदम बता रहे थे कि अंग्रेजों की सुधार-योजना में ख़ास मुद्दा यह है कि उच्चवर्ग मुसलमानों को हिंदुओं से अलग कर दिया जाए। थोड़े से कांग्रेसी नेता विरोध किया करते थे, फिर उन्हीं पर अमल किया करते थे। इस तरह अंग्रेजों की नीति को आगे बढ़ाने में उनका हाथ भी था।.... मुस्लिम लीग से समझौता करो, तब तुम्हें स्वराज्य मिलेगा, यह अंग्रेजों की शर्त थी। मुस्लिम लीग ही मुसलमानों की एकमात्र संस्था है, ये राजनीतिक परिदृश्य तैयार करने में अंग्रेजों की निर्णायक भूमिका थी।"¹⁸

प्रियवंद इस प्रकार के इतिहास लेखन को औपनिवेशिक षड्यंत्र न मानकर उपनिवेशकर्ताओं की नस्लीय चेतना से जोड़कर देखते हैं— “नीत्शे ने सुपरमैन के माध्यम से जिस भीड़ के लिए घृणा व भर्त्सना की शिक्षा दी, इसके समर्थन में अपनी जादुई भाषा में तर्कपूर्ण सिद्धांत दिए, अंग्रेजों के एक बड़े वर्ग के अंदर वह नस्लीय घृणा जन्म ले रही थी। भारतीयों का अपमान उनके साथ क्रूरता, दुर्व्यवहार उनका शोषण और उन्हें किसी भी तरह की स्वाधीनता व अधिकारों से वंचित रखने की प्रवृत्तियाँ व कानून बढ़ रहे थे। वे जो इतिहास लिख रहे थे और इंग्लैण्ड में पढ़ा रहे थे, वह भारत के प्रति अत्यंत अपमानजनक सूचनाओं व विवरणों के साथ प्रस्तुत हो रहा था। जेम्स मिल की पुस्तक ‘हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया’ (1818) हेलीबेरी कालेज के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में थी और भारत के बारे में अंग्रेजों की जानकारी का मुख्य स्रोत थी। मिल ने हिंदू सभ्यता, समाज, इतिहास को अत्यंत उपहासपूर्ण व अपमान जनक ढंग से खारिज किया है। हेनरी इलियट ने अपनी मशहूर पुस्तक, जो बाद में डाउसन ने संपादित की (हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स हिस्टोरियन, आठ खण्ड, 1867–77), जो कई पीढ़ियों तक मुस्लिम भारत के इतिहास को जानने का प्रमुख माध्यम रही, मुगल शासकों के प्रति अत्यंत विरोधी दृष्टि से लिखी हुई थी। इस पुस्तक ने हिंदू-मुसलमानों के संबंधों पर घातक प्रहार किया।”¹⁹

राजनीति और इतिहास को सांप्रदायिक रूप दे देने के बाद ब्रिटिश प्रशासन ने रिपोर्टों और दस्तावेजों आदि को भी सांप्रदायिकता फैलाने का माध्यम बना लिया। 1809 के ‘बनारस कब्र दंगे’ के रिपोर्टों को देख कर यह साबित होता है कि औपनिवेशिक सरकार अपने साम्राज्यवादी हित के लिए किस तरह तथ्यों के साथ खिलवाड़ करती थी। ज्ञानेंद्र पांडेय का कहना है कि, “कैसे 28 या 29 लोगों के मारे जाने और 70 के घायल हो जाने को, मिल ने, 20 मुसलमानों के मारे जाने तथा 70 का घायल हो जाना दर्ज किया जो 1907 के गैजेटियर और 1928 के सरकारी ज्ञापन में नाटकीय ढंग से बढ़कर ‘कई सौ’ के मारे जाने तक पहुँच गया? कैसे आरंभिक संघर्ष का स्थल शहर के खुले क्षेत्र में स्थित लाट भैरव से बदल कर विशेश्वर या विश्वनाथ मंदिर हो गया? संघर्ष का ‘कारण’ प्रदूषण से विस्थापित

होकर लाट भैरव के टूटने, मुहर्रम ताजिये के कारण उपजे उन्माद, होली और मुहर्रम जुलूस के दौरान हुए संघर्ष, विश्वनाथ मंदिर के क्षेत्र में औरंगजेब द्वारा निर्मित ज्ञानव्यापी के पास की मस्जिद को लेकर हुए विवाद हो गया। इसके प्रति क्या जवाबदेही बनती है?"²⁰ और इसका कारण था— "यह सुझाव है कि यहाँ तक की घटनाओं के 'नंगे तथ्य' भी निर्मित किये गये और लेखकों के पक्षपातों, पूर्वाग्रहों और 'कामन सेंस' के आधार पर निर्मित किये गया।"²¹ और फिर बनारस कब्रगाह के दंगे के आधारहीन तथ्यों को पूरे देश पर लागू कर दिया गया— "बनारस भारत का अस्तित्व बन गया, बनारस का इतिहास पूरे देश का इतिहास का बन गया।"²² राजनीति, इतिहास और सरकारी रिपोर्टों के बाद एक और भी ऐसा क्षेत्र था जहाँ औपनिवेशिक शासन ने सांप्रदायिकता का ज़हर फैलाया, वह क्षेत्र था जनगणना का। आर. बी. भगत ने अपने लेख 'भारत में जनगणना और सांप्रदायिकता की निर्मिति' में इस तथ्य का बहुत ही विद्वतापूर्वक विवेचन—विश्लेषण किया है। इस लेख में उन्होंने धार्मिक समुदायों के निर्माण तथा औपनिवेशिक भारत में फूट डालो और राज करो की नीति के तहत सांप्रदायिक चेतना को बढ़ाने में विशेष जनसांख्यिकीय तथा भौगोलिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है और स्वतंत्र भारत में भी इसे लागू रखने की औपनिवेशिक मानसिकता को उजागर किया गया है— "भारत के विभिन्न समुदायों के बीच की सीमा रेखा अस्पष्ट थी तथा उनमें सांप्रदायिक चेतना की कमी थी। इन्हें अस्पष्ट समुदाय कहा जाता था। इन अस्पष्ट समुदायों को जनगणना द्वारा प्रगणित समुदायों में बदल दिया गया और बाद में फूट डालो और राज करो की औपनिवेशिक नीति के उपकरणों और यंत्ररचना के द्वारा उन्हें राजनीतिक समुदायों में बदल दिया गया।"²³ भगत साफ़ तौर पर कहते हैं कि— "स्वतंत्र भारत ने धार्मिक समुदायों और सांप्रदायिकता के जनसांख्यिकीय समेकन के निर्माण के एजेंडे को बहुत हद तक जारी रखा।"²⁴

इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांप्रदायिकता पूरी तरह से औपनिवेशिक शासन और उसकी नीतियों की देन है। लेकिन— "यह बात सुनकर कि हिंदुस्तान में सांप्रदायिक झगड़ों की सबसे बड़ी जिम्मेदारी अंग्रेजों पर है, सरकारी लोग बहुत नाक-भौं सिकोड़ते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि दंगों के

लिए और लोग जिम्मेदार नहीं हैं।..... फिर भी इतिहास और तमाम गवाहों के बयान जो बात कहते हैं, उनसे इन्कार नहीं किया जा सकता। साम्राज्यवाद सीता-सावित्री नहीं है, जिसकी पवित्रता में संदेह न किया जा सके। उसकी धोखेबाजी की कहानियाँ इतिहास में भरी पड़ी हैं, इसलिए उसकी रामदुहाई का किसी पर असर न पड़ेगा।²⁵ साम्राज्यवाद को इसका दोषी ठहराए जाने का एक और कारण था, विश्व में जहाँ कहीं भी औपनिवेशिक सरकार रही है, वहाँ सांप्रदायिक तनाव इतना बढ़ता था कि बँटवारे की नौबत आ ही जाती थी— “अंग्रेजी संरक्षण के पहले फिलिस्तीन में अरब और यहूदी बड़ी शांति से सदियों से रहते चले आये थे। जब से अंग्रेजी राज कायम हुआ और महाजनी पूँजी की छत्रछाया में यहूदियों को जर्बदस्ती लाना शुरू हुआ, तब से भयानक दंगे शुरू हो गये इन दंगों को जातीय और धार्मिक कहा जाता है। वास्तव में विदेशी हुकुमत और हमले के खिलाफ यह वहाँ के लोगो की लड़ाई है।²⁶ इन्हीं औपनिवेशिक कुचक्रों के कारण सांप्रदायिकता भारतीय समाज का एक अटूट अंग हो गया। विभाजन के बाद इसका प्रभाव घटने के बजाए बढ़ता गया। विश्वमोहन पांडेय कहते हैं— “लेकिन आधी से ज़्यादा सदी के बाद भी, सांप्रदायिक समस्याएँ थमी नहीं, बल्कि विभाजन ने इसे सुलझाने के बजाए और उलझा ही दिया है। विभाजन की वजह से उभरे दो संप्रभु राज्य लगातार सशस्त्र तथा वैचारिक युद्ध में लगे हुए हैं।²⁷ प्रियंवद अपने पुस्तक ‘भारत विभाजन की अंतःकथा’ में विभाजन के नाकारात्मक परिणामों की चर्चा करते हुए कहते हैं— “विभाजन का दूसरा नाकारात्मक परिणाम यह था कि विभाजन ने किसी भी समस्या को अंतिम रूप से हल नहीं किया। पाकिस्तान बनाने का उद्देश्य यही था कि हिंदू-मुसलमान की समस्या का अंत हो जाए। समस्त मुसलमानों को उनकी पहचान और स्वतंत्र देश मिले। क्या यह हो पाया? दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज भी भारत और पाकिस्तान दोनों की यही सबसे बड़ी आंतरिक समस्या है। सीमा पर तीन युद्ध लड़ने के बाद (कारगिल अगर माने तो चार) आज भी दोनों राष्ट्र एक दूसरे के सबसे बड़े शत्रु हैं। क्या लाभ हुआ विभाजन का? क्या इसीलिए विभाजन हुआ था?”²⁸

उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार सदैव औपनिवेशिक विमर्शों की समीक्षा करता है, उसकी गहन पड़ताल करता है, उसे लोकतांत्रिक मूल्यों की कसौटी पर कसता है, उसके गढ़े हुए विमर्शों और मिथकों को कठघरे में खड़ा करता है। और अंत में उनसे मुक्त होने का सपना देखता है। यही कारण है कि उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार के यहाँ सांप्रदायिकता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गया। उसने इसके लिए जिम्मेदार सभी व्यक्तियों, नीतियों, विचारों एवं शासन को कठघरे में खड़ा कर दिया। नामदेव कहते हैं— “अतः आज़ादी के बाद के उपन्यासों में सांप्रदायिकता का प्रश्न उठाना लेखक का धर्म बन गया। प्रेमचंद से शुरू हुई यथार्थवादी उपन्यास परंपरा अब काफी विकास कर चुकी थी। उसके औपन्यासिक कथ्य में वैविध्य आ चुका था और उपन्यासकार पूरी प्रतिबद्धता के साथ भारतीय समाज में हो रहे बदलावों और नयी समस्याओं से मुठभेड़ करते हुए अपनी सर्जनशीलता को विकसित कर रहे थे। नारी की समस्या, जाँत-पाँत, बेराजगारी, गरीबी, भ्रष्टाचार, धार्मिक कट्टरता व संकीर्णता आदि समस्याएँ तो भारतीय समाज को विरासत में मिली ही थीं, सांप्रदायिक प्रश्न भी अब भारतीय समाज की मुख्य समस्या बन गया। अतः उपन्यासकारों के सामाजिक सरोकारों और रचनात्मक प्रयोग की दुनिया में सांप्रदायिक प्रश्न भी दाखिल हो गया।”²⁹ और मुस्लिम रचनाकारों के लिए यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि सांप्रदायिकता और उससे उपजे विभाजन के सर्वाधिक भुक्तभोगी वही थे। सांप्रदायिकता से विभाजन, विस्थापन, उनकी निष्ठा पर संदेह, उनके भीतर उपजा भय, उनकी सांस्कृतिक अस्मिता पर संकट आदि अन्य समस्याओं की उत्पत्ति हो गयी। नामदेव का कहना है कि— “वास्तव में पाकिस्तान बनने के बाद भी भारतीय मुसलमानों की समस्याओं का अंत तो नहीं हुआ, बल्कि नई समस्याएँ पैदा हो गयी। पाकिस्तान निर्माण और स्वतंत्र भारत में शुरू हुई नई राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप अधिकांश मुसलमान जो ज़मींदार थे, उनकी जीविका का एकमात्र आधार ज़मींदारी चली गई तो आर्थिक बोझ के साझीदार कई परिवारों के सदस्य भी पाकिस्तान चले गये जिससे कई परिवार दरिद्रता की स्थिति में पहुँच गये। ये ‘आधा गाँव’ के हकीम साहब के अनुसार— “एक ठो बेटा रहा.....ऊ पाकिस्तान चला गया। एक ठो ज़मींदारी रही, ऊहौ समझौ के पाकिस्तान चली गई।.... हमारी समझ में तो भई कुछ आता न। नौ परानी का

पेट कैसे चलाएं?” असलियत में ज़मींदारी का अवसान, और पाकिस्तान पलायन की प्रवृत्ति ने कई मुस्लिम परिवारों को अकेलेपन में ढकेल दिया जिससे ये परिवार टूटने के कगार पर पहुंच गए।³⁰ जहाँ तक सांप्रदायिकता की बात है तो इस पर ग़ैर मुस्लिम लेखको ने भी बहुत सशक्त ढंग से लिखा। औपनिवेशिक काल में जहाँ कुछ रचनाकार औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त होकर रचना कर रहे थे, तो दूसरी ओर राधाकृष्ण दास और प्रेमचंद जैसे रचनाकार औपनिवेशिक विमर्शों से टकरा रहे थे। औपनिवेशिक काल के रचनाकारों में प्रेमचंद का साहित्य खुले तौर पर औपनिवेशिक विमर्शों एवं प्रणालियों को बेनकाब करता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में रेणु, यशपाल, नागार्जुन, भीष्म साहनी, राही मासूम रज़ा, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, अज्ञेय, मनोहर श्याम जोशी, अमरकांत आदि रचनाकार अपने-अपने तौर पर औपनिवेशिक विमर्शों एवं ज्ञानानुशासनों से टकराते रहे। राही अपने समूचे लेखन में इसका पुरज़ोर विरोध करते हैं, किंतु उनके तीन उपन्यासों (आधा गाँव, टोपी शुक्ला और ओस की बूंद) के केंद्र में यह प्रश्न महत्वपूर्ण ढंग से उठाया गया है।

आधा गाँव : सांप्रदायिकता के खिलाफ़ राष्ट्रीय एकता की बुलंद आवाज़

आधा गाँव का प्रकाशन 1966 में हुआ। यह उपन्यास देश के विभाजन के पहले की कहानी को बयान करता है और देश की सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा करता है। प्रणय कृष्ण कहते हैं— “यह उपन्यास एक स्मृति कथा है जिन लोगों का अपने गाँव से नाता उतना ही गहरा था जितना देश और धर्म से। उपन्यास उस दुनिया के खो जाने का शोक मनाता है और फिर से जीवन की उस बहुलता और विपुलता को निर्मित करने की उम्मीद बांधता है। यह ऐसा गाँव है जहाँ भविष्य के हिंदू भारत में मुसलमानों की असुरक्षा के तर्क पर जर्बदस्त बहस चल रही है। लेकिन पाकिस्तान की माँग की अभिव्यक्ति और उसे राजनीतिक रूप से मान लिये जाने के बावजूद वहाँ धार्मिक तनाव नहीं है। ऐसा सिर्फ़ इसलिए नहीं है कि उपन्यास मितकथन के सौन्दर्यशास्त्र का अनुपालन करता है बल्कि इसलिए भी है कि पूरे उपन्यास का तर्क यह है कि भारत उसी तरह मुसलमानों का भी देश है जैसा अन्य सभी का।”³¹

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है कि किस तरह औपनिवेशिक शासन ने सांप्रदायिकता के ज़हर को भारतीय समाज के भीतर डाला था। अंग्रेज़ भारत से जाते-जाते हिंदुओं को यह घुट्टी पिला कर जा रहे थे कि मुसलमानों ने तुम पर बरसों राज किया है। हिंदू धर्म को सबसे ज़्यादा ख़तरा मुसलमानों से है। दूसरी तरफ़ मुसलमानों को भी अपने झाँसे में लिया कि आज़ाद भारत में मुसलमानों को अच्छत बना कर रखा जाएगा। हिंदुओं पर यकीन नहीं किया जा सकता है। फिर भी गाँवों में रहने वाली जनता तक इस कुप्रचार का प्रभाव नहीं हुआ था। भारतीय हिंदू-मुस्लिम संभ्रात तथा बुद्धिजीवी एवं राजनेता वर्ग इस प्रभाव से पूरी तरह ओत-प्रोत था। जनता अंग्रेजों को बहुत नफ़रत की दृष्टि से देखती थी किंतु अपने राजनेताओं पर विश्वास करती थी। हिंदुस्तानी जनता नहीं चाहती थी कि अलग मुल्क बने। किंतु राजनेताओं तथा उच्च वर्ग ने आम जनता के विश्वास को ज़बरदस्त धोखा दिया। उसने औपनिवेशिक प्रशासन का काम आसान करते हुए इस ज़हर को गाँव तक पहुँचाने का जिम्मा उठा लिया। 'आधा गाँव' औपनिवेशिक नीतियों के साथ-साथ इन दोनों का भी विरोध करता है। यह उपन्यास आम जनता की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक एकता का चित्र प्रस्तुत कर औपनिवेशिक नीति को तार-तार कर देता है।

'आधा गाँव' गंगौली के माध्यम से पूरे देश की कहानी कहता है। यँ तो पूरे उपन्यास में सांप्रदायिकता के साथ-साथ ज़मींदारी, जाति-द्वेष, कुलीनतावाद तथा विस्थापन आदि मुद्दों को उठाया गया है, लेकिन सांप्रदायिकता का मुद्दा उपन्यास के केंद्र में है। उपन्यास बदलते हुए परिवेश में एक छोटे से गाँव के मुस्लिम समुदाय को केंद्र में रख कर कथा कहता है। प्रणय कृष्ण कहते हैं— "यथार्थवाद की मांग के अनुरूप गंगौली को सिर्फ़ शांतिपूर्ण लोगों का समुदाय बनाकर पेश नहीं किया गया है। गंगौली में जातिद्वेष, धार्मिक अभिमान, अजनबियों के प्रति शंका, परिवर्तन को लेकर अनिश्चितताएँ, स्थानीय दुश्वारियाँ, वफादारियों का भी सच्चा बयान है।"³² गंगौली के सैयद ज़मींदारों को सपने में भी गंगौली छोड़ने का ख़याल नहीं आता है। उपन्यास के सबसे सशक्त पात्र हकीम सैयद कबीर अली के बारे में राही लिखते हैं कि, "इन ख़्वाबों में गंगौली छोड़ने की बात कभी नहीं आती थी। वह यह कभी नहीं

सोचते थे कि उन्होंने छतर मंजिल के सामने एक और छतर मंजिल बनवा ली है।”³³ हकीम साहब तो आसफुद्दौला की तरह एक खूबसूरत इमामबाड़ा भी गंगौली में ही बनवाने का ख्वाब देखते थे, इसलिए वह चाहते थे कि, “सदन जल्दी से जवान होकर थानेदार हो जाए, वह भी आसफुद्दौला की तरह एक लंबा-चौड़ा इमामबाड़ा बनवाएँ, जिस पर शाहे-नजफ़ जैसी खूबसूरत गुम्बद हों।”³⁴

“बड़े घमासान की बहस हो रही थी। अली कबीर चा कह रहे थे, “बाप-दादा हीयाँ रहे.... चौक इमामबाड़ा हीयाँ है..... इज्जत-आबरू हियाँ है! गंगौली से हमें मतलब ना हुई है त का रकियन को हुई है! जो लोग कलकत्ते में रूपया कमाये.... हम रोक ना न रहे, बकी.....”

“अरे भाई साहब, हिजरत करना तो मुसलमानों की तक्दीर है। आखिर रसूलेखुदा ने भी मक्के से मदीने की तरफ़ हिजरत की थी कि नहीं।” अम्मू ने बीच में लुकमा दिया।

“काहे न किहिन रहा।” कबीर चा ने कहा, “ज़रूर किहिन रहा, बाकी हम रसूलेखुदा ना न हैं।”

“अरे मीर साहब! यह कांग्रेस हिन्दुओं की पार्टी है। चूँकि मुसलमान ज़मींदार ज़्यादा हैं, इसलिए यह ज़मींदारी ज़रूर ख़तम करेगी। त देहातन में मुसलमान कै घर हैं? दाल में नमक की तरह त हैं।” अनवारुलहसन राकी ने कहा।

“नमकवे से दाल में मज़ा है।” अली कबीर चा ने कहा, “बेनमक की दाल कै दिन खय्यहो?”³⁵ पाठक यहाँ देख सकता है कि अंग्रेज़ों की गुलाम भारतीय मानसिकता का प्रतिनिधित्व करने वाले अनवारुल हसन राकी का मुँहतोड़ जवाब दिया गया है।

एक स्थान पर अनवारुलहसन राकी का पुत्र फ़ारूक, जो कि अलीगढ़ में पढ़ता है और उपन्यास के दूसरे सबसे सशक्त पात्र फुन्नन मियाँ के बीच का संवाद भी यह साबित करता है कि औपनिवेशिक शिक्षा पाने वाले और निरक्षर आम जनता के सोच में कितना अंतर था। औपनिवेशिक मानस जिस तरह से आम लोगों के बीच सांप्रदायिकता का ज़हर फैलाता था, उन्हें बरगलाता था, उससे औपनिवेशिक सत्ता के ही हित सधते थे। यद्यपि आम जनता इस प्रकार की औपनिवेशिक

मानसिकता से कोसों दूर थी। उसे न तो पाकिस्तान से मतलब था, न ही हिंदुस्तान से, न हिंदू राष्ट्र से, न इस्लामिक राष्ट्र से और आम जनता इस सांप्रदायिकता के सिद्धांत को सिर से नकार देती है। इस संवाद में इसकी एक झलक देखी जा सकती है—

“आदाब चचा !” अनवारुलहसन राकी का लड़का फ़ारुक आ गया।

“काहे भैया, तोरे पाकिस्तान का हाल है ?”

“वह तो बन रहा है।”

“काहे न बनिये, भैया। तू कहि रइयो तो ज़रूर बनिये। बाकी ई गंगौली पाकिस्तान में जईहे कि हिन्दुस्तान में रईहे ?”

“ई तो हिन्दुस्तान में रहेगी। पाकिस्तान में तो सूबा सरहद, पंजाब, सिन्ध और बंगाल होगा। और कोशिश कर रहे हम लोग कि मुस्लिम यूनिवर्सिटी भी पाकिस्तान में हो जाय।”

“गंगौली के वास्ते ना न करिह्यो कोशिश ?”

“गंगौली का क्या सवाल है ?”

“सवाल न है त हममें पाकिस्तान बनने या न बनने से का ?”

“एक इस्लामी हकूमत बन जाएगी।”

“कहीं इस्लामू है कि हुकूमतै बन जहिए। ऐ भाई, बाप—दादा की क़बर हियाँ है, चौक इमामबाड़ा हियाँ है, खेत—बाड़ी हियाँ है। हम कोनो बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान जिन्दाबाद में फँस जायँ !”

“अंग्रेजों के जाने के बाद यहाँ हिन्दुओं का राज होगा !”

हाँ—हाँ, त हुये बा। तू त ऐसा हिन्दू कहि रहियो जैसे हिन्दुआ सब भुकाऊँ हैं कि काट लीहयन। अरे, ठाकुर कुँवरपाल सिंह त हिन्दूए रहे। झिंगुरियो हिन्दू है। ऐ भाई, ओ परसुरमवा हिन्दूए न है कि जब शहर में सुन्नी लोग हरमज़दगी कीहन कि हम हज़रत अली का ताबूत न उठे देंगे, काहे को कि ऊ में शीआ लोग तबर्रा पढ़त हएँ त परसुरमवा ऊधम मचा दीहन कि ई ताबूत उट्टी और ऊ ताबूत उठा। तोरे जिन्ना साहब ताबूत उठवाये न आये!”

फ़ारूक़ हँस दिया।

“असल में इन हिन्दुओं की सिन्सियरिटी मशकूक़ है।”

“का मशकूक़ है ?”

सिन्सियरिटी ... मेरा मतलब है कि अरे साहब वह.... यानि कि....”

“का भाई, बाप-दादा की ज़बानों भूल गयो!”

फ़ारूक़ सिर खुजाने लगा।³⁶

राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक अस्मिता का बँटवारा 1946-47 तक संभवतः हो चुका था। अंग्रेज़ मानसिकता भारतीय बौद्धिक दिमाग़ पर कब्ज़ा जमा चुकी थी। इससे आज तक भारत का अभिजात-वर्ग मुक्त नहीं हो पाया है। लेकिन आम जनता उससे तब भी मुक्त थी। आज भी है। राही ने उपन्यास में कम्मो के माध्यम से जो जवाब दिलवाया है, वो उपनिवेशी मानसिकता पर गहरी चोट करता है।

“पाकिस्तान बना तो ये आठ करोड़ मुसलमान यहाँ अछूत बना करा रखे जायेंगे।” दूसरा बोला।

“ए भाई, हमें त अइसा लग रहा कि आप लोगन का पढ़ा-लिखा सब बेकार भया। काहे मारे की आप लोगन के त ई ना मालुम की भंगी-चमार अछूत होते हैं। हम कउनो भंगी-चमार है ? अ जो अछूत होइबे ना करीहे ओको कोई अछूत कइसे बना दीहे साहब ? तुम्हीं बताओ तनीं हमहूँ सुनें।”

.....“हम ई सब ना मान सकते साहब !” कम्मो ने तकरीर सुन लेने के बाद कहा, “हिन्दुस्तान के आज़ाद होवे के बाद ई गयवा अहीर, ई छिकुरिया या लखना चमार या ई हरिया बढई हमरे दुश्मन काहे को हो जईहें, यानी बिला वजहे ? हुआँ ईहे सब पढ़ते है आप लोग का ?”

“इस वक़्त आपकी समझ में यह बात भले ही न आये, लेकिन होगा यही। हमारी मस्जिदों में गायें बाँधी जायेंगी।”

“ए साहब जब मुसलमान लोग पाकिस्तान जईहें त फिर मस्जिद में घोड़ा बंधे चाहे गाय। का फ़रक पड़िहे ? अब हिन्दुआ सब ओमें जाके नमाज़ पढ़ें से रहे। अच्छी ज़बरदस्ती है की हम त जायेंगे पाकिस्तान अ हिन्दू अगोरें हमरी मस्जिद।”³⁷

उपन्यास ऊपर बतलाए गये औपनिवेशिक तथ्य कि मुसलमान एक अलग राष्ट्र हैं और उनकी भलाई मुस्लिम लीग के साथ जुड़ने में ही है आदि—आदि, का सीधे—सीधे विरोध करता है। तन्नू फुन्न मियाँ, हकीम कबीर अली, कम्मो, अब्बू तथा फुन्नन मियाँ की बीवी आदि ऐसे पात्र हैं, जो न तो मुस्लिम लीग की कवायद करते हैं और न कांग्रेस के ही समर्थक हैं। उन्हें अगर किसी से प्यार है तो वह है उनके छोटे—बड़े सपने, उनकी मिट्टी, उनका गाँव, उनका घर, वह चाहे किसी देश में हो। वह न तो राष्ट्रभक्त हैं और न ही देशभक्त। वह न तो इस्लामी हुकूमत चाहते हैं और न ही कांग्रेस की। उन्हें फिकर है तो अपनी ज़मींदारी की, अपने सामंती संस्कारों की। इन सब के बीच में जो भी आता है, वह उनका दुश्मन है। चाहे वह गांधी हों या फिर जिन्ना या कि कांग्रेस या कि खुद उनमें से किसी का कोई सगा हो। इनमें से तन्नू को छोड़कर सभी अपढ़ हैं। तन्नू भी मुस्लिम लीग का विरोध किसी विचारधारा के तहत नहीं करता, बल्कि नैतिक एवं भावनात्मक आधार पर करता है। अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी से आये मुस्लिम लीगियों को फटकारते हुए कहता है कि “.....आप जान का डर पैदा कर रहे हैं। डर की यह फ़सल हमीं को काटनी पड़ेगी।...”

“मैं वोटर नहीं हूँ !” तन्नू ने काली शेरवानी की बात काटी, “मैं मुसलमान हूँ। लेकिन मुझे इस गाँव से मोहब्बत है क्योंकि मैं खुद यह गाँव हूँ। मैं नील के इस गोदाम, इस तालाब और इन कच्चे रास्तों से प्यार करता हूँ क्योंकि ये मेरे ही मुख़्तलिफ़ रूप हैं। मैदाने—जंग में जब मौत बहुत—करीब आ जाती थी तो मुझे अल्लाह ज़रूर याद आता था लेकिन मक्का—मुअज़्ज़मा या क़र्बला—मुअल्ला की जगह मुझे गंगौली याद आती थी। और मैं यह सोचकर झल्ला जाता था और रोने लगा करता था कि अब शायद मैं नील के गोदाम पर बैठकर गन्ना नहीं खा सकूँगा। और शायद अब मुझे आठवीं की मजलिस का हलवा नहीं मिलेगा। अल्लाह तो हर जगह है। फिर गंगौली और मक्का, और नील के गोदाम और काबे और हमारे पोखरे और चाहे—जम्ज़म में क्या फ़र्क है।”

तन्नु के इस बात पर वह लड़का भड़क जाता है— “आप जैसे लोग हिन्दुस्तानी मुसलमानों को हिन्दुओं के हाथ बेच डालेंगे!” काली शेरवानी बिगड़ गयी, “आपको शर्म नहीं आती ! आप मक्का शरीफ से इस जटियल गाँव का मुकाबला कर रहे हैं ?”

“जी हाँ, कर रहा हूँ ! तन्नु ने कहा, “और मुझ शर्म भी नहीं आती। और शर्म आये क्यों? गंगौली मेरा गाँव है। मक्का मेरा शहर नहीं है। यह मेरा घर है और काबा अल्लाह मियाँ का। खुदा को अगर अपने घर से प्यार है तो क्या वह माज़ल्लाह यह नहीं समझ सकता कि हमें अपने घर से उतना ही प्यार हो सकता है।”.....

“मैं कब कहता हूँ कि वह काबा नहीं है? लेकिन लाहौर तो काबा नहीं है ना ?” उसने सवाल किया,“..... नफरत और खौफ की बुनियाद पर बनने वाली चीज़ मुबारक नहीं हो सकती। पाकिस्तान बन जाने के बाद भी गंगौली यहीं हिन्दुस्तान में रहेगा और गंगौली भी फिर गंगौली है। तब गयवा अहीर, लखना चमार और छिकुरिया भर से आपने पूछा है कि उन्होंने तो आपसे कभी दुश्मनी नहीं की थी, फिर पाकिस्तान को वोट क्यों दिया तो आप इस सवाल का क्या जवाब देंगे?”³⁸

नामदेव अपनी पुस्तक ‘भारतीय मुसलमान हिंदी उपन्यास के आईने में’ में इन तथ्यों की ओर इशारा करते हैं— “ज़मींदार सामंतों को सिर्फ अपनी रोजी-रोटी और सुरक्षा की ही चिंता नहीं थी, बल्कि वे कांग्रेस की समानता के विचारधारा के खिलाफ भी थे क्योंकि इससे उनके सामंती व्यवस्था और उनके जातीय अहं के नाश का डर था। ‘आधा गाँव’ के ज़मींदार हकीम साहब अपने जातीय अहं की मनोग्रंथि को इस प्रकार व्यक्त करते हैं— “कांग्रेस ने नीच जात वालों को सिर चढ़ाकर हुकूमत के काम को और मुश्किल बना दिया है। खुदा समझे ई गंधिया से।” ‘आधा गाँव’ मुस्लिम ज़मींदारों की वर्गीय-चेतना का सूक्ष्म और यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है। मुस्लिम ज़मींदारों के चेतन-अचेतन में यह भाव बड़ी सख्ती से विद्यमान था कि समानता की भावना से उनकी ज़मींदारी तो जाएगी ही उनके आश्रय में जीवित रहने वाला निम्न वर्ग भी उनकी बराबरी करेगा....— “हम कह रहे हैं कि का ज़माना आ गया है! सुखरमवा का बेटा परसरमवा जेल से आते ही नेता

हो गया है। गांधी टोपी पहिने तकरीर करता घूम रहजा है कि ज़माना बदल गया है। अब ज़मींदारन का जोर-जुलुम ना चलिहे।”³⁹ भीष्म साहनी के उपन्यास मय्यादास की माड़ी में भी हम देखते हैं कि पुराने सामंती संस्कारों के टूटने पर कुलीनवर्ग ख़ासा क्षुब्ध दिखायी देता है। इस तरह देखते हैं कि आधा गाँव के कुछ पात्र अगर कांग्रेस का विरोध करते हैं तो, इसके पीछे कोई धार्मिक या राजनैतिक कारण नहीं, आर्थिक एवं सामाजिक कारण हैं। इसी तरह मुस्लिम लीग के विरोध के पीछे भी धार्मिक-राजनीतिक कारण न होकर, अपनी मिट्टी से भावनात्मक लगाव है और कभी-कभी इसके मूल में भावनात्मक रूप से छला जाना है। नामदेव का कहना है, “लेकिन दूसरी तरफ मुस्लिम ज़मींदारों में एक वर्ग ऐसा भी था, जो शुरू से ही मुस्लिम लीग की पृथक्तावादी नीतियों के सख्त खिलाफ़ था। आधा गाँव के कम्मो, तन्नू, फुन्नन मियाँ, मिगदाद इसी वर्ग से संबंध रखते हैं। फुन्नन मियाँ मुस्लिम लीगियों को निरुत्तर करते हुए कहते हैं— “कहीं इस्लामो है कि हुकूमत बन जइहे। ए भई, बाप-दादा की कबर हियाँ है। चौक इमामबाड़ा हियाँ है। खेत-बाड़ी हियाँ है। हम कोनो बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान ज़िन्दाबाद में फँस जायँ।” मुस्लिम लीग के प्रति बहुत से मुसलमानों में पहले से ही अविश्वास कायम था, लेकिन लीग के दोगलेपन या दोहरे चरित्र का भेद खुलने के कारण बहुत से मुसलमान आहत हुए थे, क्योंकि लीगियों ने उनको मोहरा बना कर इस्तेमाल किया था, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए आधा गाँव के अब्बू मियाँ लीग की अवसरवादिता की बखिया उधेड़ते हुए कहते हैं— “इनके जिन्ना साहब त हाथ छोड़ के चले गये कि हियाँ के मुसलमान जायँ, खुदा न करे जहन्नुम में। ई अच्छी रही। पाकिस्तान बने के वास्ते ओट दें हियाँ के मुसलमान, अउर जब पाकिस्तान बने त जिन्ना कहें कि हियाँ के मुसलमान जायँ चूल्हे-भाड़ में।”.....

‘आधा गाँव’ की औरतें अक्सर राजनीतिक विवादों से दूर रहती हैं। फुन्नन मियाँ की पत्नी कुलसुम सहज और भोलेपन से मुस्लिम लीग के प्रति अपना विरोध प्रकट कर देती है। यह पात्रा उन मुस्लिम स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है जो हिंदू-मुस्लिम विवादों से दूर रहते हुए अपने गाँव और ज़मीन से जुड़ी हुई थीं.... —“हम माटी मिली मुसलिम लागि को कभई जो दें अपना वोट! मैं त अपने मुन्ताज के देबों अपना वोट! दुनों अलीगढ़ वाले हमरहूँ किहां आए रहे हम उनहूँ लोगन से साफ-साफ कह दिया ई बात।”⁴⁰

जैसा कि शुरू में ही यह उल्लेख कर दिया गया है कि आम जनता सांप्रदायिकता के प्रभाव से बिल्कुल अछूती थी। लेकिन जो उच्च वर्ग है, पढ़ा-लिखा वर्ग है, वह सांप्रदायिकता का शिकार था। अतः केवल एक पक्ष (मुस्लिम लीगियों को ही) के सांप्रदायिक रूप का चित्रण कर देना असंगत होगा। इस उपन्यास में हिंदू सांप्रदायिकता के उभार को भी रेखांकित किया गया है— “....तब भगवान कृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! हूँ तो मैं हूँ और मेरे सिवाय कोई और नहीं है। आज वह मुरली मनोहर भारत के हर हिंदू को पुकार रहा है कि उठो और गंगा और यमुना के पवित्र तट से इन मलेच्छ मुसलमानों को हटा दो....”

और जोश में आते हुए कहते हैं— “..... धर्म संकट में है। गंगाजली उठाकर प्रतिज्ञा करो कि भारत की पवित्र भूमि को मुसलमानों के खून से धोना है....”⁴¹ आम जनता इसे समझ न पा रही थी, चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान। ऊपर फुन्नन मियाँ, कम्मो और अन्य मुस्लिम पात्रों के हवाले से हमने देखा कि वह हिंदू-विरोध के आधार पर पाकिस्तान-निर्माण को समझ नहीं पा रहे हैं। इसी तरह उपन्यासकार ने हिंदू जनता की भावनाओं का भी चित्रण किया है कि भला अचानक से मुसलमानों को दुश्मन कैसे मान लिया जाए— “...सीधे-सादे किसानों की समझ में नहीं आयी..... कई स्वामियों के दौरा करने के बाद भी यह बात उनकी समझ में नहीं आयी कि अगर गुनाह कलकत्ता के मुसलमानों ने किया है तो बारिखपुर के बफ़ाती, अलावलपुर के घुरऊ, हुँडरही के घसीटा को— यानि अपने मुसलमानों को सज़ा क्यों दी जाये ? जिन मुसलमान बच्चियों ने छुटपन में उनकी गोद में पेशाब किया है, उनके साथ जिना क्यों और कैसे की जाये ? उनकी समझ में यह भी नहीं आ रहा था कि जिन मुसलमानों के साथ वे सदियों से रहते चले आ रहे हैं उनके मकानों में आग क्यों और कैसे लगा दी जाये ? उन मुल्ला जी को कोई कैसे मारे जो नमाज़ पढ़कर मस्जिद से निकलते हैं तो हिंदू-मुसलमान सभी बच्चों को फूँकते हैं?..... किसानों की समझ में यह आता था कि झगड़े की ज़मीन की फ़सल काट ली जाये। ज़मीन के मामले में एकाध क़त्ल-खून हो जाये तो कोई बात नहीं। लेकिन यँ ही सिर्फ़ इस जुर्म पर किसी को क़त्ल कर देना या किसी का घर फूँक देना कि कोई मुसलमान है, उनकी समझ में आ ही नहीं सकता था।”⁴² यहाँ एक और प्रसंग

का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। आम जनता पर पढ़े-लिखे लोगों का भले ही असर न हो किंतु अगर उनको ऊपर वाले किसी अलौकिक परम सत्ता का भय दिखाया जाये या उसके तथाकथित आदेशों को सुनाया जाये तो वह उस प्रभाव में आ जाते हैं। कुछ इसी तरह का चित्रण इस उपन्यास में वर्णित है— “हिआँ से हट के हमनी के कहाँ जाये के पड़ी ?” एक अधेड़ मुसलमान ने एक हिन्दू से पूछा। दोनों साथ के खेले हुए थे। गहरे दोस्त थे।

“ई हे त हमहूँ सोचत बाड़ी।” जवाब आया, “बाकी जउन ई भगवान का हुकुम बाय त तोहनी के हटाये के त जरूरे पड़ी। पकिस्तान त बनते बाये चल जय्यहा।”

“तूँ त कह दिहला की चल जय्यहा। चला कहूँ से किराया भाड़ा जुटो गइल त हई खेतवा कइसे जाई पाकिस्तान। हम पूछथई की हमार बाप—दादा अउर तोहार बाप—दादा ठाकुर साहब के बाप—दादा के संग गढ़ी वालन से लड़े चल आवथउवन की ना। त आजुये कोई हमनी से काहें न कहत कर चला गढ़ी पर चढ़ाई करे?”⁴³

यह उपन्यास न केवल सांप्रदायिकता संबंधी औपनिवेशिक अवधारणाओं और तथ्यों का प्रतिकार करता है, बल्कि हिंदू तथा मुस्लिम समुदायों के बीच की एकता को रेखांकित करता है। औपनिवेशिक धारणा थी कि मुसलमान पाँच करोड़ लोगों का एक राष्ट्र है जो एक ही धर्म और समान रीति-रिवाजों को मानते थे और जो “उन दिनों की एक साझी संस्कृति अपने दिलों में संजोए हुए थे जब वे दिल्ली में गद्दीनशीन थे और हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक उन्हीं की हुकूमत चलती थी।”⁴⁴ अतः वे एक अलग राष्ट्र हैं। मुस्लिम लीग ने उनकी इसी अवधारणा से प्रेरणा पायी थी। ‘आधा गाँव’ इस अवधारणा का जोरदार खंडन करता है। इस उपन्यास में न तो संभ्रांत मुस्लिम वर्ग और न ही निम्न हिंदू वर्ग इस अवधारणा में यकीन रखता है, बल्कि वह साझी संस्कृति में पूरा विश्वास करता है। प्रणय कृष्ण का कहना है कि— “1940 के दशक के आतंक की यहाँ अवहेलना नहीं की गई है लेकिन मजबूती के साथ जिस सत्य को प्रस्तुत किया गया है वह यह है कि गरीब मुसलमानों, चमारों, नाइयों, अहीरो, राजपूतों और भंगियों के साथ-साथ शिया ज़मींदारों के लिए भी गंगौली का जीवनकाल इतना साझा और सामान्य था कि वे

सभी गाँव को अपना नैसर्गिक, कालगत और पवित्र आवास मानते थे।⁴⁵ इस उपन्यास में साझी संस्कृति तथा समन्वय की भावना के अनेक चित्र दिखायी पड़ते हैं। फुन्नन मियां, तन्नू, छिकुरिया, ठाकुर जयपाल सिंह आदि चरित्रों के तथा मुहर्रम के माध्यम से संयुक्त राष्ट्रीयता के स्वर को उठाया गया है। गंगौली में निकलने वाले ताजियों के दौरान लड्डबंद अहीरों का एक दल ताजिये के आगे-आगे चलता था उसकी सुरक्षा हेतु। और मुहर्रम के दौरान हिंदू समुदाय के लोग भी मिन्नतें मांगते थे— “एक साल तो ऐसा हुआ कि एक बेवा ब्राह्मणी की उलती मज़दूरों की भूल से ज़रा कम निकली हुई थी। बड़ा ताजिया उसे गिराये बिना गुज़र गया। वह बेवा फूट-फूट कर रोने लगी कि इमाम साहब उससे रूठ गये हैं। इसलिए ज़रूर कोई मुसीबत आने वाली है नहीं तो भला ऐसा हो सकता था कि बड़ा ताजिया उसकी उलती गिराये बिना चला जाता। वह अपने दो बेटों का लेकर नूरुद्दीन के मज़ार पर गयी। उसने बेटों को बड़े ताजिये के सामने खड़ा कर दिया, फिर उसने ताजिये की अनदेखी आँखों-में-आँखें डाल दीं और बोली, “हे इमाम साहिब ! हमार लइकन के कछऊ हो गईल ना, त ठीक ना होई!...

....उसने अपनी उलती की दो पटरियाँ उतारकर बड़े आँगन में रक्खे हुए बड़े ताजिये के फ्रेम पर फूलों की तरह चढ़ा दीं और दण्डवत् करके बोली, “हे इमाम साहिब ! बस करीं.... अब हमार कसूर माफ किहल जाये।”⁴⁶ प्रियवंद कहते हैं कि भारतीय समाज का यह पारस्परिक सौहार्द निम्नवर्ग की देन थी— “निम्न मुस्लिम वर्ग जैसा सदियों से था (मुगलकाल में भी) वैसा ही जीवन जी रहा था। उसके लिए पाकिस्तान का अर्थ सिवाय ‘इस्लाम’ की शान और सत्ता के कुछ नहीं था। उसके गाँव, पड़ोस की मस्जिदों के मौलवी उसे जो ‘इस्लामिक पाकिस्तान’ देते थे उसे वही समझ में आता था, हालाँकि उसके खेत, ज़मीन, पसीने, भूख, गरीबी में वह पाकिस्तान उसे धुँधला, अधूरा और विनाशक दिखता था। हिंदुओं से उसका कोई संघर्ष नहीं था। संघर्ष और भेदभाव के विचार इस वर्ग के मुसलमानों तक बहुत बाद में पहुँचे जबकि पाकिस्तान की ठोस ज़मीन 1937 के बाद तैयार की गयी। यह महत्वपूर्ण है कि यही वर्ग 600 वर्षों के हिंदू-मुस्लिम सामंजस्य को बनाये हुए था। मुस्लिम औरतों ने अगर माँग में सिंदूर भरा, तो हिंदू औरतों ने पीरो मुर्शिदों

के ताबीज़ अपने पति, पुत्रों की रक्षा के लिए उनके हाथों में बांधे। मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर जितने धागे मुसलमानों के होंगे उतने ही हिंदुओं के भी। गुरुग्रंथ साहब में बाबा फरीद के बोल थे तो मुसलमानों किसान अच्छी फसल के लिए हिंदू देवताओं को भेंट चढ़ाता था।...अलग समाज, अलग प्रवृत्तियों, अलग धर्म, इतिहास, परंपराओं की दो समानांतर धाराएँ बने रहने और चलते रहने का आधार यही वर्ग था न कि अभिजात्य सामंती मुस्लिम वर्ग।... गाँवों में, मजदूरों में, किसानों में, कारीगरों में भारत और पाकिस्तान अगर थे भी तो अपने-अपने घरों के अंदर, बाहर नहीं।⁴⁷ 'आधा गाँव' इस तथ्य से कुछ अलग प्रतीत होता है क्योंकि यह पूरे के पूरे अभिजात वर्ग को लांछित नहीं करता है क्योंकि गाँव के प्रतिष्ठित सामंत सय्यद परिवार के अधिकतर पात्र साझी संस्कृति के प्रबल पक्षधर दिखायी देते हैं। 'आधा गाँव' में भारत की साझी संस्कृति का आदर्शकृत वर्णन है। नामदेव का कहना है कि "आधा गाँव में स्पष्ट बताया गया है कि गंगौली के हिंदुओं और मुसलमानों के बीच खुला और दोस्ताना व्यवहार था। इनमें जात-पात और धर्म की सीमाएँ अवश्य रहती थीं, परंतु धार्मिक आस्थाएँ एवं रीति-रिवाज कभी भी सामाजिक सौहार्द में रोड़ा नहीं बने। दोनों समुदायों में सहिष्णुता रहती थी।"⁴⁸

टोपी शुक्ला और ओस की बूँद : असुरक्षा और अस्मिता का संकट

'आधा गाँव' आज़ादी की दहलीज़ पर खड़ा होकर भारतीय गाँवों की बदलती तस्वीर को खींचता है तो 'टोपी शुक्ला' आज़ाद भारत के शहरों में पनप रही सांप्रदायिकता एवं घृणा की मानसिकता का यथार्थ चित्र खींचता है। यह उपन्यास अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के दो दोस्तों, इफ़्फ़न और टोपी (बलभद्र नारायण शुक्ला) की कहानी के माध्यम से अपनी बात कहता है। यह उन लोगों की भी कहानी कहता है, जो इतिहास के असहाय शिकार हो जाते हैं। इस में विभाजन, भाषा, बातचीत, दोस्ती, प्यार, नफ़रत, भोजन सभी का बहुत चतुराई से ज़िक्र किया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो 'टोपी शुक्ला' एक व्यक्ति या कई लोगों की कहानी नहीं है, बल्कि सभी स्थायी कहानियों की तरह यह समय की कहानी है। यह वह उत्तर औपनिवेशिक समय है, जब विभाजन की त्रासदी घटित हुए कुछ साल ही हुए थे और वह राष्ट्र पर हावी हो चुका था। जब जीवन के सभी पहलू

धर्म के आधार पर परिभाषित हो रहे थे। निहित राजनीतिक स्वार्थों, सामाजिक पूर्वाग्रहों और आर्थिक रूप से अपंग परिस्थितियों के शिकार अपने युवाओं को समाज एक दृढ़ संकल्प प्रदान करने और चुनौतियों को पूरा करने में असमर्थ साबित हो रहा था। राष्ट्र का दिग्भ्रमित युवा नव्य औपनिवेशिक शासन से अपने अर्थ निकाल रहा था। इस उपन्यास में मुख्य रूप से उत्तर औपनिवेशिक समाज के युवा वर्ग के समझौता करने और न करने की कहानी है, जिसका कथा-सूत्र बेरोजगारी तथा सांप्रदायिकता से होकर गुजरता है।

‘टोपी शुक्ला’, ‘आधा गाँव’ का उत्तर आख्यान है। ‘आधा गाँव’ में जहाँ देश में सांप्रदायिकता फैलने का चित्रण है, वहीं टोपी शुक्ला में सांप्रदायिकता के विषाक्त वातावरण में घुट-घुट कर जीवन जीने का चित्रण है। ‘टोपी शुक्ला’ में विभाजन की ज़िम्मेदारी मुसलमानों के सिर थोपने का विरोध किया गया है। वस्तुतः पाकिस्तान-निर्माण की ज़िम्मेदारी मुसलमानों को मानना एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक भूल थी, जिससे आज तक इस देश का मुसलमान मुक्त नहीं हो पाया है। उपन्यास में इन्हीं समस्याओं का हल तलाशने की कोशिश की गयी है। नामदेव अपनी पुस्तक में इम्तियाज़ अहमद के हवाले से कहते हैं कि, “सर्वविदित है कि एक ओर, बँटवारे ने उन्हें दो देशों में विभाजित कर दिया, जबकि लगातार उनकी मान्यता यह थी कि वे एक क़ौम हैं। दूसरी ओर यद्यपि बँटवारे के निर्णय को आज़ादी संबंधी बातचीत में शामिल सभी पक्षों ने स्वीकार किया था, तथापि सिर्फ़ मुसलमानों को ही बँटवारे की ज़िम्मेदारी का भार उठाना पड़ा, जिसके कारण वे शक और नफ़रत का निशाना बने।” नामदेव इसे विश्लेषित करते हुए कहते हैं— “प्रो. इम्तियाज़ अहमद की यह टिप्पणी उस यथार्थ की ओर स्पष्ट संकेत करती है जहाँ से भारतीय जनमानस में मुसलमानों के प्रति शक और नफ़रत का उभरना शुरू हुआ क्योंकि समस्त मुसलमानों को भारत विभाजन का कारण समझा जाने लगा। वास्तविकता यह थी कि उच्च और संभ्रांत मुसलमानों ने ‘मुस्लिम लीग’ की अलगाववादी नीति द्वारा अपनी राजनीतिक महत्त्वकांक्षा की पूर्ति हेतु आम मुसलमान को भ्रमित करते हुए ‘पाकिस्तान’ का सपना दिखाया कि यह उनका अपना राष्ट्र होगा, जहाँ सभी मुसलमान खुशहाल और सुरक्षित रहेंगे। परंतु हालांकि बहुत कम आम भारतीय

मुसलमानों ने पाकिस्तान में आस्था प्रकट की, फिर भी अधिकांश बहुसंख्यक हिंदुओं ने पाकिस्तान निर्माण के पीछे सभी मुसलमानों को दोषी ठहराना शुरू कर दिया। यहीं से भारतीय मुसलमानों के जीवन में एक भयानक त्रासदी की शुरुआत हुई। एक तरफ़ बहुत से मुस्लिम परिवार व व्यक्ति माँ, बाप, भाई—बहन, पति—पत्नी से बिछुड़ने के कारण एकांगी हो गये तो दूसरी तरफ़ हिंदुस्तान में निष्ठा और आस्था के कारण भारत में ही रह गये मुसलमानों की राष्ट्रीयता पर संदेह किया जाने लगा। इस दोतरफ़ा मार से भारतीय मुसलमान टूटते हुये हाशिए पर पहुँच गया। उपेक्षा और संदेह की भावना ने मुसलमानों में असुरक्षा और डर का भयावह वातावरण निर्मित करने में सक्रिय भूमिका अदा की।⁴⁹ प्रियंवद कहते हैं कि—“विभाजन के नकारात्मक परिणाम स्पष्ट हैं!....भारत में रह गये साढ़े चार करोड़ मुसलमान भी दूसरे दर्जे के नागरिक बने और हमेशा के लिए असुरक्षा से ग्रसित हो गए। विभाजन का सबसे अधिक मूल्य इन्हें और भारतीय मुसलमान को चुकाना पड़ा। विभाजन के बाद इनके तीन भाग हो गये। पश्चिमी पाकिस्तान, पूर्वी पाकिस्तान और भारत। इनकी भाषा उर्दू को अपना स्थान खोना पड़ा। वह पश्चिमी पाकिस्तान की क्षेत्रीय भाषा की तरह रह गयी। पाकिस्तान के मुसलमानों ने दूसरी तरफ़ से बहुत खोया। उनके महत्वपूर्ण धार्मिक स्थल अजमेर शरीफ, बिहार शरीफ, निजामुद्दीन आदि भारत में थे। मुस्लिम—स्थापत्य की अनोखी इमारतें— ताजमहल, जामा मस्जिद, फतेहपुर सीकरी, हुमायूँ का मकबरा यहीं रह गया। उनकी शिक्षा के गौरवपूर्ण केंद्र अलीगढ़ और कालीकट भारत में थे। उनके इतिहास के समस्त महाशासकों के मकबरे भारत में थे। संगीत, नृत्य और साहित्य के श्रेष्ठ कलाकार भारत में ही रह गये थे। इस दृष्टि से हिंदुओं ने कुछ नहीं खोया सिवाय भारत की कथित अखंडता के।”⁵⁰ ‘आधा गाँव’ में मुस्लिम लीगी जो सवाल पूछते हैं कि हिंदू भारत में मुसलमानों का भविष्य सुरक्षित नहीं है, ‘टोपी शुक्ला’ और ‘ओस की बूँद’ उसे सवाल की तरह प्रस्तुत करते हुए उसका हल सुझाने की कोशिश करते हैं। उपन्यास में वर्णित दो एक प्रसंगों से इसे समझा जा सकता है। पहला प्रसंग है टोपी का जनसंघ में शामिल होने के बाद का है— “उन्हीं लोगों से उसे पहले—पहल यह पता चला कि मुसलमानों ने किस तरह देश का सत्यानाश किया है। देश भर

में जितनी मस्जिदें हैं, वे मंदिरो को तोड़ कर बनायी गयी है। (टोपी को यह बात मानने में ज़रा शक था, क्योंकि शहर की दो मस्जिदें तो उसके सामने बनी थीं और कोई मंदिर—वंदिर नहीं तोड़ा गया था।) गोहत्या तो मुसलमानों का ख़ास शग़ल है। फिर उन्होंने देश का बँटवारा करवाया। पंजाब और बंगाल में लाखों हिंदू बूढ़ों और बच्चों को उन्होंने बेदर्री से मारा। औरतों की लाज लूटी और क्या—क्या नहीं किया इन मुसलमानों ने ! ये जब तक देश में हैं देश का कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए मुसलमानों को अरब सागर में ढकेल देना हर हिंदू नवयुवक का कर्तव्य है। ये तमाम बातें दिल में लगती थीं। इन बातों के बीच में कई बार उसे इफ़्फ़न याद आया। परंतु जब वहीद फ़र्स्ट आ गया तो उसे यकीन आ गया कि मुसलमान जब तक है तब तक हिंदू चैन की साँस नहीं ले सकता।

तो एक सच्चे भारतीय और एक सच्चे हिंदू की तरह वह मुसलमानों से नफ़रत करने लगा।⁵¹

और दूसरा प्रसंग है टोपी के मित्र इफ़्फ़न का एक राजपूत कालेज में इतिहास पढ़ाने का। भारतीय इतिहास को पढ़ाते वक़्त इफ़्फ़न को लगता है कि इस देश में सांप्रदायिक इतिहास ही पढ़ाया जाता रहेगा। यहाँ उपन्यास औपनिवेशिक इतिहास—लेखन पर प्रश्नचिह्न लगाता है— “...और अगर लड़कों के दिमाग़ में यही बातें भरी जाती रहीं तो इस मुल्क का क्या बनेगा? नई नस्ल तो हमारी नस्ल से भी ज़्यादा घाटे में है। हमारे पास कोई ख़्वाब नहीं है। मगर इनके पास तो झूठे ख़्वाब हैं। मैं हिस्ट्री पढ़ाता हूँ। ऐसा लगता है कि हिंदुस्तान की किस्मत में हिस्ट्री है ही नहीं। मुझे अंग्रेजों की लिखी हुई हिस्ट्री पढ़ाई जा रही है। यही हाल पाकिस्तान में होगा। वहाँ इसलामी छाप होगी तारीख़ पर ! पता नहीं हिंदुस्तानी हिस्ट्री कब लिखी जाएगी।”⁵² न केवल औपनिवेशिक इतिहास—लेखन बल्कि एक स्थान पर उपन्यास यह भी स्पष्ट करता चलता है कि पाकिस्तान—निर्माण के पीछे अंग्रेजों की चाल थी—

“क्या बात है मियाँ ?” दिल्लीवाले मामू ने पूछा।

“कुछ नहीं।”

“मालूम होता है आज स्कूल में पिटे हो।” मामू ने कहकहा लगाया।

“पाकिस्तान तो मुसलमानों ने बनवया है ना?” उसने प्रश्न किया।

“नहीं।” मामू बोले। “पाकिस्तान अंग्रेजों ने बनवाया है।”....

“...यह बताओ कि तुम जो नाना साहब के यहाँ गये थे तो गौरीशंकर साहब ने क्या तुम्हें प्यार नहीं किया था?” मामू ने पूछा।

“किया था।”

“तो क्या वह हिंदू नहीं हैं?”

“तुम्हारे नाना मियाँ हिंदुओं का छुआ नहीं खाते है तो क्या गौरीशंकर चा से उनकी दोस्ती नहीं है?”.....

“....कोई कहे कि कच्चा कान ले भागा तो तुम क्या करोगे? कान देखोगे या कच्चे के पीछे भागोगे? तुमने बनवाया है पाकिस्तान?”

“जी नहीं।”

“फिर तुम क्यों खफा होते हो?”⁵³

नामदेव इस तथ्य की ओर इशारा करते हुए कहते हैं— “राही पाकिस्तान विमर्श को ‘टोपी शुक्ला’ उपन्यास में भी जारी रखते हैं। लेकिन यहाँ प्रसंग बदल गया है। अब भारतीय मुसलमानों की राष्ट्रीयता पर संदेह किया जाने लगा है और उनको पाकिस्तान से जोड़कर देखा जाने लगा है। स्वतंत्र भारत के बहुसंख्यकों की दृष्टि में मुसलमानों के प्रति आये इस बदलाव को लेखक ने बड़ी गहराई से पकड़ा है।....टोपी शुक्ला.... अपने अंतरंग मित्र इफ़्फ़न से मुसलमानों के बारे में कहता है— “चूँकि उन्होंने पाकिस्तान बनवा लिया है इसलिए भारत पर उनका क्या हक रह गया है। भाई हर मुसलमान के दिल में पाकिस्तान की ओर एक खिड़की खुली हुई है।”⁵⁴ यही वह सवाल है जिसे विभाजन बाद हिंदुस्तान में रह रहे मुसलमानों से बार-बार पूछ कर उनकी राष्ट्रीयता पर संदेह किया जाता रहा है। यही वह शक

एवं नफ़रत है जिसने भारतीय मुसलमानों के भीतर भय, शंका एवं नफ़रत के भी वातावरण को तैयार करने पर ज़बरदस्त भूमिका तैयार की— “तुम मुसलमानों से नफ़रत करते हो। सकीना हिंदुओं से घिन खाती है। मैं...मैं डरता हूँ शायद। हमारा अंजाम क्या होगा बलभद्र? मेरे दिल का डर, तुम्हारे और सकीना के दिल की नफ़रत— ये क्या इतनी अटल सच्चाइयाँ हैं कि बदल नहीं सकतीं? हिस्ट्री का टीचर कल क्या पढ़ाएगा ? वह इस सूरते हाल को कैसे एक्सप्लेन करेगा कि मैं तुमसे डरता था और तुम मुझसे नफ़रत करते थे। फिर भी हम दोस्त थे। मैं तुम्हें मार क्यों नहीं डालता? तुम मुझे क़त्ल क्यों नहीं कर देते? कौन हमारे हाथ थाम रहा है?....

।”⁵⁵ नामदेव के अनुसार लेखक पाकिस्तान-निर्माण के लिए दोषी ठहरा दिये गये मुसलमानों की समस्या का तार्किक हल भी प्रस्तुत करने की कोशिश करता है— “इसका उत्तर भी लेखक तलाशता है। वह अपने तर्कवान विचारों को एक पात्र के मुँह से कहलवाकर बहुसंख्यकों की शक और नफ़रत भरी दृष्टि दूसरी ओर मोड़ देता है, जिससे एक नई सच्चाई सामने आ जाती है— “हाँ मेरा दिल पाकिस्तान में लगा रहता है क्योंकि उनकी बेवकूफियों से हिंदुस्तानी मुसलमानों को नुकसान होता है।”⁵⁶

उपन्यास इसी समस्या का हल ढूँढने की कोशिश करता है और साझी संस्कृति को समस्या का हल मानता है जो मानवीयता की रक्षा करती है। इफ़्फ़न और बलभद्र नारायण शुक्ला उर्फ़ टोपी दोनों अलग-अलग कट्टर धार्मिक परिवारों के होते हुए भी बचपन के दोस्त हैं। दोनों के परिवारों में धर्म को लेकर कट्टरता देखने को मिलती है, किंतु भाषा और रीति-रिवाजों के बीच भारतीय संस्कृति देखने को मिलती है। जैसे टोपी के पिता भृगुनारायण नीले तेलवाले। उनका वर्णन कुछ इस प्रकार हुआ है कि बड़े धार्मिक आदमी थे। मंदिर कभी-कभी जाते थे। कभी-कभी पूजा भी कर लिया करते थे। वह फ़ारसी शायरी तथा तथा मौलाना रूमी की मसनवी के बहुत बड़े रसिया थे। धुली हुई उर्दू बोलते थे किंतु उर्दू के कट्टर विरोधी थे। यह इंशाअल्लाह, माशाअल्लाह और सुब्हानअल्लाह से नीचे बात नहीं करते थे किंतु मुसलमानों से नफ़रत करते थे। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है कि आमजन धार्मिक दृष्टि से एक दूसरे का विरोधी नहीं होता है, बल्कि उसके पीछे कोई निजी स्वार्थ या कोई व्यक्तिगत शत्रुता होती है। ‘आधा गाँव’ के किसानों के

संदर्भ में देखा कि उनके लिए धार्मिक अंतर कोई माने न रखता था बल्कि उनके लिए खेती और ज़मीन जीने मरने की चीज़ थी।⁵⁷ यहाँ भी भृगुनारायण के मुसलमानों से नफ़रत करने का कारण निजी दुश्मनी थी। उनका मुक़ाबला डाक्टर शेख शरफ़ुद्दीन लाल तेल वाले से था। डाक्टर शेख शरफ़ुद्दीन लाल तेल वाले कभी भृगुनारायण के यहाँ कम्पाउंडर हुआ करते थे— “डाक्टर साहब फ़ारसी के रसिया और मसनवी मौलाना रूम के दीवाने थे। अक्सर ‘उर्फ़’ और ‘बेदिल’ के शेर गुनगुनाते रहते थे। धुली हुई उर्दू बोलते थे और उर्दू के कट्टर विरोधी थे। इंशाअल्लाह और माशाअल्लाह और सुबहानअल्लाह के नीचे बात नहीं करते थे। मुसलमानों से बेहद नफ़रत करते थे। परंतु इसलिए नहीं कि उन्होंने भारत की प्राचीन सभ्यता को नष्ट किया है और पाकिस्तान बना लिया है। बल्कि इसलिए कि उनका मुक़ाबला डाक्टर शेख शरफ़ुद्दीन लाल तेल वाले से था।....रंग बदलने से भी आदमी क्या-क्या हो जाता है, टोपी एक ही है। सफ़ेद हो तो आदमी कांग्रेसी दिखायी देता है, लाल हो तो प्रजा सोशलिस्ट और केसरी हो तो जनसंघी!”⁵⁸ यहाँ टोपी की दादी सुभद्रा देवी का भी जिक्र करना आवश्यक है, क्योंकि उनके कारण ही टोपी के बाल-मन में उर्दू भाषा को लेकर एक किस्म की संकीर्णता पैदा हो गयी। सुभद्रा देवी, यानी डाक्टर भृगु नारायण शुक्ला की माँ “फ़ारसी की रसिया और हिंदी की दुश्मन थीं। उनके पिता.... पण्डित बालमुकुन्द फ़ारसी-अरबी के स्कालर और उर्दू-फ़ारसी के कवि थे।...उन्होंने इन्हें जी भर के फ़ारसी पढ़ायी।.... जिस घर में ब्याहकर आई, वहाँ भी फ़ारसी का वातावरण था। डाक्टर भृगु के पिता खुद उर्दू फ़ारसी के आशिक थे।...उन पति-पत्नी के ख़्याल में हिंदी गँवारू भाषा थी।”⁵⁹ और अपनी दादी से टोपी की कभी नहीं बनी। कारण कि टोपी की शक्ल-सूरत से सुभद्रा देवी जली रहती थीं। और उनका सारा प्यार टोपी के बड़े भाई मुन्नी बाबू पर निकलता था। न केवल सुभद्रा देवी बल्कि भृगु नारायण भी उससे कुछ ख़ास वात्सल्य नहीं रखते थे। और इस तरह टोपी अपनी दादी और अपने घर वालों से दूर होता गया और विशेषकर दादी की हर चीज़ को वह अपना दुश्मन समझने लगा— “नतीजा यह हुआ कि टोपी को शेख़ सादी, अमीर हमज़ा की कथा, रामायण, महाभारत —और बड़ों से नफ़रत हो गयी। वह इन सबको मुन्नी बाबू की पार्टी का समझने लगा।”⁶⁰ दादी द्वारा बोली जाने वाली भाषा का वह इसीलिए विरोधी हो जाने का प्रसंग कुछ यूँ वर्णित हुआ है—

“ये लफ़्ज़ तुमने कहाँ से सीखा?” सुभद्रा देवी ने सवाल किया।

“लफ़्ज़?” टोपी ने आँखें नचाईं। “लफ़्ज़” का होता है माँ?”

“ये अम्मी कहना तुमको किसने सिखाया है?” दादी गरजीं।

“ई हम इफ़्फ़न से सीखा है।”

“उसका पूरा नाम क्या है?”

“ई हम ना जनते।”

“तैं कउनो मियाँ के लड़का के दोस्ती कर लिहले बाय का रे ?” रामदुलारी की आत्मा गनगना गया।

“बहू, तुमसे कितनी बार कहूँ कि मेरे सामने गँवारों का यह ज़बान न बोला करो।” सुभद्रा देवी रामदुलारी पर बरस पड़ीं।

लड़ाई का मोर्चा बदल गया।⁶¹ यहाँ पात्रों के अंतर्विरोध को बखूबी दर्शाया गया है। ठीक इस के बरअक्स इफ़्फ़न के परदादा संकीर्ण मानसिकता वाले थे। उनका मानना था कि वह काफ़िरों के देश में पैदा हो गये, अतः उनकी वसीयत थी कि उनको कर्बला में ले जाकर दफ़नाया जाये। इफ़्फ़न की परदादी भी हिंदुओं का छुआ नहीं खाती थीं किंतु जब घर से बाहर कोई निकलने लगता तो हिंदू रीति के अनुसार दरवाज़े पर पानी का घड़ा ज़रूर रखवाती थी और माश का सदका भी उतरवाना न भूलती थीं। इफ़्फ़न की दादी भी रोजे नमाज़ की पाबंद थीं, किंतु हिंदू रीति-रिवाजों में पूरी आस्था रखती थीं और ज़िंदगी भर पूरबी बोलती रहीं। सुभद्रा देवी के मुकाबले उनका चरित्र देखिए— “इफ़्फ़न की दादी भी रोजे-नमाज़ की पाबंद थीं, परंतु जब इकलौते बेटे को चेचक निकली तो वह चारपाई के पास एक टॉट पर खड़ी हुई और बोलीं : “माता मोरे बच्चे को माफ़ करदयो।” पूरब की रहने वाली थीं। नौ या दस बरस की थीं जब ब्याह कर लखनऊ की आई, परंतु जब तक ज़िंदा रहीं पूरबी बोलती रहीं।”⁶² यही नहीं बल्कि उन्होंने अपने पति की तरह अपनी लाश को कर्बला और नज़फ़ में दफ़नाने से मना कर दिया— “ससुराल में उनकी आत्मा सदा बेचैन रही। जब मरने लगीं तो बेटे ने पूछा कि लाश करबला जाएगी या नज़फ़, तो बिगड़ गयी। बोलीं—

“ऐ बेटा जउन तूँ से हमरी लाश न सँभाली जाए त हमरे घर भेज दिहो।”⁶³ इस प्रकार उपन्यास यह बतलाने में सफल रहता है कि धर्म और जीवन जीने के तरीके में बहुत अंतर है। भारतीय समाज में हिंदू और मुस्लिम धर्म एक दूसरे में घुल-मिल गये हैं। और भारतीय इतिहास की ताकत भी यही है। यही औपनिवेशिक तथ्यहीन अवधारणा का जवाब भी है। यही उत्तर औपनिवेशिक चेतना भी है। नामदेव इसे समझाते हुए कहते हैं— “राही मासूम रज़ा का उपन्यास ‘टोपी शुक्ला’ भी हिंदू-मुस्लिम संबंधों की बारीकियों की छानबीन करता है। उपन्यास के अनेक प्रसंगों में स्पष्ट तौर पर संकेत मिलता है कि भारत में रहने वाले सभी हिंदू और मुस्लिम भाई-भाई हैं। इफ्फ़न और टोपी शुक्ला अपनी अटूट दोस्ती के द्वारा भारतीय समाज की इस विशेषता को रेखांकित करते हैं। इस उपन्यास में हिंदू और मुसलमान को एक दूसरे की रक्षा करते हुए अपने प्राण न्यौछावर कर देने का बहुत सशक्त चित्रण देखने को मिलता है।”⁶⁴ ‘आधा गाँव’ के फुन्नन मियाँ और ठाकुर कुँवरपाल सिंह की दोस्ती की तरह इसमें भी महेश के पिता और सकीना के पिता सय्यद आबिद रज़ा की दोस्ती दिखायी गयी है। सांप्रदायिकता की संरचना तो यहाँ निर्मित की गयी है। और इसकी निर्मिति विभाजन के बाद स्वार्थी तत्त्वों के कारण और सुदृढ़ हो गयी ।

निष्कर्षतः उपन्यास में यह दर्शाया गया है कि सांप्रदायिकता किस प्रकार अपनी एक व्यवस्था बनाती है तथा एक तंत्र खड़ा करती है। किस प्रकार से वह इतिहास-लेखन का इस्तेमाल अपने हित में करती है। राही यहाँ भी समय को लेकर एक नया प्रयोग करते हैं। जब वह इफ्फ़न और टोपी जैसे चरित्रों के माध्यम से समय का अतिक्रमण करते हुए दिखायी देते हैं। यह उपन्यास आज के परिस्थितियों में अधिक प्रासंगिक दिखायी देता है।

‘ओस की बूँद’ में भी ‘आधा गाँव’ और ‘टोपी शुक्ला’ में उठाए गये सांप्रदायिक प्रश्नों को एकबार फिर पूछा गया है। इसमें दंगों की मानसिकता विश्लेषण कर इसे एक नयापन दिया गया है। ‘आधा गाँव’ में जो समस्या अभी उबल रही थी, ‘टोपी शुक्ला’ में वह पक चुकी थी और ‘ओस की बूँद’ में उसके भोगने का चित्रण है। उपन्यास की शुरुआत भारत में रह गये मुस्लिम लीगी

हयातुल्ला अंसारी और पक्के कांग्रेसी और धार्मिक सहिष्णु वजीर हसन के बीच उपजे तनाव से होता है। उपन्यास राजनीति की रोटियाँ सेंकने वालों को बेनकाब करता है कि किस तरह आज़ादी मिलने के बाद देश में अवसरवादी लोगों का बोलबाला हो गया। हयातुल्ला अंसारी एक अवसरवादी पात्र है, जो पहले मुस्लिम लीगी था लेकिन पाकिस्तान के बहुत दूर बन जाने के बाद कांग्रेसी हो गया— “.... और एक दिन उन्होंने अपनी कराकुली जिन्ना टोपी अपने नौकर को दे दी। यह टोपी उन्होंने बड़े चाव से खरीदी थी।...तो एक दिन वह गांधी आश्रम से एक गांधी टोपी खरीद लाए और दो-चार दिन के बाद बनारस के एक समाचार पत्र में उनका एक बयान छपा था कि भारत के मुसलमानों के कांग्रेस में चले जाना चाहिए। पाकिस्तान एक गलती है....।”⁶⁵ स्वातंत्र्योत्तर कांग्रेस पार्टी इस तरह के भ्रष्ट एवं अवसरवादी लोगों की पार्टी बन गयी थी। स्वातंत्र्योत्तर साहित्यिक लेखन में देसी नेतृत्व की संदिग्ध भूमिका पर अनेक प्रकार से चित्रण किया गया। अपने उपन्यासों में भी राही ने अनेक मुस्लिम लीगियों के कांग्रेसी बनने और कांग्रेस द्वारा उन्हें सम्मानित किये जाने का चित्रण किया है। हयातुल्ला अंसारी एक ऐसा ही मुस्लिम लीगी है जो आज़ादी के बाद कांग्रेसी चोला पहन लेता है— “उन दिनों कांग्रेस वाले भी कुछ जल्दी में थे। उन्हें पता था कि चुनाव में उन्हें मुसलमान वोटों की ज़रूरत पड़ेगी। इसलिए उन्होंने धड़ाधड़ पुराने मुस्लिम लीगियों को शहर कमेटी, जिला कमेटी, अल्लम कमेटी और ग़ल्लम कमेटी में भरना रूख़ू कर दिया। और इसी झटके में श्री हयातुलाह अंसारी के घर का बोर्ड उतर गया और एक नया बोर्ड बनाया गया, जिस पर ‘मौलवी’ की जगह ‘श्री’ लिखा गया। ‘नायब सदर ज़िला मुस्लिम लीग’ की जगह ‘नायब सदर ज़िला कांग्रेस कमेटी’ लिखा गया। ‘अलीग’ मिटाया तो नहीं गया, परंतु अक्षर बहुत छोटे कर दिये गए।”⁶⁶ इस उपन्यास में भी एक ओर हिंदू-मुस्लिम एकता का नारा दिया गया है तो दूसरी ओर स्वार्थी तत्त्वों को बेनकाब किया गया है। भारतीय समाज के साझी संस्कृति की रक्षा करने वालों में वजीर हसन जैसा चरित्र है। उनकी और दीनदयाल की दोस्ती ऐसी ही है जैसी ‘आधा गाँव’ के फुन्नन मियाँ और ठाकुर पृथ्वीपाल सिंह की दोस्ती और टोपी शुक्ला

में महेश के पिता और सकीना के पिता सख्यद आबिद रज़ा की दोस्ती है। और उन्हीं दोनों उपन्यासों की तरह इनमें भी वज़ीर हसन की जान सांप्रदायिक एकता की रक्षा हेतु जाती है। यह उपन्यास 'आधा गाँव' और 'टोपी शुक्ला' से एक संदर्भ में आगे बढ़ा हुआ है— दंगों का समाजशास्त्र किस प्रकार रचा जाता है 'ओस की बूँद' में इसका बारीकी से विश्लेषण किया गया है।

यह बात स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता को फैलाने में औपनिवेशिक शासन ही सर्वप्रथम जिम्मेदार थी। इस बात को भी समझने में कोई कठिनाई नहीं है कि दंगों की भी जिम्मेदार औपनिवेशिक शासन ही थी। हालांकि ऐसा नहीं है कि इसमें देसी स्वार्थी तत्त्वों की भूमिका नहीं थी; लेकिन औपनिवेशिक शासन ने इसके फलने-फूलने में अहम भूमिका निभायी। न केवल राही के उपन्यासों बल्कि शानी के 'काला जल' (1965), बदीउज्जमा के 'छाको की वापसी' (1975) आदि उपन्यासों के माध्यम से यह समझा जा सकता है कि इसके लिए मुख्य अभियुक्त औपनिवेशिक शासन ही थी। नामदेव इस तथ्य को विश्लेषित करते हुए कहते हैं— "इन उपन्यासों की कथावस्तु के देशकाल के समय को देखते हुए स्पष्ट है कि इनमें वर्णित घटनाक्रम, हिंदू-मुस्लिम झगड़े और विवाद के सूत्र तत्कालीन ब्रिटिश राज तक जाते हैं। अनेक ऐतिहासिक स्रोतों से ज्ञात होता है उस वक्त कई लोग (हिंदू-मुस्लिम) देश के बँटवारे का विरोध कर रहे थे। तो दूसरी तरफ ब्रिटिश राज ने मुस्लिम और आर. एस. एस. व अन्य सांप्रदायिक संगठनों को, लोगों को खुली छूट दे रखी थी। उनके सारे नेता जोर-शोर से देश के उन इलाकों का दौरा कर रहे थे, जहाँ हिंदू, मुसलमान पीढ़ियों से मिल जुलकर रहते थे। इस संदर्भ में हालाँकि सामुदायिक दंगों के कारणों में सिर्फ अंग्रेज ही नहीं थे, बल्कि अन्य बहुत से सांस्कृतिक-राजनीतिक कारक भी थे। प्रसिद्ध चिंतक असगर अली इंजीनियर के शब्दों में— "विभाजन-पूर्व के सांप्रदायिक दंगों की व्याख्या करते हुए आंशिक रूप से इसका इस्तेमाल किया जा सकता है।"⁶⁷ हालांकि नासिरा शर्मा दंगों की प्रेरणा के पीछे अंग्रेजों को मानती हैं। नामदेव कहते हैं कि नासिरा शर्मा अपनी पुस्तक 'राष्ट्र और मुसलमान' में दंगों की प्रेरणा के पीछे अंग्रेजों को मानती हैं और यह निष्कर्ष निकालती है कि भारत में वोट, मजदूरी, शत्रुता के नाम पर दंगे हो जाते हैं, अक्सर

यह दंगे सुन्नी-शिया और हिंदू-मुसलमान के बीच में होते हैं।⁶⁸ 'ओस की बूंद' में भी दंगों के कारणों की पड़ताल करते हुए यह दिखाया गया है कि इसके पीछे धार्मिक हिंसा न होकर निजी कारण होते हैं। और प्रायः उस निजी कारण को धार्मिक रंग देकर उससे व्यक्तिगत रूप से बचने का प्रयास होता है। निजी कारण धार्मिकता के घेरे में बिल्कुल नहीं आते हैं। नामदेव कहते हैं कि "...दंगों के पीछे कई बार आपसी रंजिश भी होता। यह आपसी रंजिश धार्मिकता के कवच को तोड़ती है। मसलन शहर में दंगा फैला हुआ है। शहला (मुस्लिम पात्र) जो कहीं जाने के लिए घर से निकलती है। उसे देखकर जोखन (मुस्लिम पात्र) के मन में यह भाव आते हैं कि अगर वह हिंदू होता तो शहला का बलात्कार करता। तभी उधर से गुज़र रहे बेहालशाह शहला को सुरक्षा का झाँसा देकर अपने घर ले गया और उसके साथ दुष्कर्म किया। इसके बाद हिंदू दंगाइयों ने भी शहला के साथ बलात्कार कर उसको और बेहालशाह को मार डाला। यह उदाहरण धार्मिक-सांस्कृतिक कारणों की सीमा से बाहर निकलकर वैयक्तिक मनोविकारों की पुष्टि करता है। वस्तुतः मुस्लिम समाज में निहित आंतरिक मतभेद, ऊँच-नीच का विचार-व्यवहार और अंतर्विरोध भी एक ही संप्रदाय के अंदर परस्पर विरोधी चेतना पैदा करता है, जो अवसर पाकर विकराल रूप धारण कर लेता है। मसलन मुसलमान बेहालशाह ने मुस्लिम स्त्री शहला के साथ बलात्कार क्यों किया ? जोखन मुसलमान शहला से बलात्कार करने के बारे में क्यों सोचता है ? ये प्रश्न वैयक्तिक मनोविकारों और स्वार्थों की पुष्टि करते हैं। अतः दंगों का रूप विस्तृत होता है, इनको सिर्फ धार्मिक-सांस्कृतिक घेरे में नहीं देखा जा सकता।⁶⁹ 'आधा गाँव' में जहाँ भारत की साझी संस्कृति एवं हिंदू-मुस्लिम एकता के आगे सांप्रदायिक तत्त्वों की हार हो जाती है। जैसे फुन्नन मियाँ, कम्मो, अब्बू मियाँ, ठाकुर पृथ्वीपाल सिंह, तन्नु, मिगदाद तथा गयवा अहीर, छिकुरिया आदि पात्रों के आगे मुस्लिम लीगियों और जनसंधियों की नहीं चलती है। टोपी शुक्ला में भारतीय संस्कृति की एकता सांप्रदायिक तत्त्वों के आगे हार मानती हुई दिखती है। इफ्फन, टोपी, सय्यद आबिद रज़ा, सकीना, तथा महेश आदि पात्र भारत की साझी संस्कृति में विश्वास रखते हैं। लेकिन ये सभी पात्र सांप्रदायिक तत्त्वों के आगे बेबस दिखते हैं। 'टोपी शुक्ला' से यह संकेत मिलता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांप्रदायिक तत्त्व मज़बूत हो रहे हैं।

‘ओस की बूँद’ में ये सांप्रदायिक तत्त्व बेहद मज़बूत हो जाते हैं। वज़ीर हसन, दीनदयाल, शहला, वहशत अंसारी, बाबू बाँके बिहारी आदि साझी संस्कृति के एकता के प्रतीक सांप्रदायिक तत्त्वों द्वारा ढहा दिये जाते हैं या हार मान जाते हैं। इस प्रकार एक क्रम के रूप में सांप्रदायिकता के दिन—ब—दिन बलशाली होते जाने को ये तीनों उपन्यास वर्णित करते हैं। ‘ओस की बूँद’ इसमें अंतिम कड़ी है। निष्कर्षतः इस उपन्यास के बारे में गोपाल राय का यह विश्लेषण सुसंगत है— “ओस की बूँद एक ऐसे अंतर्विरोध पूर्ण समय की कहानी है जब आदमी, आदमी न रहकर निखालिस हिंदू या मुसलमान बन जाता है और मुल्लाओं—महंतों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा फैलाये गये धार्मिक उन्माद और झूठ के फलस्वरूप सारी मानवीय संवेदनाओं को तिलांजलि देकर वहशी बन जाता है। पर इनके बीच कुछ ऐसे पात्र भी होते हैं जो हिंदू या मुसलमान न होकर निखालिस आदमी होते हैं। इसीलिए उपन्यास के वज़ीर हसन जैसे लोग अपने लड़के के पाकिस्तान चले जाने पर भी अपनी धरती और अपने वतन से जुड़े रहते हैं। वे हिंदू—मुस्लिम साझी संस्कृति के प्रतीक हैं, पर उनका कत्ल हो जाता है। दूसरी तरफ दीनदयाल है जो वज़ीर हसन की तरह मज़ार अपने आँगन में बनाने की पेशकश करता है। वहशत बुखारी के स्वार्थी को नंगा करता है, सांप्रदायिक उन्माद का विरोध करता है और बाबू बाँके बिहारी लाल इस सच का इज़हार करने में नहीं हिचकते कि कुएँ में कटी—पड़ी गाय मुसलमानों ने नहीं काटी है और इसकी सज़ा उन्हें यह मिलती है कि उन्हें ख़त्म कर दिया जाता है।”⁷⁰

‘दिल एक सादा कागज़’ में भी राही ने सांप्रदायिकता की समस्या को एक भिन्न रूप में उठाया है। यहाँ सांप्रदायिकता प्रदत्त विस्थापन की समस्या को मुख्य रूप से उठाया गया है। गोपाल राय का कहना है कि, “दिल एक सादा कागज़ इस समय को पच्चीस वर्ष और आगे ले जाता है। भारत के मुसलमान यह सोचकर कि हिंदुस्तान में मुसलमानों की इज्जत—आबरू महफूज़ नहीं है और पाकिस्तान में उन्हें जीविका के बेहतर साधन तथा सम्मानपूर्ण सामाजिक जिंदगी मिलेगी, पाकिस्तान चले गये; पर उनका मोहभंग होने में पच्चीस साल भी नहीं लगे। अन्ततः उन्हें ज़लील होना पड़ा और एक भयानक विनाशलीला के बाद पूर्वी पाकिस्तान

बँगला देश में बदल गया। इसके बाद भी पूर्वी पाकिस्तान गये मुसलमानों का दुःस्वप्न समाप्त नहीं हुआ और बिहार और उत्तर प्रदेश के मुसलमानों को अपनी आबरू, संपत्ति और सामाजिक जिंदगी खोकर शरणार्थी और मुहाजिर बनना पड़ा। आज भी पाकिस्तान का एक बड़ा मुस्लिम वर्ग वहाँ मुहाजिर के नाम से अपमानपूर्ण जिंदगी व्यतीत कर रहा है। राही ने दिल एक सादा कागज़ में मुसलमानों के इस मोहभंग की कहानी प्रस्तुत की है। इस उपन्यास में राही ने हिंदू-मुस्लिम संबंधों के प्रश्न को भी एक नये अवलोकन से प्रस्तुत किया है और दोनों संप्रदायों के बीच अविश्वास, घृणा, डर, आदि भावनाओं को फैलाने वाले कारणों की खोज के साथ-साथ उनके बीच मानवता, प्रेम, भाई चारा आदि के रिश्तों की तलाश भी की है। दिल एक सादा कागज़ में राही ने स्वाधीन भारत के उन पच्चीस वर्षों की कहानी भी प्रस्तुत की है जब बेईमान, तिकड़मी, और चरित्रभ्रष्ट नेताओं का वर्चस्व स्थापित हो गया, जहाँ झूठा धर्मनिरपेक्षतावाद, कृत्रिम औपचारिकता, नकली प्रगतिशीलता आदि का बोलबाला हो गया, नैतिक गिरावट जिसका अभिन्न अंग बन गयी और ईमानदार आदमी के लिए शराफत की जिंदगी दूभर हो गयी।⁷¹ इस प्रकार 'दिल एक सादा कागज़' उत्तर औपनिवेशिक समाज में विस्थापन और उससे जुड़ी समस्या को अपनी पूरी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करता है।

कटरा बी आर्जू : उत्तर औपनिवेशिक राजनीति का भयावह चेहरा

भारत ब्रिटिश उपनिवेशवाद का लंबे समय तक शिकार रहा। गुलाम भारत की जनता ने आज़ादी का एक ख़्वाब देखा था। एक ऐसा भारत जिसमें यकीनन ग़रीबों, असहायों, हाशिये पर पड़े वर्गों की आवाज़ को प्रधानता मिलेगी। वह एक ऐसे उत्तर औपनिवेशिक भारतीय समाज का सपना बुन रहे थे, जिसमें नैतिकता, आदर्श, मूल्य जैसे गुणों की फिर से स्थापना होगी और सर्वोपरि देश के नेताजन डेढ़-दो सौ साल से लग रहे चोटों पर मरहम लगाएंगे। हालाँकि आज़ादी मिलने तक यह ख़्वाब टूटने-सा लगा था जब देश एक सांप्रदायिक उभार में फँस कर छटपटाने लगा। अंग्रेज़ अपनी चाल में कामयाब होता दिखायी दिया। पहले लोगों

का जेहन बँटा, चेतना में फाँक पड़ी, फिर कागज़ पर नक्शा बना और फिर बँटी हुई आज़ादी हाथ आयी। आधी-अधूरी आज़ादी ! दाग़दार आज़ादी ! पाकिस्तान पर अंग्रेज़ों ने 'मेड इन इंडिया' का ठप्पा लगा दिया। इस पूरे प्रकरण में भारतीय देसी नेतृत्व की भूमिका संदिग्ध थी। ऐसे में देश की जनता को प्रथमतया निराशा हुई। फिर भी इस ऐतिहासिक भूल को स्वीकार करते हुये विकास का ताना-बाना बुना जाने लगा। हाँलाकि सजग लोगों ने देख लिया कि आज़ाद भारत में किसका विकास होगा। गाँधी ने 'हिंद स्वराज' तथा फ्रांज़ फ़ैनन ने THE PITS FALLS OF NATIONAL CONSCIOUSNESS में आगाह किया कि हमें सच्ची आज़ादी हासिल करनी होगी। सच्ची आज़ादी से उनका आशय ऐसी आज़ादी से था जो औपनिवेशिक तंत्रों, विमर्शों, व्यवस्थाओं, संगठनों तथा सर्वोपरि औपनिवेशिक स्वभाव से मुक्त स्थानीय जनता तथा देशज संस्कृति के लिए उम्मीद जगाता हो। आज़ादी मिलने के साथ ही राजनीतिक नेतृत्व पर देसी बुर्जुआ तंत्र के हाथ में चली जाती है। फिर शुरुआत होती है सत्ता की राजनीति के विकृत रूप की। तिकड़मों, चालबाजियों और भ्रष्टाचार के सहारे चलती राजनीति दिन-ब-दिन बलवान होती जाती है। देश एक नव्य-उपनिवेशवाद में फँस जाता है। फिर भी, इंसान का सबसे बड़ा हक़ है कि वह सपने देखता है। इसे कोई भी संस्था, कोई भी संगठन छीन नहीं सकता। लेकिन आधिपत्यपरक राजनीति में ऐसे सपनों की कोई कीमत ही नहीं बल्कि उन्हें कुचल दिया जाता है। 'कटरा बी आर्जू' में ऐसे ही एक आज़ाद भारत की कुत्सित राजनीतिक व्यवस्था तथा आमजन के सपनों के जन्म लेने तथा कुचल दिये जाने की कथा दर्ज है।

उपन्यास की कथा इमर्जेंसी के दौर से शुरू होती है। 'नेशन' पत्रिका के पत्रकार आशाराम को मीसा में धर दबोचने की तैयारी चल रही होती है— "उन दिनों चूँकि यही सरकारी तरीका हो गया था कि यदि किसी के बारे में कुछ पता न चले तो उसे सरकार का दुश्मन मान लिया जाए।.....और उस पत्रकार का नाम तो यूँ भी सरकार के दुश्मनों में लिखा हुआ था। इसलिए उसे मीसा में धर दबोचने के लिए पूछताछ शुरू की गयी।

उस पत्रकार का नाम आशाराम था।⁷² यह इमर्जेंसी का दौर था। कहानी यहाँ से पाठक को इसकी पृष्ठभूमि में ले जाती है। आशाराम के दादा श्री बाबूराम 'आज़ाद' स्वतंत्रता सेनानी तथा पक्के कांग्रेसी थे— “उनकी वफ़ादारियाँ कांग्रेस से जकड़ी हुई थीं। कांग्रेस से अलग हटकर वह न कुछ सोच सकते थे, न समझ सकते थे। कांग्रेस इनके विचारों और उनकी आत्मा और उनकी जिंदगी का ओढ़ना-बिछौना थी।”⁷³ आशाराम जवानी के दिनों में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हो गया था— “वह बात-बात में चीन और रूस और रumanिया और फ्रांस की क्रांति और अमेरिका की सिविल वार का तज़क़िरा करने लगा था। उसकी बुक शेल्फ में 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' और गोर्की का 'माँ' आ गया है।”⁷⁴ परिणामस्वरूप दादा-पोते के बीच दूरी बढ़ने लगी। बाबूराम आज़ाद— “विचारों को या विचारधारा को बुरा नहीं समझते थे, परंतु मार्क्सवाद तो उनकी पिछली पूरी जिंदगी को अर्थहीन बनानेवाला विचार था। मतलब..... उनके सपनों के पाँव के नीचे जैसे कभी कोई ज़मीन ही नहीं रही हो।.....”⁷⁵ इस इलाके के एम. पी. गौरीशंकर थे— “.....कांग्रेसी एम. पी. थे और बाबू कमलापति त्रिपाठी के ख़ास आदमी थे। मंत्री होते-होते रह गये थे। समाजवाद पर प्रांतीय कांग्रेस में उनसे अच्छी तक़रीर करने वाला कोई नहीं था, इसलिए जहाँ-जहाँ सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों का ज़ोर था, वहाँ-वहाँ बाबू गौरीशंकर की मांग थी। इलाहाबाद से पूरब का सारा उत्तर प्रदेश उनकी चार्ज में था।”⁷⁶ लेकिन बाबूराम गौरीशंकर जैसे पेशेवर नेताओं के घोर विरोधी थे। हालाँकि वह जानते थे कि “आज़ादी के बाद से कांग्रेस में ईमानदार लोगों की ख़पत यूँ भी कम हो गयी थी। बाबू गौरीशंकर जैसे लोग तो टिकटों की औलादें हैं। जहाँ टिकट बँटता है, वहाँ यह लोग पैदा हो जाते हैं। बाबू गौरीशंकर पहला और दूसरा चुनाव कांग्रेस के टिकट पर जीते। फिर जब चरण सिंह कांग्रेस से अलग हुए तो वह भी अलग हो गये। और जब चरण सिंह की सरकार टूटी तो वह फिर से कांग्रेस में लौटकर आ गये।”⁷⁷ आशाराम ने बाबू गौरीशंकर के नेशनल गैरेज में हड़ताल करवा दी। और वहाँ कम्युनिज़्म की बातें करने लगा। लेकिन वहाँ काम करने वाले मजदूर कम्युनिज़्म के दर्शन से नावाकिफ़ थे। उनके तो बस छोटे-छोटे सपने और आकांक्षाएँ थीं। हड़ताल की अध्यक्षता करने वाले शम्सू मियाँ को अपने चश्मे का नंबर बदलवाना था। देशराज को एक छोटा सा मकान बनवाना था।

मुरली को अपना ट्रांजिस्टर खरीदना था। अतः हड़ताल टूट जाती है। कम्युनिज़्म फ़लाप हो जाता है। आशाराम जेल हो आता है। यहाँ उपन्यास भारतीय राजनीतिक दिशा की एक झलक भर देता है। पुराने ईमानदार कांग्रेसी स्वतंत्रता सेनानियों की कोई क़दर—कीमत नहीं। उनके आदर्श, उनके सपने चिटक रहे हैं— “बाबूराम को अपने आप पर शक हो चला था कि जैसे वह जो कुछ सोच रहे हैं उसमें कहीं न कहीं गड़बड़ी है। कहीं न कहीं कोई ग़लती हो रही है; कहीं न कहीं से सपने टूट रहे हैं; आदर्श चिटक रहा है, विचार से रुके हुये बंद पानी की तरह बिसाँध आने लगी है।”⁷⁸ दूसरा राजनीतिक नेतृत्व मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित था, उसकी अपनी कमज़ोरियाँ थीं। आशाराम भी अपनी जगह परेशान था— “क्योंकि खुद उसकी पार्टी दो हिस्सों में बँट चुकी थी एक तो मिसेज गाँधी का दुमछल्ला बन गयी थी और दूसरी मार्क्सवाद लेने के लिए जनसंघ और वीक़ेडी और अकाली जमाअत जैसी जन—दुश्मन पार्टियों से गठजोड़ करने पर तैयार थी।”⁷⁹ तीसरा नेतृत्व अवसरवादी गौरीशंकर जैसे लोगों के हाथ में था, जो सत्ता में बने हुए थे।

देश का तत्कालीन खाका खींचने के बाद उपन्यास देश और बिल्लो के सपनों के बनने और बिखरने की कहानी को दर्ज करता है। देश आशाराम का दोस्त है। वह शम्सू मियाँ के गैरेज में मोटर मिकैनिक्स है। उसकी शादी अपने मामा की लड़की बिल्लो से लगी है जो जनता लांज़ी चलाती है। दोनों की शादी के बीच एक रुकावट है— एक छोटा—सा घर। इन दोनों के पालनहार हैं पहलवान। वह चाय की दुकान चलाते हैं। इनके दोस्त हैं शम्सू मियाँ। शम्सू मियाँ की दो बेटियाँ हैं— महनाज़ और शहनाज़। और बेटा अब्दुल पाकिस्तान चला गया है। शहनाज़ को पढ़ने का शौक है। देश ने उसके लिए मास्टर बद्रुल हसन नायाब मछली शहरी को तय किया है। मास्टर साहब और शहनाज़ में प्रेम हो जाता है। यह सभी कटरा मीर बुलाकी के निवासी हैं।

कटरा मीर बुलाकी के नामकरण पर राजनीति के गर्म होने का उपन्यास बड़े जोरदार ढंग से व्यक्त करता है। यूँ तो कटरा मीर बुलाकी का नाम गली द्वारिका प्रसाद था। स्वर्गीय द्वारिका प्रसाद सन् 42 के शहीद थे। हालाँकि जनसंधियों का कहना था कि— “यह बुलाकी क्यूँ चिपके रहते हैं हर ख़त और हर सरकारी कागज़

पर और खास तौर से जब मीर बुलाकी के घर वाले पाकिस्तान भी जा चुके हैं।⁸⁰ बाबू गौरीशंकर की चाह थी इस मार्ग का नाम उनके पिता प. शिवशंकर पाण्डेय के नाम पर रखा जाए। किंतु प. शिवशंकर सन् बयालीस के शहीद न थे— “..... नायब तहसीलदार थे और सन् बयालीस के आंदोलन से उनका कोई तअल्लुक न था, सिवा इसके कि मौका गनीमत जानकर उन्होंने अपने आदमियों से सरकारी खज़ाना लुटवा लिया और बाद में उन्हीं पैसों से उन्होंने दूसरा कारोबार शुरू कर दिया, जिसमें भगवान की दया से दिन-दूनी चार-चौगुनी तरक्की हुई और जहाँ कच्चा घर था वहाँ तीन माले की पक्की कोठी खड़ी हो गयी।”⁸¹ इस तथ्य से सभी भिन्न थे किंतु बाबू गौरीशंकर पाण्डेय ने कुछ पैसे खर्च कर पंडित जी को देशभक्त साबित कर दिया। जब एक बार पंडित जी देशभक्त साबित हो गये तो उनके नाम का डाक टिकट निकल गया तो इस ससुरी सड़क की क्या हैसियत ! सड़क का नाम प. शिवशंकर मार्ग रख दिया गया।⁸² द्वारिका प्रसाद को भी देशभक्त माने हुए कार्पोरेशन ने “फैसला लिया कि कटरा मीर बुलाकी से जो गली शिवशंकर मार्ग तक जाती है उसका नाम तो ‘गली द्वारिका प्रसाद’ रख ही दिया जाए।”⁸³ इस राजनीतिक तिकड़म के बीच बिल्लो और देश घर बनाने और घर बसाने की ओर कदम बढ़ाते हैं; बाबू गौरीशंकर पाण्डेय को कांग्रेस टिकट दे देती है; बाबूराम आज़ाद अपनी कांग्रेसी निष्ठा से पीछे नहीं हटे और पाण्डेय का ही साथ दिया— “पर पार्टी ने उन्हें टिकट दिया था, इसलिए बाबूराम ने उन्हीं का साथ दिया था, हालाँकि उनके खिलाफ सोशलिस्टों ने जो आदमी खड़ा किया था, वह बड़ा ईमानदार और जनता की सेवा करने वाला आदमी था।”⁸⁴ बाबू गौरीशंकर ने केंद्र में घुसने के लिए एक नयी तिकड़म चलायी— “दरअसल वह चुपके से ट्रेड यूनियन आंदोलन में घुसना चाहते थे, क्योंकि उनका ख्याल था कि यदि वह ट्रेड यूनियन लीडर हो जाएं तो उन्हें केंद्रीय सरकार में घुसना आसान पड़ेगा।”⁸⁵ उसके लिए उन्होंने अपने ‘नेशनल गैरेज’ को चुना और शम्सू मियाँ और देश को खरीदने की कोशिश की। नतीजे में शम्सू मियाँ बिक गये पर देश न बिका। लेकिन पाण्डेय जी ने आल इंडिया वर्कर्स यूनियन भी बना दी। शम्सू मियाँ इसके अध्यक्ष बन गये। बाबू साहब की मंशा थी कि— “उनके स्वर्गीय पिता प. शिवशंकर पाण्डेय की पच्चिसवीं बरसी के अवसर पर यूनियन का उद्घाटन हो और उसमें श्री संजय गाँधी चीफ़ गेस्ट होकर आयें।

ज़ाहिर है कि कम-से-कम एक बार तो उन्हें बाबू साहब के घर आना ही पड़ेगा तो उसी बहाने प. शिवशंकर मार्ग की मरम्मत भी हो जाएगी और वह कुछ चौड़ी भी कर ली जाएगी।”⁸⁶ ट्रेड यूनियन में बाबू साहब ने घपला किया और देश ने इसका विरोध किया तो उसे डिसमिस कर दिया गया— “उन्होंने पता नहीं क्या गोलमाल किया कि यह साबित हो गया कि गैरेज घाटे में चल रहा है, जबकि उसी बरस उन्होंने अपनी बेटी को साढ़े पाँच लाख का दहेज दिया था। काशी में गंगा जी के किनारे नयी कोठी बनवायी थी। बस वर्कर्स को बोनस देने के लिए पैसा नहीं था। शम्सू मियाँ ने बाबू साहब का साथ दिया ता ज़ाहिर है यूनियन उधर ही गयी पर बिल्लो के लाख समझाने के बावजूद देश नहीं माना। वह भूख हड़ताल पर बैठ गया। आशाराम ने कहा कि खाली भूख हड़ताल से नहीं होगा। उसके पीछे कोई राजनैतिक ताक़त होनी चाहिए।..... चूँकि उसे पीछे कोई आंदोलन नहीं था, इसलिए बाबू साहब ने उसे डिसमिस कर दिया।”⁸⁷ हालाँकि बाबूराम आज़ाद की मदद देश बैंक से एक छोटा-मोटा कर्ज़ पा गया। उसने अपना एक गैरेज खोल लिया जिसका नाम ‘इंद्रा मोटर वर्कशाप’ रखा। उस समय देश में इंदिरा गांधी की धूम मची हुयी थी। मास्टर बदरुल हसन नायाब मछली शहरी इंदिरा गांधी की तारीफ़ में कसीदे पढ़ते रहते थे—

“सारी रौनक ताज़गी बस इंदरा गांधी की है।

देश में रोशनी बस इंदरा गांधी की है।

लैलिये-मुस्तक़बिले-हिंदोस्ताँ उसकी कनीज

गेसूओं की बरहमी बस इंदरा गांधी की है।”⁸⁸

फ़िर बारह जून सन् 75 की सुबह भी आयी जब जस्टिस सिंहा ने अपना ऐतिहासिक फैसला सुनाया— “मैं सिर्फ़ फैसला सुनाऊँगा, और फैसला यह है कि राजनारायण का पीटिशन मान लिया गया है”⁸⁹ यह ख़बर सुनते ही बिल्लो ने उस दिन लांड्री बंद कर दी— “बिल्लो इंद्रा गांधी के मुक़दमा हारने के ग़म में इतना रोई कि उस दिन जनता लांड्री को खोलना भूल गयी। अपने छोटे से इतिहास में जनता लांड्री पहले दिन बंद हुयी थी।”⁹⁰ आशाराम की दोस्त प्रेमा, बाबूराम, मास्टर बदरुल हसन, शहनाज, देश, पहलवान सभी इस फैसले से दुखी हो जाते हैं। बाबू

गौरीशंकर भी चिंतित हैं किंतु उनकी चिंता इस बात की है कि— “यदि श्रीमती गांधी त्याग पत्र दे डालती हैं तो उन्हें किस गुट में जाना चाहिए। उनके भविष्य का सवाल था। उनके लाइसेंसों का सवाल था। उनके मंत्री होने या न होने का सवाल था।...”⁹¹ फिर इंदिरा गांधी ने बदतरीन फैसला लिया और इमर्जेंसी लागू हो गयी। यह स्वातंत्र्योत्तर राजनीति का सबसे काला दिन था। हालाँकि शुरू-शुरू में देश की जनता ने इसे अपने हित में समझा— “शुरू में तो लोग बहुत खुश हुए कि चोर बाजारिये पकड़ के अंदर कर दिये गये। जो चीजें खुले बाजार में नज़र ही न आती थीं, वे तमाम चीजें धड़ल्ले से बिकने लगीं। दुकानों पर दुकानदारों ने रेट-कार्ड लटकाना शुरू कर दिया। रेलें ठीक वक़्त पर चलने लगीं। सरकारी कर्मचारी ठीक समय पर आफ़िस आने लगे। लोगों को कुत्ता छोड़कर आदमी समझने लगे। लोगों ने इत्मीनान का साँस लिया और सोचा कि इमर्जेंसी तो बड़ी अच्छी चीज़ है। चीनी का भाव दो रुपये नीचे आ गया। डालडा का भाव गिर गया। सूजी मिलने लगी। सिनेमा के टिकटों का ब्लैक बंद हो गया।... लगभग सवा दो सौ बरस के बाद जिंदगी पहली बार खुले बाज़ार की सैर करने निकल आयी। पर एक और दृष्टिकोण से देखा जाए तो बड़े शहरों की सड़कें ज़्यादा फ़राख़ दिल हो गयी थीं। जूलूस नहीं निकल रहे थे। नारों का शोर नहीं था। चाकू नहीं चल रहे थे। हड़ताल और घेराव बंद थे। विद्यार्थी बसों फूँकने के जगह स्कूलों और यूनिवर्सिटियों में वापस चले गये थे।.....”⁹²

लेकिन इसके बाद जो कुछ हुआ वह दहशतनाक और दिल दहला देने वाला था। देश नौकरशाही, नेताशाही और स्वार्थी तत्त्वों के चंगुल में फँस कर रह गया। प्रधानमंत्री के निजी इंटेलिजेंस को देश के किसी भी व्यक्ति के निजी जीवन में झाँकने का मौका मिल गया। पूरे देश में आतंक का, दहशत का नया माहौल तैयार हो गया— “यह डर बिल्कुल नया था। अंग्रेजों के ज़माने में भी हजार तरह के डर थे, पर यह नहीं था। एक अनदेखी हथकड़ी वातावरण में झूल रही थी और किसी को पता नहीं था कि वह कब किसके हाथ में पड़ जाएगी।.....”⁹³ हेड कांस्टेबिल जगदंबा प्रसाद और सी. बी. आई. आफ़िसर खुर्शीद आलम खाँ ने आशाराम तथा देशराज को कटरा भीर बुलाकी नामक फ़र्जी केस में फँसा दिया। आशाराम फ़रार

हो जाता है। देशराज को आकाशवाणी पर इमर्जेंसी के पक्ष पर बोलने की आड़ में बुलाकर फ़रार आशाराम का पता पूछा जाता है। देश आशाराम का पता नहीं बतलाता है लेकिन उसे केवल आशाराम का दोस्त होने के नाते गिरफ़्तार कर लिया जाता है। यहाँ आतंक का क्रूर रूप फ़र्ज़ की खाल में सामने आता है। यह इमर्जेंसी की भयावह सच्चाई थी— “फ़र्ज़!

हर ज़माने में सरकारें इस शब्द का मतलब बदलती रहती हैं।.... राजनीतिक मतभेद और मुख़बिरी में कुछ तो फ़र्क होना चाहिए। जो आदमी रिकार्डिंग रूम में बैठा उसका इंतज़ार कर रहा होगा, उससे वह पहली बार मिली है। उसे यह कौन बताए कि रेडियो स्टेशन भी पुलिस स्टेशन हो गया है और उसका बयान लिया जा रहा है।....”⁹⁴ इन्द्रा मोटर के देश को, इन्द्रा और इमर्जेंसी की जय-जयकार करने वाले देश को, सिर्फ़ इसलिए यातना दी गयी कि खुर्शीद आलम खाँ को, अशरफ़ुल्ला खाँ को अपनी पदोन्नति करवानी थी। कांस्टेबिल जगदंबा प्रसाद ने देश को सिर्फ़ इसलिए टार्चर किया क्योंकि देश की बिल्लो की लड़ाई उससे हुई थी। देश को यातना इसलिए दी गयी कि वह अपने दोस्त आशाराम का पता नहीं जानता था। और इन छोटी-छोटी ‘गुस्ताखियों’ की सज़ा कितनी भीषण थी, वह अकल्पनीय है— “जगदंबा प्रसाद ने उसे घसीट कर दूसरी दीवार पर दे मारा। और फिर तीनों सिपाही बड़ी मेहनत से पूछताछ करने लगे, उसे उल्टा दिया गया। उसके पाखाने की जगह में पिसी हुयी लाल मिर्ची भर दी गयी। उसे इलेक्ट्रिक के शॉक दिए गये पर उसे भी ज़िद आ गयी थी कि वह अपने दोस्त का पता नहीं ही बताएगा। वह न जाने कितनी बार बेहोश हुआ और उसे न जाने कितनी बार होश आया। उसने गिनना भी छोड़ दिया था।.... अब उसे यह सोच कर शर्म भी नहीं आती थी कि वह इतने लोगों के सामने नंगा है, क्योंकि बदन तो था ही नहीं। बस एक अथाह, नाक़ाबिले बरदाश्त दर्द था और दहकती हुयी आग सी एक प्यास थी.... सामने किसी ने पानी का गिलास रख दिया। उसने कनखियों से तीनों सिपाहियों की तरफ़ देखा। वह सुस्ता रहे थे। खाँ साहब भी कहीं और देख रहे थे। उसने तय किया कि उछलकर गिलास पर जा पड़े और एक साँस में सारा पानी पी जाए और ठंडे पानी के गिलास को अपने गालों से लगा ले। पर जब उसने गिलास की तरफ़

उछलना चाहा तो पता चला कि वह उछल नहीं सकता। घुटनों के नीचे शायद हड्डियाँ टूट गयी थीं।⁹⁵ इस यातना के बाद किसी की भी चेतना नष्ट हो जाएगी। देश भी मानसिक रूप से विक्षिप्त हो गया। वह बकैयाँ चलने लगा और इंदिरा गांधी की जय बोलने लगा।

इधर आशाराम भी भयानक मानसिक यंत्रणा से गुजर रहा था। हालाँकि वह देश की तरह मजबूत नहीं था। उसने डर के मारे सी. पी. एम. छोड़ दी थी। और कलकत्ता भाग आया था। लेकिन जेल के डर से उसका पीछा नहीं छूटा। वह जानता था— “इमरजेंसी के पहले और इमरजेंसी के बाद के जेल में बड़ा फर्क हो गया था। वह राजनैतिक आदर्शों के नाम पर जेल जाने के लिए अब तैयार नहीं था।⁹⁶ यही कारण है कि अब उसे पकड़े जाने का भय सताने लगा। इमरजेंसी के दौर में ख़ौफ़ का यह रूप पत्रकार, गैर कांग्रेसी नेताओं में आम तौर से छाया रहता था। निर्मल वर्मा ने ‘रात का रिपोर्टर’ एक पत्रकार के भय के विभिन्न पहलुओं को रेखांकित किया है। भय का वही रूप आशाराम को डराता है— “कई दिन परेशान रहा। सोता तो चौंक कर उठ जाता। लगता कि जैसे पुलिस आ गयी है। सोता रहता तो सपना देखता रहता कि वह पकड़ा जा रहा है और पुलिस पूछ-गछ कर रही है। टार्चर कर रही है और वह पहली ही चोट पर चीखकर जग उठता.... और फिर वह सवेरे तक जागता रहता।..... कि वह सोने से डरने लगा और हर आदमी उसे पुलिस का मुख़बिरी दिखायी देने लगा... उसे यकीन हो गया कि उस बेनाह डर के साथ जीना मुश्किल है।⁹⁷ इस डर से बचने के लिए वह बिना टिकट सफ़र करते पकड़ा गया— “सज़ा हो गयी और बहुत दिनों के बाद चैन की गहरी नींद सोया और बहुत दिनों के बाद उसे एक ऐसी रात मिली, जिसके माथे पर उन डरावने सपनों का गुदना नहीं गुदा हुआ था।⁹⁸ लेकिन कुछ ही दिनों के बाद जेल में एक नक्सल कैदी को पुलिस ठोकरें मारती हुयी ले जाती है तो आशाराम का धैर्य छूट गया— “तो एक दिन वह डरा-डरा जेलर के पास गया और यह उगल दिया कि कटरा मीर बुलाकी बम कांड का आशाराम वही है। उत्तर प्रदेश पुलिस उसे तलाश कर रही है और वह किसी मजिस्ट्रेट के सामने अपना बयान देना चाहता है।⁹⁹ पुलिसिया आतंक के सामने देश डरा नहीं, हारा नहीं, झुका नहीं लेकिन

आशाराम डर गया और सरकारी गवाह बनना मंजूर कर लिया। आशाराम का राजनैतिक पतन यहाँ से शुरू हो जाता है। भय का यह रूप केवल आशाराम के ही दिल में न समाया हुआ था, बल्कि देश का प्रत्येक नागरिक भयभीत था। मास्टर बद्रुल हसन नायाब मछली शहरी अखिल भारतीय मुशायरे में जा रहे थे तो ज़बरदस्ती पूरे बस में बैठे लोगों की नसबंदी करा दी गयी। इमरजेंसी की यह एक भयावह सच्चाई थी। आशाराम भी जो कांग्रेस विरोधी और इमरजेंसी विरोधी था, डर कर उसका समर्थक बन जाता है। उधर उसकी प्रेमिका प्रेमा इमरजेंसी के विरोध में बोलने लगती है— “दादा जी मेरे और आशाराम के बीच में विचारों की दीवार खड़ी हो गयी थी। मैं भी यही सोचती थी के कांग्रेस के सिवा किसी के पास हमारे दुखों का इलाज हो ही नहीं सकता। आशाराम कहता था कि कांग्रेस अब है कहाँ ? वह तो सन् सैंतालीस में अंग्रेज़ों से आखिरी शर्मनाक समझौता करके हार गयी थी।.... और अब यकायक उसने अपनी राय बदल दी। वह कहता है इमरजेंसी ठीक है। संजय गांधी अवतार है। हम दोनों के बीच में वह दीवार फिर भी खड़ी है। मैं दीवार के इस पार से उस पार चली गयी और वह दीवार के उस पार से इस पार आ गया है। दीवार अपनी जगह है।”¹⁰⁰ प्रेमा को अपने इस इमरजेंसी विरोध की कीमत चुकानी पड़ती है। पहले तो उसका बलात्कार महनाज़ का पति जोखन भियाँ और उसका ड्राइवर करता है फिर इमरजेंसी विरोध के नाम पर जेल में भी उसका बलात्कार किया जाता है। इधर बिल्लो अपनी जनता लांझी बेच देती है। कटरा मीर बुलाकी में कांग्रेस के एम. पी. गौरीशंकर, संजय गांधी को बुलवा कर जुलूस निकालते हैं। सड़क चौड़ी करने नाम पर ग़रीबों घर खाली करवाया जाता है और उसके बदले में उन्हें झोपड़ियाँ दी जाती हैं। बिल्लो अपना घर अपने जीवन भर के सपने को मरता न देख सकी और घर गिराने आये बुलडोजर के नीचे अपनी बच्ची के साथ दबकर मर जाती है।

इमरजेंसी उठा दी जाती है। इंदिरा गांधी आम चुनाव करवाने का फैसला ले लेती हैं। जनसंघ, सोशलिस्ट, पुराने कांग्रेसी सभी इंदिरा गांधी के विरोध में मिल जाते हैं। बाबू गौरीशंकर जनता पार्टी में टिकट पा जाते हैं और आशाराम कांग्रेस के टिकट पर चुनाव लड़ता है। इसके बाद चुनाव प्रचार जोर पकड़ लेता है। प्रेमा

आशाराम के विरोध में प्रचार करती है— “उसने देश की तस्वीर छापी और लिखा कि यह आदमी कौन है और इस पर क्या गुजरी है। उसने लोगों को बिल्लो की कहानी भी सुनायी। उसने दुनिया की आँखों में आँखें डाल कर बताया कि उस पर क्या—क्या बीती..... हवा का रुख बदलने लगा।”¹⁰¹ बाबूराम आज़ाद भले पक्के कांग्रेसी थे पर अपने पोते की यह हरकत उन्हें बड़ी ओछी लगी— “उन्होंने जनता वालों से कह दिया कि वह पैदाइशी कांग्रेसी है और आखिरी वक्त में क्या खाक मुसलमाँ होंगे। पर वह आशाराम की कन्वेसिंग करने नहीं निकले।”¹⁰² और वोट वो बाबू गौरीशंकर पांडेय को दे आये— “दो निशान थे। एक वोट था। बाबूराम जी उन निशानों के साथ अकेले थे और परछाइयों में घिरे हुए थे।..... उन्होंने बाबू गौरीशंकर पांडेय के निशान पर ठप्पा लगा दिया।”¹⁰³

चुनाव परिणाम बाबू गौरीशंकर के पक्ष में जाता है। इस जीत की खुशी में बाबू गौरीशंकर का भव्य जुलूस निकलता है जिसमें एक ट्रक के नीचे आकर विकलांग देश मारा जाता है। इस तरह देश के छोटे से आर्जुनों तथा बड़ों सपनों का अंत हो जाता है और यहाँ उपन्यास का भी अंत हो जाता है।

यह उपन्यास किसी राजनैतिक प्रतिबद्धता या विचारधारा की घोषणा नहीं करता है। इसकी कहानी थोथी नारेबाज़ी नहीं है। यह मानवाधिकारों के हनन की अपूर्व दास्तान पेश करता है। यही वह तत्त्व है जो साहित्य का मूल आधार होता है— “इस वर्ग को बताइये कि वह जो पानी पी रहा है उसे प्यासे के मुँह से छीना गया है, उसके शरीर पर जो कपड़े हैं वे नगें बच्चों के हिस्से के हैं, उन्हें उस नींद से जगाइए जो खुद उन्हें धोखा दे रही है और ऐसा करते ही आप पाएंगे कि सरकार ने आपको जेल के सीखचों में कैद कर दिया है। इसके विपरीत अगर आप उस भाषा में लिखते हैं या कोई मंचन करते हैं, जिसे किसानों और मज़दूरों के बीच समझा जाता है तो आपको अपनी साहित्यिक चेतना की तलाश करनी होगी, यह देखना होगा कि आप उनके जीवन का सही चित्रण करते हैं या नहीं। आप उनकी ग़रीबी का कारण दैवी इच्छा मानते हैं या उन्हें बताते हैं कि यह मनुष्य द्वारा संचालित है और इसलिए उसके खिलाफ़ संघर्ष किया जाना चाहिए।”¹⁰⁴ यह उपन्यास उत्तर औपनिवेशिक राजनीति को बेपर्द करता है। आम आदमी के दैनिक

सुख-दुख, आशा-आकांक्षा को व्यक्त करता है। यह उपन्यास बहुत बड़े-बड़े दावे नहीं करता है। यह कोई महाकाव्य भी नहीं है। यथार्थ के नाम पर स्थूल-सा चित्रण है। कहीं-कहीं उपन्यास फिल्मी हो जाता है। जिसके चलते उन जगहों पर उपन्यास में हल्कापन आ जाता है। दो-चार अनावश्यक प्रसंग हैं। कथा में कहीं-कहीं बिखराव है। लेकिन क्या इससे उपन्यास का महत्त्व कम हो जाता है?, क्या इसकी वजह से इसे कमतर उपन्यास माना जाए ? क्या उपन्यास को सदैव महाकाव्यात्मक गरिमा लिए हुए होना चाहिए ? ज़ाहिर है कि इन सारे सवालों पर बहस-मुबाहसा हो सकता है। लेकिन उपन्यास को आम आदमी के लिए प्रतिबद्ध तथा मानवीय अधिकारों का पक्षधर होना चाहिए और साथ-ही-साथ अपने ऐतिहासिक सच्चाई को पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित करना चाहिए। इटली के महान चित्रकार हैनरी मैटिसे ने एक बार कहा था कि, “प्रत्येक कला अपने युग की छाप लिए हुए होती है, पर वह कला महान होती है जिस पर यह छाप सबसे ज्यादा स्पष्ट हो।”¹⁰⁵ जयदेव कहते हैं कि उपन्यास अपनी नैतिकता में क्रांति या समानता को ही नहीं प्रस्तुत करता है, बल्कि यह उस राष्ट्र के ख़ाक़े को प्रस्तुत करता है जिसमें लोगों को अधिकार है ग़रीब और मानवीय होने का। ग़रीबी अपने आप में कोई अपमान नहीं है। उनके लिए ग़रीबी में स्वाभिमान, संस्कृति और सौंदर्य हो सकता है। उपन्यास अमीरों से उनकी अमीरी नहीं छीन सकता किंतु यह आग्रह करता है कि इसे राष्ट्र या ग़रीब के बदले प्राप्त नहीं किया जाए।..... यह ख़ाक़ा उत्तर औपनिवेशिक है और कड़ी नैतिक स्थितियों को अंतर्भूत करता है।¹⁰⁶ हालाँकि राही का इस मसले पर दूसरा ही नज़रिया है। वह कहते हैं— “और यहीं से यह बात निकलती है कि साहित्यकार को कमिटेड होना चाहिए या नहीं? और क्या कमिटमेंट साहित्य को प्रोपगंडा बना देता है? मैं इन सवालों के जवाब में नहीं उलझता, क्योंकि मेरे पास अपना एक सवाल मौजूद है। मैं यह पूछता हूँ कि क्या साहित्य ज़िंदगी और हुस्न, जीवन और सौंदर्य के प्रोपगंडे के सिवा कुछ है? यदि है, तो मैं उस साहित्य से परिचित नहीं हूँ।”¹⁰⁷ उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार से यह आशा थी कि उसके रचना-संसार में आम आदमी को जगह मिलेगी। वह उनके सपनों एवं आकांक्षाओं को व्यक्त करेगा। रेणु, यशपाल, नागार्जुन आदि हिंदी के रचनाकारों ने ऐसा किया भी। जनता के ढहते सपनों, सांप्रदायिकता की सच्चाई,

देसी नेतृत्व की संदिग्ध भूमिका तथा दलित तथा स्त्रियों पर हुए अत्याचार को सशक्त ढंग से व्यक्त किया। उन्होंने समाज की कुत्सित, जड़ परंपराओं, अन्याय, अत्याचार तथा अनैतिकता को व्यक्त किया, किंतु अंत में आशा की एक किरण बचाये रखी। लेकिन यह आशा की किरण इमरजेंसी में पूरी तरह से बुझ-सी गयी। यहाँ भारतीय राजनीति की विवेचना करना उद्देश्य नहीं है। भारतीय राजनीति के एक दुखद हिस्से 'इमरजेंसी' के दौरान हुये मानवाधिकारों के उल्लंघन का एक उपन्यास के माध्यम से देखना है। उपन्यास में सीधे तौर पर देश, बिल्लो, शहनाज़, प्रेमा, मास्टर बद्रुल हसन हैं जो इमरजेंसी के भुक्त भोगी हैं। महनाज़, जोखन, गौरीशंकर पांडेय, आशाराम और शम्सु मियाँ आदि मौकापरस्त और स्वार्थी लोग हैं। इन सबके बीच में है— पुलिसिया वर्ग, जो इमरजेंसी के दौरान भयानक रूप से शक्तिशाली हो गया था। इंदिरा गांधी को भय सताने लगा कि अमेरिका उनकी हत्या करवा देगा। इधर जयनारायण ने भी आम जन पर अपना जादू चलाना शुरू कर दिया था। और इसमें घी डालते हुये इलाहाबाद हाइकोर्ट ने इंदिरा गांधी को दोषी मानते हुये उन्हें इस्तीफा दे देने का आदेश दे दिया। इंदिरा गांधी खामोश रहीं। उनके इर्द-गिर्द के चापलूसों, नेताओं और नौकरशाहों ने उन्हें सलाह दी कि वो इस्तीफा न दें। उनके बड़े बेटे संजय गांधी भी उन्हें इस्तीफा न देने की सलाह देते हैं। इंदिरा गांधी मान जाती है। देश में इमरजेंसी की घोषणा कर दी जाती है। संजय गांधी अचानक एक महत्त्वपूर्ण आदमी हो जाते हैं। एक तरफ इमरजेंसी में सब कुछ ठीक होने लगता है ब्लैक मारकेटिये, भ्रष्टाचार, अपराध सब पर शिकंजा कसने लगता है। आम जनता को राहत मिलती है। लेकिन संजय गांधी के क़रीबी चापलूस नेताओं तथा नौकरशाहों ने मौके का फ़ायदा उठाते हुए इमरजेंसी के नाम पर ब्लैक मारकेट, भ्रष्टाचार तथा अपराध की नयी इबारत रचने लगते हैं। जो जनता आज़ादी के बाद से ही कांग्रेस के पक्ष में थी, वह विपक्ष में चली जाती है। फलस्वरूप इमरजेंसी के बाद हुए चुनावों में कांग्रेस की करारी हार हो जाती है।

भले ही इमरजेंसी के अपने फ़ायदे रहे हों, किंतु इमरजेंसी के नाम पर शासक वर्ग द्वारा दिये यातना, अत्याचार ने लोकतंत्र की धज्जियाँ उड़ा दी थीं। आम आदमी को किसी-न-किसी न केस में फँसा कर यातना दी गयी। कभी इसके पीछे आर्थिक कारण विद्यमान थे, तो कभी किसी की अपनी निजी दोस्ती-दुश्मनी थी।

शम्सू मियाँ बाबू गौरीशंकर से इसलिए मिल गये कि उन्हें अपने चश्मे का नंबर बदलवाना था और अपनी बेटियों की शादी करनी थी। बाबू गौरीशंकर हवा का रुख पहचान कर अगला चुनाव जनता पार्टी से लड़ते हैं और जीत भी जाते हैं। इंस्पेक्टर खुर्शीद आलम खाँ, अशरफुल्ला खाँ, हेड कांस्टेबिल जगदंबा प्रसाद आदि के अपने स्वार्थ तथा दुश्मनियाँ थीं। उपन्यास इसे बखूबी व्यक्त करता है। साथ ही भारतीय राजनीति के उस बौद्धिक वर्ग को भी बेनकाब करता है जो केवल अपने भाषणों एवं किताबों में क्रांति का बाजा बजाते फिरते हैं— “यह अंधेरा अजीब—सा था मगर। आमतौर से किसी को दिखायी नहीं दे रहा था। बहुत से बुद्धिजीवी भी इसे नहीं देख पाये। ख्वाज़ा अहमद अब्बास, अली सरदार जाफरी, डांगे, राजेश्वर राव, डाक्टर नुरुल हसन, कृष्ण चंदर, कमलेश्वर, चित्रकार हुसैन,.... हजारों नाम हैं इन लोगों ने अंधेरे को उजाला कहा और उसका स्वागत किया। यह सिर जो अंग्रेजों के सामने न झुके थे, रास्ते भर सज्दा करते हुये नंबर—1, सफदरजंग तक जा पहुँचे और जिन सरों ने झुकने से और जिन ज़बानों ने कसीदा पढ़ने से मना कर दिया था बहुत बुरी गुज़री थी उन पर।”¹⁰⁸ उपन्यास में आशाराम के माध्यम से इस पूरे वर्ग के चरित्र को उकेरा गया है। वही आशाराम जो अपनी डायरी में लिखता है— “देश सिर्फ एक मज़दूर नहीं है। देश मेरा पहला साथी भी है। मेरी ऐनक भी है जिसके लगाकर मैं मज़दूर वर्ग की समस्याओं को समझ चुका हूँ और लाल क्रांति का सपना देख सका हूँ। बिल्लो और देश के घर का सपना केवल देश और बिल्लो का नहीं है। मैं भी वह सपना देखने के लिए जागता रहता हूँ। देश का बाबू जी के साथ हो जाना मेरी बहुत बड़ी हार है। क्या मेरी राजनीतिक समझ और चेतना में कहीं खोट है? यह प्रश्न मैं किससे करूँ ? जो अपनी नादानी से इस प्रश्न का जवाब दे सकता था, वह तो बाबू जी की हाँ में हाँ मिलाने लगा है।”¹⁰⁹ यही आशाराम इमर्जेंसी में इतना डर जाता है कि सरकार के आगे घुटने टेक देता है और समाजवाद की बात काने वाला कांग्रेस से चुनाव लड़ता है। जिस देश और प्रेमा की वह आलोचना करता है वे बिना किसी राजनैतिक सवालों में उलझे हुये भी यह समझते हैं कि किसी के सपनों के टूटने का क्या अर्थ होता है। यही कारण है कि देश भीषण यातना सहने के बावजूद आशाराम का पता नहीं बतलाता है और प्रेमा कांग्रेस की समर्थक होने के बावजूद इमरजेंसी का विरोध करती है और खुद उसका शिकार हो जाती है। गोपाल राय उपन्यास का महत्त्व बतलाते हुए कहते

हैं— “कथ्य की दृष्टि से सीन 75 और कटरा बी आर्जू भिन्न प्रकृति के उपन्यास हैं। इनमें सन् 1975 में इन्दिरा गाँधी द्वारा देश में लायी गयी आपात स्थिति और उसके बाद के राजनीतिक वातावरण तथा जनजीवन पर पड़े उसके प्रभावों का अंकन किया गया है। कटरा बी आर्जू इलाहाबाद में स्थित हिंदुओं और मुसलमानों का एक मिला-जुला मोहल्ला है, जहाँ आर्थिक दृष्टि से विपन्न, निम्नवर्ग के कम पढ़े-लिखे, सीधे-साधे, छल-प्रपंच से रहित, हिंदू-मुसलमान रहते हैं, जो भारतीय जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं। यहाँ के निवासियों की आर्जुएँ और तमन्नाएँ बहुत छोटी-छोटी और मानवीय हैं। यह एक चहकता हुआ मुहल्ला है, जो इमर्जेंसी की उन्नीस महीनों की काली रात के बाद वीरान और रोता हुआ मुहल्ला बन जाता है, जहाँ के लोगों की तमन्नाएँ चूर-चूर हो जाती हैं। इस प्रकार कटरा बी आर्जू पूरे देश का प्रतीक बन गया है, जो आपात काल की घोषणा के कारण एक दुःस्वप्न की स्थिति से गुजरने को बाध्य हो गया था। इमर्जेंसी कटरा बी आर्जू के निवासियों की सहज जिंदगी को झकझोर देती है। उपन्यास के पात्र जिस प्रकार सपने बुनते हैं और जिस भयानक और त्रासद रूप में उनके सपने चूर-चूर होते हैं, उसका अंकन करने में राही अदभुत कलात्मक क्षमता का परिचय देते हैं। देशराज और प्रेमा नारायण को आपातकाल में जिन यातनाओं से गुजरना पड़ता है और बिल्लो जिस शांत भाव से मृत्यु को वरण करती है वह रोमांच और दहशत पैदा कर देने वाला है। आपात काल के बाद जनता पार्टी सत्ता में आती है, पर अस्थायी उल्लास और रोमांच के अतिरिक्त देश की जीवन स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता। कल जो कांग्रेस में था, वह अब जनता पार्टी में है। सत्ताधारी वर्ग सत्ता के संघर्ष में बिखर जाता है और देश के लिए कोई ठोस काम नहीं कर पाता। ‘कटरा बी आर्जू’ यानी देश की जनता बुरी तरह ठगी जाती है। आपात काल पर राही का व्यंग्य भी बहुत तीखा और कलात्मक है। इस प्रकार कटरा बी आर्जू उपन्यास के रूप में एक मार्मिक, व्यंग्यपूर्ण राजनीतिक टिप्पणी बन गया है।”¹¹⁰

इस तरह उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति के सबसे दागदार पहलू को पूरी ईमानदारी और सच्चाई के साथ रखता है। हालाँकि उपन्यास बहुत जल्दी में, इमर्जेंसी के तुरंत बाद, जड़बाती होकर लिखा गया है। फलस्वरूप उपन्यास में इमर्जेंसी को लेकर जो तनाव उपजना चाहिए था वह पूरी तरह न उपजता है। बीच-बीच में पाकिस्तान बनने से पैदा हुआ उनका दर्द, उर्दू-हिंदी विवाद आदि घूम

फिर कर उनके लेखन में बिना किसी प्रसंग के आ जाता है, वह अर्थहीन हो जाता है। दरअसल यह लेखक का बेधता हुआ दर्द है जिसे वह पाठकों से बारंबार बाँटना चाहता है। लेकिन रचनात्मकता लेखक से हमेशा तटस्थता की माँग करती है। कुल मिलाकर अपनी तमाम सीमाओं एवं कमज़ोरियों के बाद भी उपन्यास पूरी शिद्दत के साथ इमरजेंसी में आम आदमी के ऊपर हुये अत्याचारों, बुद्धिजीवियों की चुप्पियों, नौकरशाहों के स्वार्थों तथा नेताओं की तानाशाही को बयान करने की एक सफल कोशिश करता है। यही उपन्यास का महत्त्व है।

राही के अन्य उपन्यास 'सीन 75' और 'हिम्मत जौनपुरी' बंबई के फिल्मी जगत के परिवेश पर आधारित हैं। यह दोनों उपन्यासों उत्तर औपनिवेशिक चेतना को प्रतिबिंबित नहीं करते हैं। असंतोष के दिन उनका अपूर्ण उपन्यास है अतः इस संदर्भ में उसका अध्ययन करना असंगत होगा।

संदर्भ

1. राष्ट्रवाद बनाम देशभक्ति, रवींद्रनाथ ठाकुर और इयत्ता की राजनीति, आशीष नंदी, अनुवाद और नंदी की पेचिदगियों के बारे में, अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, 2005, नई दिल्ली, पृ.10
2. उत्तर भारत में सांप्रदायिकता की निर्मिति, ज्ञानेंद्र पांडेय, ऑक्सफ़ोर्ड प्रकाशन, 2009, नई दिल्ली, पृ. 22
3. भारतीय विभाजन का इतिहासलेखन : साम्राज्यवादी लेखन का एक विश्लेषण, विश्वमोहन पांडेय, अटलांटिक प्रकाशन, 2003, नयी दिल्ली, पृ. 12
4. वही, पृ. 2
5. कोलोनियलिज़्म कल्चर एंड रेजिस्टेन्स, के. एन. पनिककर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 2007, नई दिल्ली, पृ. 252
6. भारतीय विभाजन का इतिहासलेखन : साम्राज्यवादी लेखन का एक विश्लेषण, विश्वमोहन पांडेय, अटलांटिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 7
7. वही, पृ. 4
8. वही, पृ. 8
9. कोलोनियलिज़्म कल्चर एंड रेजिस्टेन्स, के. एन. पनिककर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 2007, नई दिल्ली, पृ. 252
10. इतिहास का सच और सच का इतिहास, संपादन एवं अनुवाद— प्रदीप सक्सेना, उद्भावना प्रकाशन, 2003, नई दिल्ली, पृ. 4
11. वही, पृ. 4
12. वही, पृ. 42—43
13. वही, पृ. 49
14. भारतीय विभाजन का इतिहासलेखन : साम्राज्यवादी लेखन का एक विश्लेषण, विश्वमोहन पांडेय, अटलांटिक प्रकाशन, 2003, नई दिल्ली, पृ. 8
15. उत्तर भारत में सांप्रदायिकता की निर्मिति, ज्ञानेंद्र पाण्डेय, ऑक्सफ़ोर्ड प्रकाशन, 2009, नई दिल्ली, पृ. 96
16. आधुनिक भारत 1885—1947, सुमित सरकार, राजकमल प्रकाशन, 2002, नई दिल्ली, पृ. 38—39
17. आज का भारत, रजनीपाम दत्त, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 2000, पृ. 406
18. गांधी, अंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ, जगदीश्वर चतुर्वेदी, साम्य, पृ. 45

19. भारत विभाजन की अंतःकथा, प्रियंवद, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009, नई दिल्ली, पृ. 149—150
20. उत्तर भारत में सांप्रदायिकता की निर्मिति, ज्ञानेंद्र पांडेय, ऑक्सफोर्ड प्रकाशन, 2009, नई दिल्ली, पृ. 96
21. वही, पृ. 32
22. वही, पृ. 28
23. भारत में जनगणना और सांप्रदायिकता की निर्मिति, आर. बी. भगत,, www.sacw.net/2002/censusandcommunalism.html, पृ. 16
24. वही, पृ. 16
25. आज का भारत, रजनीपाम दत्त, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 2000, दिल्ली, पृ. 405
26. वही, पृ. 404
27. भारतीय विभाजन का इतिहासलेखन : साम्राज्यवादी लेखन का एक विश्लेषण, विश्वमोहन पांडेय, अटलांटिक प्रकाशन, 2003, नई दिल्ली, पृ. 10
28. भारत विभाजन की अंतःकथा, प्रियंवद, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009, नई दिल्ली, पृ. 25
29. भारतीय मुसलमान : हिंदी उपन्यास के आईने में, नामदेव, अनामिका प्रकाशन, 2009, नई दिल्ली, पृ. 62
30. वही, पृ. 75
31. उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डि.फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत, इलाहाबाद प्रकाशन, पृ. 237
32. वही, पृ. 237
33. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, 2004, पृ. 72
34. वही, पृ. 73
35. वही, पृ. 53
36. वही, पृ. 162—63
37. वही, पृ. 251
38. वही, पृ. 261—262
39. भारतीय मुसलमान : हिंदी उपन्यास के आईने में, नामदेव, अनामिका प्रकाशन, 2009, नई दिल्ली, पृ. 62
40. भारतीय मुसलमान : हिंदी उपन्यास के आईने में, नामदेव, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 67—68
41. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, 2004, नई दिल्ली, पृ. 286

42. वही, पृ. 288
43. वही, पृ. 286
44. आधुनिक भारत 1885–1947, सुमित सरकार, राजकमल प्रकाशन, 2002, नई दिल्ली, पृ. 38
45. उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डि.फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध, इलाहाबाद प्रकाशन, पृ. 237
46. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, 2004, नई दिल्ली, पृ. 75–76
47. भारत विभाजन की अंतःकथा, प्रियंवद, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009, नई दिल्ली, पृ. 40–41
48. भारतीय मुसलमान: हिंदी उपन्यास के आईने में, नामदेव, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 91
49. वही, पृ. 79
50. भारत विभाजन की अंतःकथा, प्रियंवद, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009, नई दिल्ली, पृ. 24–25
51. टोपी शुक्ला, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, 2007, नई दिल्ली, पृ. 33–34
52. वही, पृ. 43
53. वही, पृ. 38
54. भारतीय मुसलमान : हिंदी उपन्यास के आईने में, नामदेव, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 75–76
55. टोपी शुक्ला, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, 2007, नई दिल्ली, पृ. 58
56. भारतीय मुसलमान : हिंदी उपन्यास के आईने में, नामदेव, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 75–76
57. आधा गाँव, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, 2004, नई दिल्ली, पृ. 288
58. टोपी शुक्ला, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, 2007, नई दिल्ली, पृ. 14–15
59. वही, पृ. 17
60. वही, पृ. 18
61. वही, पृ. 27
62. वही, पृ. 25
63. वही, पृ. 25
64. भारतीय मुसलमान : हिंदी उपन्यास के आईने में, नामदेव, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 92

65. ओस की बूँद, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, 2004, नई दिल्ली, पृ. 15
66. वही, पृ. 11
67. भारतीय मुसलमान : हिंदी उपन्यास के आईने में, नामदेव, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 98
68. वही, पृ. 98-99
69. वही, पृ. 102-103
70. हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, 2005, नई दिल्ली, पृ. 294
71. वही, पृ. 293-294
72. कटरा बी आर्जू, राही मासूम रज़ा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1988, नई दिल्ली, पृ. 12
73. वही, पृ. 16
74. वही, पृ. 14-15
75. वही, पृ. 15
76. वही, पृ. 16
77. वही, पृ. 16
78. वही, पृ. 19
79. वही, पृ. 19
80. वही, पृ. 28
81. वही, पृ. 28
82. वही, पृ. 29
83. वही, पृ. 29
84. वही, पृ. 42
85. वही, पृ. 68
86. वही, पृ. 90
87. वही, पृ. 105
88. वही, पृ. 113
89. वही, पृ. 123-124
90. वही, पृ. 132
91. वही, पृ. 138

92. वही, पृ. 154
93. वही, पृ. 164
94. वही, पृ. 182
95. वही, पृ. 190
96. वही, पृ. 195
97. वही, पृ. 195
98. वही, पृ. 195
99. वही, पृ. 196
100. वही, पृ. 204—205
101. वही, पृ. 240
102. वही, पृ. 240
103. वही, पृ. 242
104. औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, नगुगी वा थ्योगो, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 1999, नई दिल्ली, पृ. 97
105. साहित्य और इतिहास, टेरी ईगल्टन, रचना समय, संपा. हरि भटनागर, 2007, भोपाल, पृ. 17
106. न आनेवाला पोस्ट—कोलोनियलिज़्म, जयदेव, इंटेरोगेटिंग पोस्ट—कालोनियलिज़्म थ्योरी, टेक्सट एंड कांटेक्सट, सं. हरीश त्रिवेदी और मीनाक्षी मुखर्जी, आईआईएस, शिमला, पृ. 179
107. लगता है बेकार गये हम, राही मासूम रज़ा, संपादन एवं संकलन—कुवैरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, 1999, नई दिल्ली, पृ. 77
108. कटरा बी आर्जू, राही मासूम रज़ा., राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 153
109. वही, पृ. 107
110. हिंदी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, 2005, नई दिल्ली, पृ. 294

अध्याय पाँच

राही मासूम रज़ा के लेखों एवं
कविताओं में उत्तर औपनिवेशिक
यथार्थ

राही मासूम रज़ा के लेखों एवं कविताओं में उत्तर

औपनिवेशिक यथार्थ

उत्तर औपनिवेशिक समाज का लेखक अपने अतीत की, अपनी स्मृति और सभ्यता की खोज बड़ी शिद्धत से करता है। औपनिवेशिक नीतियों के कारण वह अपनी खोई हुयी अस्मिता और नष्ट होती हुई चेतना की तलाश करता है। उपनिवेशवादी सिद्धांत केवल राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से ही गुलाम नहीं बनाता, बल्कि सांस्कृतिक और वैचारिक रूप से भी, वह औपनिवेशिक मानस को कब्जे में ले लेता है। जब भी कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी देश को अपना उपनिवेश बनाता है, तो न केवल उस पर वह शासन करता है, अपितु अपनी मानसिकता, विचार और ज्ञान—विज्ञान सब कुछ को उन पर लाद देता है। वह अपने ढंग से एक उपनिवेशी इतिहास का निर्माण करता है। फिर उस इतिहास को अपने नज़रिये से देखते हुए सही ठहराता है और उसे अधीनस्थ देश के ऊपर थोप देता है। इससे वह उपनिवेश अपनी राजनीतिक मुक्ति के बाद भी वैचारिक मुक्ति पाने में असमर्थ हो जाता है। यह वैचारिक गुलामी है, जो इतिहास से लेकर दर्शन और अन्य स्रोतों से होते हुए साहित्य को भी अपनी जकड़ में ले लेती है। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श इसी वैचारिक दासता से मुक्ति के लिए उपनिवेशित देशों की राजनीति से मुक्त हुई चेतना को संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। यह विमर्श उन्हें इस बात का अहसास कराता है कि जो तुम समझते हो, सच्चाई वह नहीं है। यह सब दूसरे का है। इससे बाहर निकल कर सोचो और समझो। साहित्य में इस को सबसे पहले एक व्यवस्थित चिंतन के तौर पर 'एडवर्ड सैड' ने उठाया। उन्होंने मध्य-पूर्व के साहित्य एवं समाज के उपनिवेशकालीन इतिहास को ग़लत ठहराते हुए इसे बदलने और सही तस्वीर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

वस्तुतः यूरोपीय साम्राज्य ने उपनिवेशित देशों की संस्कृतियों का अवमूल्यन तथा उनकी अभिव्यक्तियों को ख़ामोश करके अपना औपनिवेशिक ढाँचा खड़ा किया था। अतः यूरोपीय साम्राज्य के पतन के बाद भी औपनिवेशिक दासता के अंश बचे रहे। इस औपनिवेशिक प्रदत्त गुलामी को वहन करने का भार आज़ाद राष्ट्रों के देसी नेतृत्व तथा दलों ने किया। उपनिवेशों के स्वतंत्र होने के बाद साम्राज्यवादी ताकतों

के विरुद्ध जो प्रतिरोध व्यवस्थित और संगठित रूप में सामने आना चाहिए था, इस देसी नेतृत्व तथा दलों के कारण उसके प्रतिरोध में कमी आती गयी। वस्तुतः देसी नेतृत्व ने औपनिवेशिक राज्य की प्रणाली को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था। अपनी संस्कृति के विकास और जनता की भलाई के लिए जो-जो परिवर्तन करने चाहिए थे, नहीं किये। अतः पुरानी साम्राज्यवादी नीतियों के कारण अपनी संस्कृति और अपने इतिहास के बारे में उनकी व्याख्याएँ शासक देश के वर्चस्व से ही व्याख्यायित होती रहीं।

वस्तुतः सदी बीत जाने पर भी मध्य-पूर्व और तीसरी दुनिया के देश राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक अस्मिता की मौलिक समस्याओं से ग्रस्त रहे। उपनिवेशवादी दौर के पतन के बाद ये देश अपनी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक अस्मिता को बनाये रखने और स्व-अभिव्यक्ति में असमर्थ रहे। यह बाहरी और भीतरी दोनों स्तरों पर हुआ। किसी देश के स्वतंत्र होने का मतलब यह नहीं कि वहाँ सामाजिक विभाजन और आंतरिक कलहों का अंत हो गया। सीमाओं का खाका यूरोपीय शक्तियों ने ही खींचा था। इसलिए औपनिवेशिक शासन के दौरान राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक अस्मिता की खोज तथा उसके विकास को लेकर एक दुविधा की स्थिति बनी रही। अधिकांशतः उपनिवेशित देश के लेखक अपनी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक अस्मिता को पुराने देश (Colonizer) से जोड़ देते हैं। इससे होता यह है कि उपनिवेशित देश का ज्ञानात्मक उत्पादन प्रायः उपनिवेशकर्ता के हितों में ही वृद्धि करता है। वह उपनिवेशी ताकतों द्वारा रचित साहित्य का ही अनुगामी होता है। न्यूगी का मानना है कि आर्थिक एवं राजनीतिक नियंत्रण को कायम करने में औपनिवेशिक शासन सांस्कृतिक एवं साहित्यिक वर्चस्व की सहायता लेता था— “आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण के इस सारे काम को सांस्कृतिक तत्वों से सहूलियत मिलती है। चाहे जो भी हो, आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण से अनिवार्य रूप से सांस्कृतिक प्रभुत्व कायम होता है, जो बदले में नियंत्रण को और मजबूती देता है। शिक्षा, भाषा, साहित्य, धर्म, मीडिया की समूची प्रणाली के प्रबंधन और इसके साथ किए जाने वाले जोड़-तोड़ के ज़रिए उत्पीड़क राष्ट्र ने हमेशा एक निश्चित विचारधारा, मूल्य प्रणाली, दृष्टिकोण, भावनाओं आदि के प्रसार पर नियंत्रण रखा है और इस प्रकार चेतना के सभी क्षेत्रों पर उसका नियंत्रण सुनिश्चित हो जाता है। इससे लाभ यह मिलता है कि वह उन देशों के व्यक्तियों, समूहों और वर्गों पर नियंत्रण तो स्थापित करता ही है, उत्पीड़ित देश में अपनी छवि निखारने में भी इनका सहयोग प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक क्षेत्र पर नियंत्रण स्थापित करके उत्पीड़क राष्ट्र और वर्ग एक ऐसी सुनिश्चित करने में लगे रहते हैं, जिसमें गुलाम लोग यह मान बैठें कि गुलाम होना एक मानवीय अवस्था है। अगर शोषित और उत्पीड़ित लोग विश्व में अपनी अवस्थिति को उसी तरह देख सकें, जिस तरह साम्राज्यवादी देश का पूंजीपति वर्ग देखता है, तब वे खुद ही अपने संचालक हो जाएंगे और तब वे अपनी खुद की स्थिति और उत्पीड़क राष्ट्रों और वर्गों की स्थिति के बीच कोई उल्लेखनीय अंतर्विरोध नहीं देख सकेंगे।¹ देशी संस्कृतियों का रूपांतरण उपनिवेशवाद का मुख्य औजार रहा था और यह रूपांतरण विशेषकर अप्रत्यक्ष रूप से होता था। इसके लिए बल-प्रयोग नहीं होता था। पनिकर इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, “पूरे विश्व में देशी संस्कृतियों का रूपांतरण औपनिवेशिक प्रभुत्व की कार्यसूची का एक मुख्य विषय रहा है। इसका प्रयास उपनिवेशीकृत समाजों की सहमति सुनिश्चित करना था और यह चीज़ सैनिक सफलता तथा प्रादेशिक विजय के सहारे प्रयोग किए जाने वाले नियंत्रण से भिन्न थी। इसके लिए औपनिवेशिक राज्य तथा उसके अभिकरणों ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रकार के प्रभावों का उपयोग करते हुए एक ऐसे सांस्कृतिक आदर्श का संप्रेषण और पुनरचना की, जो इतना आकर्षक और सशक्त था कि औपनिवेशिक बुद्धिजीवी वर्ग उसे आत्मसात करके अपनी ओर से उसका प्रचार भी करने लगा। लैटिन अमरीका में जिसे सांस्कृतिक परिस्थिति को स्पेनवासियों ने, दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में डचों और पुर्तगालियों ने और अफ्रीका तथा एशिया में फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने दाखिल किया, वह जिस हद तक राज्य के विचारधारात्मक उपादानों का परिणाम थी, उसी हद तक औपनिवेशिक वर्चस्व की स्थापना की प्रक्रिया में औपनिवेशिक देशों के बुद्धिजीवी वर्ग की शिरकत और सहयोग का भी नतीजा थी। इस प्रकार संस्कृति और राजनीति का एकीकरण कर दिया गया, भले ही उपनिवेशीकृत समाज को दोनों के संयोजन का बोध या अनुभव नहीं हुआ हो।”² न्यूगी भी इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि उपनिवेशवादी सिद्धांत के तहत संस्कृति पर चोट करना अनिवार्य नीति है— “अपने औपनिवेशिक रूप में साम्राज्यवादी सांस्कृतिक परंपरा का मकसद बहुत साफ़ था— वह चाहता था कि अपने प्रति लोगों का विश्वास कमजोर पड़े और वे खुद का तथा खुद की क्षमताओं

का आकलन करने के लिए यूरोपीय संस्कृति, भाषा तथा कला की ओर निहारते रहें। अपने समूचे सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश पर नियंत्रण के लिए सफलतापूर्वक संघर्ष करने की अपनी क्षमता में उनका जो विश्वास है, वह कमज़ोर पड़ता जाए।”³ सांस्कृतिक प्रभुत्व का मक़सद अपनी तमाम कार्यवाइयों को सवालों से परे ले जाकर उन्हें वैधता प्रदान करना था। वह सांस्कृतिक प्रभुत्व के जरिये औपनिवेशिक शासन अपने आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण को जायज़ ठहराता है— “..... उपनिवेशवाद ने महसूस किया कि जब तक सांस्कृतिक नियंत्रण यानि वैचारिक नियंत्रण न किया जाए, आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण अधूरा रहता है। इसलिए वह एक ऐसी शिक्षा प्रणाली थोपता है जो संपत्ति के बारे में उपनिवेश की जनता को वास्तविक ज्ञान देने से इंकार तो करती ही है, साथ ही जनता के अंदर गुलाम चेतना का यह पाठ भी पढ़ाया जाता है कि उनका कोई इतिहास नहीं है। मतलब यह कि उन्होंने कभी भी प्रकृति के खिलाफ़ न कोई संघर्ष किया और न उसे बदला। उन्हें यह बताया जाता है कि उनके इतिहास की शुरुआत ईसाई सभ्यता का ध्वज लहराते हुए गोरों के आगमन से होती है। किसी क्षेत्र की जनता का उसका खुद का इतिहास होता है, इस बात को नकारने का एक ही उद्देश्य होता है: यह दिखाना कि उपनिवेशों के लोगों ने जानवरों की तरह खुद को बस प्रकृति की गोद में डाल दिया और अपने प्राकृतिक परिवेश पर मानव समुदाय की छाप छोड़ने का कोई प्रयास नहीं किया। इसलिए वे लोग सचमुच जंगली थे।”⁴

भारतीय औपनिवेशिक समाज के संबंध में भी यही हुआ। के. एन. पनिककर कहते हैं कि “अंग्रेज़ों द्वारा भारत में अपनाई गयी प्रत्येक नीति में विचारधारा का प्रचार सहज समाहित था, लेकिन जिन सिद्धांतों पर राज्य की संस्थाएँ संगठित की गयी, उनमें औपनिवेशिक प्रभुत्व के यथार्थ को धूमिल बन देने की प्रवृत्ति थी। अपना सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए औपनिवेशिक राज्य तथा उसके सिद्धांतकारों ने उपनिवेशी समाजों के संदर्भ में अनेक मिथकों की सृष्टि और प्रचार करने का प्रयत्न किया, कालांतर में स्वयं उपनिवेशीकृत समाजों ने उनमें विश्वास करना आरंभ कर दिया। इसके अतिरिक्त, अंग्रेज़ों ने भारत में जिन संस्थाओं की सृष्टि की, उनका स्वरूप ऐसा था, जिससे उनके राज्य को कुछ विचारधारात्मक

आयाम प्राप्त हो गए।⁵ पनिक्कर यह भी मानते हैं कि औपनिवेशिक शासन ने न केवल भाषा, अपितु धर्म को भी अपनी चपेट में ले लिया— “औपनिवेशिक प्रभुत्व को, जो अनिवार्यतः उपनिवेशीकृत समाज के सांस्कृतिक अस्तित्व पर प्रहार करता था, एक संपूर्ण जीवन-पद्धति के रूप में देखा गया है, जिसमें भाषा, धर्म, कलाओं, दर्शन आदि जैसे सभी ‘प्रतीकात्मक तत्त्वों’ का समावेश है। जिन दो महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में सांस्कृतिक सजगता को स्वर मिला, वे थे भाषा और धर्म।”⁶

पनिक्कर जब औपनिवेशिक शासन में सांस्कृतिक वर्चस्व की बात करते हैं तो वह न्गूगी से थोड़ा भिन्न होते हैं। उनका मानना है कि औपनिवेशिक शासन ने भारत में अफ्रीका या लैटिन अमेरिकी देशों की तरह संस्कृति को नष्ट नहीं किया। उनका कहना है कि “.....जब साम्राज्य की नींव पड़ गयी तब जोर देशी सांस्कृतिक विरासत के स्वायत्तीकरण की अपेक्षा उसके अतिक्रमण पर, अर्थात् उसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनुकूल रूप में प्रस्तुत करने पर दिया जाने लगा। उपनिवेशवाद ने अफ्रीकी या लैटिन अमेरिकी देशों की तरह भारत की देशी संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया; बल्कि उसने जो किया वह यह कि सांस्कृतिकरण की नियंत्रित और निर्देशित प्रक्रिया के द्वारा अपने वर्चस्व की स्थापना करने का प्रयास किया। ‘देसी लोगों’ के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक संसार को पुनर्विन्यस्त करने के लिए सक्रिय हस्तक्षेप के द्वारा राज्य के विचारधारात्मक उपकरणों ने इसमें एक निर्णायक भूमिका निभाई।”⁷ इस सांस्कृतिक वर्चस्व के फलस्वरूप देश के आज़ाद होने के बाद भी हम उसी औपनिवेशिक दृष्टि से सब देखते रहे। आज़ादी के बाद का देसी नेतृत्व वर्ग औपनिवेशिक हितों को ही साधने वाला और साम्राज्यवादी देशों द्वारा पोषित निकला। देश एक नव-उपनिवेशवाद में फँस गया। न्गूगी कहते हैं— “उपनिवेशवादियों के प्रभाव से पूरी तरह ओत-प्रोत निम्न पूँजीपतियों का यह एक ऐसा वर्ग था जिसे आज़ादी के समय नया झंडा फहराने के साथ, विरासत में उपनिवेशवादियों की प्रबंध-व्यवस्था भी मिल गयी। आज़ादी के साथ ही इसे एक सुसंगठित औपनिवेशिक सेना, पुलिस, प्रशासनिक प्रणाली और कर्मचारी, न्यायपालिका और बेशक जेलों की वह समग्र प्रणाली भी मिली जिसे उपनिवेशवाद ने विकसित और परिष्कृत किया। अब इनका उद्देश्य एक नये कवच के अंदर यानि नवउपनिवेशवाद के खोल में औपनिवेशिक व्यवस्था को जारी रखना हो गया। वे

इतने समर्थ कि पूरी निष्ठा के साथ अपने उद्देश्यों को पूरा कर सकें, क्योंकि उन्हें वही दृष्टि विरासत में मिली थी जो साम्राज्यवादी देशों के पूँजीपति वर्ग के पास थी।....नवउपनिवेशवाद के अंतर्गत साम्राज्यवाद का सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक पहलू मानसिक और आध्यात्मिक ज़ोर-ज़बरदस्ती के उपकरण के रूप में ओर भी ज़्यादा महत्वपूर्ण हो गया।⁸ फ्रांज़ फैनन ने भी इन्हें राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की संज्ञा दी थी— “आज़ादी से पूर्व इन देशों के नेता आम तौर से स्वतंत्रता, राजनीतिक मुक्ति और राष्ट्रीय सम्मान की जनआकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते थे। लेकिन जैसे ही आज़ादी की घोषणा हुई, इन नेताओं ने रोटी, ज़मीन और देश की बागडोर जनता के पवित्र हाथों में थमाने की ज़रूरतों को ठोस रूप देने के बजाए अपने निहित उद्देश्यों को पूरा करना ज़रूरी समझा। वे ऐसे मुनाफ़ाख़ोरों के समूह के नेता बन गये जो अपनी पूँजी का प्रतिफल लेने के लिए बेताब थे और जिन्हें राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग का दर्जा हासिल हो गया था।”⁹ नव-उपनिवेशवाद में शासक बदल गये, उपकरण बदल गये किंतु उद्देश्य वही साम्राज्यवादी ही रहा— आर्थिक लूट-खसोट और सांस्कृतिक वर्चस्व की स्थापना करना— “दूसरी स्थिति वह जिसे हम नव-औपनिवेशिक स्थिति कहते हैं। जो देश नव-उपनिवेशवाद के चंगुल में पड़े हैं, वे कहने के लिए आज़ाद होते हैं और उनके यहाँ एक दलाल सत्ता होती है जो निरंतर पश्चिमी देशों की ओर से देश की अर्थव्यवस्था, राजनीति और संस्कृति का संचालन करती है। इस तरह की नवऔपनिवेशिक सत्ता निरपवाद रूप से पश्चिमी देशों के सैनिक अधिकारियों, उनके सैनिक ठिकानों और सुविधाओं को अपने यहाँ स्थान देती है। इन देशों में जनतंत्र और सामाजिक परिवर्तन के संघर्ष का नेतृत्व करने वाले जन-आधारित आंदोलनों का भी अस्तित्व रहता है।”¹⁰ आज इस नव-औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का वाहक अमेरिका है। न्यूगी का कहना है— “आज अमेरिका और पश्चिम के देश आमतौर पर उन सभी ख़बरों को नियंत्रित करते हैं जो तीसरी दुनिया के देशों तक पहुँचती है अथवा इन देशों से बाहर जाती हैं। इन्हें ही यह तय करना होता है कि मीडिया में ये देश अपने को किस तरह देखेंगे।.... नियंत्रण का यही तरीका सिनेमा, टेलीविज़न, वीडियो और रेडियो पर भी लागू होता है। तीसरी दुनिया के देशों में सिनेमा और टेलीविज़न के पर्दों पर दिखाई जाने वाली अधिकांश तस्वीरें वस्तुतः अमेरिका में निर्मित की जाती है।....

तीसरी दुनिया के अधिकांश बुद्धिजीवियों के निर्माण प्रशिक्षण और यहाँ तक कि उन्हें कौन-सी नौकरी कहाँ दी जाए, इस बात को भी अमेरीका और पश्चिमी देश नियंत्रित करते हैं। इनमें से ढेर सारे बुद्धिजीवी इस तरह का प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके होते हैं कि वे अमेरीकी साम्राज्यवाद की ज़रूरतों के अनुरूप दुनिया की तस्वीर पेश कर सकें।... अगर संक्षेप में कहें तो अमेरीका और पश्चिमी देश विचारों के निर्माण और प्रसार को इस हद तक नियंत्रित करते हैं जिससे हम संस्कृति के प्रतिमानों की रचना करने लगते हैं और जीवन और सामाजिक संघर्षों के बारे में हमारा एक ख़ास नज़रिया बनने लगता है।”¹¹

इस नव-औपनिवेशिक गुलामी के चंगुल से निकलने का एक मात्र रास्ता एक विश्वव्यापी संस्कृति का निर्माण करना है। न्यूगी का कहना है कि, “साम्राज्यवाद के इन नव-औपनिवेशिक रूप के खिलाफ़ तीसरी दुनिया के देशों का संघर्ष और भी मज़बूत होगा बशर्ते इसे एक नये विश्व के लिए चलने वाले अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष के साथ समग्र रूप से जोड़ दिया जाए।...

तीसरी दुनिया के लोगों के हित में ये है कि वे अमेरीका, जापान और पश्चिमी यूरोप में चल रहे जनतांत्रिक संघर्षों को अपना समर्थन दें। नस्लवाद विरोधी समूहों के संघर्ष, समानता के लिए संघर्षरत महिलाओं के आंदोलन, मजदूरों के संघर्ष, शांति बनाए रखने के आंदोलन, इन सबको समर्थन देकर ही तीसरी दुनिया के लोग अपना हित पूरा कर सकते हैं। इसी के साथ पश्चिमी देशों के इन जनतांत्रिक आंदोलनों को भी यह देखना होगा कि जिन मूल्यों के लिए वे संघर्ष कर रहे हैं, उनका संबंध तीसरी दुनिया के देशों में मुक्ति के लिए चलने वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक संघर्षों की सफलता अथवा विफलता के साथ किस हद तक घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है।”¹² उत्तर औपनिवेशिक चिंतन में एक मानवीय संस्कृति, सार्वभौमिकता, राष्ट्रवाद और देशभक्ति आदि का पक्षधर होना, एक औपनिवेशिक सोच से ग्रसित होना है। उत्तर औपनिवेशिक चिंतक यह मानता है कि इन्हीं तत्त्वों के आधार पर साम्राज्यवाद की नींव पड़ती है। साम्राज्यवाद ने इन्हीं तत्त्वों का सहारा लेकर अपनी क्रूरतम कार्रवाईयों को वैध ठहराया था और पूरी दुनिया की नज़रों में मानवतावादी बने रहे।

लीला गाँधी अपनी पुस्तक 'उत्तर औपनिवेशिक सिद्धांत एक आलोचनात्मक परिचय' में लिखती हैं कि, "मानवतावाद एक बेहद विवादास्पद शब्द है। उदाहरण के लिए बर्नार और मोहान ने जैसा दर्शाया है कि "ईसाईयत, ईसाईयत की आलोचना, विज्ञान, विज्ञान-विरोधी, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, राष्ट्रीय समाजवाद और स्टालिनवाद सभी ने एक समय पर मानवतावाद का खिताब हासिल किया था। जो भी हो, ये विभिन्न मानवतावाद अपने विश्वास में एकताबद्ध थे कि मानव अनुभव में अंतर्निहित विभिन्नता से यह संभव है कि पहला, एक सार्वभौमिक और प्राप्त मानव स्वभाव की पहचान करना और दूसरा, इसको तार्किकता के एक सामान्य भाषा में प्रकट करना।

इस विश्वास की रक्षा में मानवतावादी सिद्धांतों के मार्क्सवादी व्याख्याताओं जैसे नोम चोम्स्की, फ्रेडरिक जेम्सन और जर्गन हाबरमास आदि तर्क देते हैं कि मानवतावाद एक मानवीय, प्रगतिशील और सिर्फ सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा के संबंध में जिम्मेदार व्यक्तियों के बीच एक तार्किक और सार्वभौमिक आम सहमति की संभावना की माँग करता है। इसके विपरीत, उत्तर संरचनावादी तथा उत्तर आधुनिकतावादी मानवतावाद विरोधियों का कहना है कि एक तर्कसंगत सर्वसम्मति का कोई सार्वभौमिक या प्रामाणिक अभिधारणा, अधिनायकवादी है जो 'अन्यता' और विभिन्नता की चुनौतियों का शत्रु है।

इन आलोचकों के लिए, तार्किकता तथा मानव स्वभाव के ये विचार ऐतिहासिक निर्मिति हैं और फलस्वरूप ऐतिहासिक निवेश और सीमाओं के अधीन हैं। यह दृष्टिकोण सांस्कृतिक विविधता के साथ उत्तर औपनिवेशिक चिंता के लिए स्वतः स्पष्ट आकर्षण है। ठीक इसी समय उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन के लिए कुछ पीड़ाजनक रहा, जब मार्क्सवादी मानवतावादियों तथा उत्तर संरचनावादी मानवतावादी विरोधियों के बीच का विवाद नैतिकता तथा राजनीति के मुद्दे पर अनसुलझा रह गया। राजनीतिक धुव्रीकरण और नैतिक सिद्धांतों, जैसा कि मार्क्सवादी आलोचकों ने बलपूर्वक आग्रह किया है कि विचारों में कुछ प्रकार के सांस्कृतिक आदान-प्रदान की अत्यंत आवश्यकता होती है।¹³

लेकिन यहाँ एक सवाल उठ खड़ा होता है कि संकट की घड़ी में यदि सभी अस्मिताएँ राष्ट्रवाद और देशभक्ति के ज़ब्जे के तहत एक साथ न आयी तो सभी अस्मिताएँ नष्ट हो जाएंगी। और साम्राज्यवाद से संघर्ष करने के लिए सभी को एकजुट होना पड़ेगा। नुगी इसका उत्तर मार्क्सवाद के आईने में देते हैं और एक विश्वव्यापी संस्कृति के निर्माण की बात करते हैं— “तीसरी दुनिया के लोगों द्वारा किया जा रहा प्रतिरोध एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है और संघर्ष साम्राज्यवाद के खिलाफ ही छेड़ा गया संघर्ष है भले ही इसका रूप औपनिवेशिक, नवऔपनिवेशिक अथावा अमरीका समर्थित शासन का क्यों न हों। इस प्रतिरोध को सफल बनाने के लिए हमें हर स्तर पर लड़ाई लड़नी पड़ेगी— आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक। हम धरती के हर व्यक्ति को मानवीय गरिमा दिलाने के अधिकार से कम की मांग नहीं करते। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर गुलामी के ढाँचे से मुक्ति संस्कृति ही सर्वोत्तम मानदंड है जिस पर हम मानवता की परख कर सकते हैं।

....साम्राज्यवाद अपने आप में संपूर्ण है और इसके खिलाफ चलने वाले संघर्ष को भी पूर्ण होना चाहिए जो आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक हर क्षेत्र पर एक के बाद एक प्रहार करे और जन आधारित अर्थतंत्र, राजनीति और संस्कृति की रचना करे।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति के सकारात्मक तत्त्वों को मिलाकर ही मानवीय मूल्यों और विरासत का एक ऐसा आधार तैयार हो सकता है, जो विश्व स्तर पर अपना प्रभाव छोड़ सके। नवउपनिवेशवाद और प्रभुत्व, निर्भरता और परोपजीविता (एक्रूमा के अनुसार साम्राज्यवाद की अंतिम अवस्था) के सभी अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय ढाँचों के ढहने के बाद ही एक नये विश्व का जन्म होगा और तभी सही अर्थों में विश्वव्यापी मानवीय संस्कृति की शुरुआत होगी।”¹⁴

उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार इसी मानवीय संस्कृति का पक्षधर होता है। वह सभी अस्मिताओं को साथ लेकर चलने की हिमायत करता है किंतु इस बात का ध्यान भी रखता है कि किसी का वर्चस्व स्थापित न होने पाये। यह हाशियाकरण का विरोधी होता है। यह प्रतिमानीकरण का विरोधी होता है। उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार बहुलतावादी संस्कृति का पक्षधर होता है।

राही मासूम रज़ा अपने लेखों में इसी मानवीय संस्कृति के पक्ष में खड़े दिखायी देते हैं। उनका समूचा चिंतन सामासिक संस्कृति, मानवीय संस्कृति को स्थापित करता है। वह अपने लेखों में मानवीय संस्कृति के विरोधियों (चाहे वह यूरोपीय अधिनायकवाद हो या अमेरिकी चौधराहट) सभी का विरोध करते हैं। उनके लेखों में उनका यह आग्रह स्पष्ट झलकता है।

‘लगता है बेकार गये हम’ उनके राजनीतिक और व्यंग्य-लेखों का संग्रह है। इसके पहले ही लेख ‘राजनीति पर मनोरंजन कर लगना चाहिए’ में वह इस औपनिवेशिक संवैधानिक प्रक्रिया का विरोध दर्ज करते हैं, जिसमें ब्रिटिश शासन की तर्ज पर राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण अंग नहीं माना जाता हैं— “ब्रिटिश ताज और हमारे राष्ट्रपति में फर्क है। ब्रिटिश राजा या रानी का चुनाव नहीं होता है। राष्ट्रपति चुना जात है और यह कहना ग़लत है कि वह चुने हुए प्रधानमंत्री से बड़ा कैसे हो सकता है ? प्रधानमंत्री संसद की केवल एक पार्टी का चुना हुआ नेता होता है। जबकि राष्ट्रपति के चुनाव में सरकारी और विरोधी दलों के सारे संसद-सदस्यों के सिवा सारी विधान सभाओं के सारे सदस्य वोट देते हैं। इसीलिए हम यह नहीं कह सकते हैं कि हमारा प्रधानमंत्री ही चुनाव के रास्ते से आता है, जबकि इस बात में कोई शक नहीं कि हमारा राष्ट्रपति चुना जाता है और उसके चुनाव में सारे देश के चुने हुए लोग हिस्सा लेते हैं... यानी बाकायदा राष्ट्रपति ही चुना जाता है; जबकि प्रधानमंत्री केवल संसद का चुनाव जीतकर प्रधानमंत्री बन जाता है।”¹⁵

इसी लेख में आगे वह राष्ट्र के विरोध में उठ खड़ी हुई अस्मिताओं का विरोध करते हैं। ऊपर हमने देखा कि उत्तर औपनिवेशिक चिंतन में एक राष्ट्र तथा सर्वभौमिक मानवीयता जैसे तत्त्वों का विरोध भी किया गया और उनका समर्थन भी। राही अपने लेखों में एक विश्वव्यापी मानवीय संस्कृति का समर्थन करते हैं। वह कहते हैं— “... हम जो स्वयं श्रीलंका के तमिल आतंकवादियों की मदद कर रहे हैं, पाकिस्तान को किस मुँह से बुरा कहें। सीलोन के तमिल आतंकवादी हिंदुस्तानी नहीं हैं। सीलोन है। अपने देश की चुनी हुई सरकार के खिलाफ लड़ रहे हैं। अपने राष्ट्र से निकल जाने की मांग कर रहे हैं। श्रीलंका में एक तमिलिस्तान बनाना चाहते हैं और उसके नेता मद्रास में बैठे हैं। मद्रास के मुख्यमंत्री उनकी माली मदद कर रहे हैं। हमारी संसद में यह माँग उठायी जा रही है कि हमें श्रीलंका में हस्तक्षेप करना चाहिए तो हम अमेरिका की क्यों बुराई करें जो चुनी हुई सरकारों के खिलाफ बगावत करवाने में अपना जवाब नहीं रखता।”¹⁶

पिछले अध्याय में हम ने देखा कि किस तरह औपनिवेशिक इतिहास-लेखन ने भारतीय साझी संस्कृति पर चोट किया था। राही इस प्रकार के औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त लोगों का विरोध करते हैं और भारतीय साझी संस्कृति में अपनी आस्था प्रकट करते हुए कहते हैं— “क्या रसखान का नाम काटकर कृष्ण भक्ति काव्य का इतिहास लिखा जा सकता है? क्या तुलसी की रामायण में आपको कहीं मुगल दरबार की झलकियाँ दिखाई नहीं देती? क्या आपने अनीस के मरसिये देखे? देखे होंगे तो आपको यह भी मालूम होगा कि इन मरसियों के पात्रों के नाम भले ही अरबी हों परंतु वह हैं अवध नगरी के राजपूत!”¹⁷

राही नव-औपनिवेशिक चेतना से युक्त भारतीय राजनीति का विरोध करते हैं और स्पष्टतः इसकी ओर संकेत भी करते हैं, यह नव-औपनिवेशिक राजनीति जिस पर अमेरीका का कब्जा है, वह उसी औपनिवेशिक चेतना की देन है जो हम पर ब्रिटिश शासन ने लादा है— “स्वतंत्रता जो आयी, वह मेड इन इंग्लैंड थी। स्वतंत्रता मेड इन इंग्लैंड इसलिए आई कि जो पार्टी स्वतंत्रता संघर्ष की अगुवाई कर रही थी, अर्थात् इंडियन नेशनल कांग्रेस, वह भी मेड इन इंग्लैंड ही थी... इसलिए जब खुद ब्रिटेन डॉलर की छत्रछाया में जा बैठा है तो भारतीय राजनीति भला डॉलर की पाठशाला में कैसे न जा बैठती। और जनाब, हमारी राजनीति ने भी डॉलर के सबक फर-फर याद कर लिये। डॉलर की सभ्यता यह है कि राजनीति ने देश के लिए नहीं है, देश राजनीति के लिए है और राजनीति उस व्यक्ति के लिए है जिसकी स्वतंत्रता का ढिंढोरा डॉलर सरकार पीटती रहती है। परंतु अमेरीका दूसरे देशों के व्यक्तियों की स्वतंत्रता बरदाश्त नहीं कर सकता। अमेरीका में दूसरों की स्वतंत्रता की परिभाषा डॉलर की गुलामी है; ओर जो देश डॉलर के गुलाम नहीं हैं, उन्हें मेड इन अमेरीका स्वतंत्रता देने के लिए अमेरीका सरकार करोड़ों डॉलर खर्च करती रहती है।”¹⁸ और ब्रिटिश शासन से समझौता करके पायी गयी आज़ादी शर्मनाक थी और आज भी है — “बहुत पीछे जाने की ज़रूरत नहीं, अपने युग में ही रहिए और बताइए कि देश का बँटवारा समझौता था कि नहीं। इतना बड़ा फैसला करने का अधिकार कांग्रेस को किसने दिया था ?...क्या यह मुल्क मुस्लिम लीग और माउंट बेटन का था कि उन्होंने जो चाहा कर लिया और हम भारत माता की जय बोलते

और सारे जहाँ से अच्छा हिंदुस्तॉँ हमारा गीत गाते रह गये और पता चला कि एक रात को बारह बजे वह सारे जहाँ से अच्छा हिंदुस्तान अपंग हो गया। और आज तक किसी ने मेरे घायल वतन को मरहम—पट्टी करने की ज़रूरत भी नहीं समझी.... इस धिनौने समझौते का जवाब आज तक कांग्रेस (आई) है इसलिए उसे इस सवाल का जवाब देना पड़ेगा।

... तो देश का बँटवारा करके कांग्रेस ने कुर्सी झपट ली। कुर्सी पाने के तुरंत बाद बल्लभ भाई पटेल और जवाहरलाल नेहरू में जो रस्साकशी शुरू हुई, वह उसी समझौते का परिणाम थी। पर यह दोनो कद में इतने बड़े थे कि इस रस्साकशी को भूल गये।....यदि स्वतंत्रता ठीक रास्ते से आई होती तो आज सर्वश्री बाल ठाकरे यह न कहते कि वह दशहरे के दिन मुसलमानों के खिलाफ़ एक तक़ीर करने वाले हैं... बाज़ लोगों की सोच की सुई हिंदू—मुसलमान सवाल के घिसे हुए रिकार्ड पर अटकी हुई है! ... लेकिन यह नफ़रतें देश के बँटवारे की औलादें हैं और यह अब जवान हो गयी हैं! हम आज भी वहीं खड़े हैं, जहाँ अगस्त सन् 47 को खड़े थे—पता नहीं उस शर्मनाक समझौते की कीमत हमें कब तक देनी पड़ेगी!”¹⁹

इसीलिए राही अपने साहित्यिक एवं व्यंग्य—लेखों के संग्रह में कहते हैं कि औपनिवेशिकता ने चाहे कागज़ पर नक्शे बना कर मुल्कों की सरहदें बना दी हों किंतु इतिहास या काल में वो एक लकीर तक नहीं खींच सकते हैं— “समय कोई हिंदुस्तान, जर्मनी, कोरिया या वियतनाम नहीं— कि नक्शे पर लकीर खींच कर बाँट दिया जाए।”²⁰ राही कहते हैं कि उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार को इस औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त होकर रचना कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए और इस शर्मनाक समझौते को टुकड़ा देना चाहिए, उससे आगे बढ़ना चाहिए— “पहला प्रश्न यह है कि हम सब भारतीय संस्कृति, सभ्यता या परंपराओं की बात करते हैं तो भारत की सीमा कहाँ तक निश्चित करते हैं। क्या भारत की सीमा वहाँ रुक जाती है जहाँ 15 अगस्त, 1947 को अंग्रेज़ों ने एक लकीर खींच दी थी? मैं नहीं मानता। अब अगर राजनीतिक बँटवारा परंपराओं का बँटवारा नहीं है तो फिर भारतीय परंपराएँ उस नयी राजनीतिक सीमा की परंपराएँ भी हैं, जिसे आज हम पाकिस्तान कहते हैं! इसलिए मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि शुरू के तूफ़ानी दिनों

के बाद पाकिस्तान फिर अपनी परंपराओं को अपनाने का प्रयत्न कर रहा है। क्योंकि अगर संस्कृति और सभ्यता और परंपराओं की दुनिया भी सन् 1947 में बँट गयी थी तो हमारे राष्ट्रीय गान में पंजाब, गुजरात, मराठा, द्रविड़ उत्कल और बंगाल के साथ साथ सिंध का भी जिक्र क्यों है। इसी राष्ट्रीय गान की गवाही पर मैं पाकिस्तान को केवल एक राजनीतिक इकाई मानता हूँ, सांस्कृतिक इकाई नहीं। इसका कारण यह है कि परंपरा धर्म नहीं कि कलमा पढ़ने और शुद्धि कराने से बदल जाए। हवाओं को कलमा नहीं पढ़वाया जा सकता और मेह की शुद्धि नहीं करवायी जा सकती। यही हाल परंपराओं का है, परंपरा सदैव धर्म से ऊँची रही हैं, परंतु दुर्भाग्य से यह देशों में बँट चुकी है इसलिए नामों से गड़बड़ी पैदा होती है। हिंदुस्तान एक पुराना नाम है पाकिस्तान एक नया मुल्क है। हिंदुस्तान देश की राजनीतिक सीमाएँ भले मिट गई हों किंतु इस शब्द की सीमाएँ अभी तक नहीं सिमटी हैं। परंपरा, सभ्यता और संस्कृति की बात करनी हो तो ये देश अभी तक नहीं बँटा है और आशा करने में क्या हानि है कि ये देश कभी नहीं बँटेगा। परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि इस देश के राजनीतिक बँटवारे ने बड़ी उथल-पुथल की है।

14 अगस्त, 1947 की रात को 12 बजे करोड़ों लोगों को मालूम हुआ कि वे एकदम पाकिस्तानी हो गए। ये अंग्रेजों के जादू के डंडे का कमाल था। सुना है कि प्राचीन काल में ऐसे जादूगर हुआ करते थे जो मनुष्य को जानवर बना दिया करते थे। सन् 47 से पहले मैं इस बात को नहीं माना करता था परंतु इसके बाद मैं इसे मानने लगा हूँ।²¹

न केवल इन लेखों में बल्कि भाषा-संबंधी लेखों में भी उत्तर औपनिवेशिक चेतना को देखा जा सकता है जिनका उल्लेख भाषा संबंधी अध्याय में किया जाएगा। राही के लेखों के बाद अब उनके कविताओं में उत्तर औपनिवेशिक चेतना के दर्शन हाते हैं। राही की एक लंबी कविता 'क्रांति-कथा (1857)' में हम स्पष्टतः उत्तर औपनिवेशिक चेतना के अभिव्यक्ति पाते हैं। इस कविता में उत्तर औपनिवेशिक चेतना के रेखांकन से पूर्व 1857 के संबंध में औपनिवेशिक धारणा को समझना होगा।

1857 भारत के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ है। उसका अपना एक महत्त्व है। उत्तर औपनिवेशिक चिंतन पर अध्ययन करते समय 1857 से होकर गुज़रना पड़ेगा। यह भारतवासियों की पहली लड़ाई थी। औपनिवेशिक आधिपत्य के विरुद्ध पहला प्रतिरोध था। इस प्रतिरोध की गंभीरता की अंदाज़ा इस बात से किया जा सकता है कि यह लगभग दो सालों तक पूरे भारत वर्ष में चलता रहा। इस पर लगभग एक लाख पृष्ठों की सामग्री मौजूद है।²² यद्यपि यह जनांदोलन असफल रहा, फिर भी इसका महत्त्व है। पं. सुंदरलाल कहते हैं— “ऐसी अवस्था में यदि भारतवासियों में मनुष्यत्व बाकी था, तो सन् 57 की क्रांति के आदर्शों के बारे में या क्रांतिकारियों के सम्मुख वास्तविक आदर्शों के बारे में हम चाहे कुछ भी क्यों न कहें, किंतु इसमें संदेह नहीं कि यदि सन् 57 की क्रांति न हुई होती, तो उसका यही अर्थ होता कि भारतवासियों में से सहनशीलता, स्वाभिमान, कर्तव्यपरायणता और जीवनशक्ति का अंत हो चुका। अंग्रेज़ शासकों के हौसले फिर हजारों गुना बढ़ गये होते और भारतवासियों में आशा की किरण तक नहीं दिखायी देती। भारतवासियों की हालत फिर करीब-करीब वैसी ही वैसी ही हो जाती, जैसी अफ्रीका और अमरीका के उन आदिम निवासियों की, जिनके हजारों वर्षों के अस्तित्व को यूरोपियन जातियों ने मिटा दिया और जिनके प्रदेशों में अब यूरोपियन जातियों के उपनिवेश बने हुए हैं। इन दृष्टियों से सन् 57 के क्रांतिकारियों का भीषण बलिदान हरगिज़ व्यर्थ नहीं गया। उन लोगों के असफल प्रयत्नों ने एक तरफ़ तो अंग्रेज़ की आँखें खोल दीं और उन्हें सावधान कर दिया और दूसरी तरफ़ उन्होंने भारतवासियों के जीवन में आशा और आत्मविश्वास की वह झलक पैदा कर दी, जो सत्तर वर्ष बाद भी फीकी पड़ी और सौ वर्ष तक भी नहीं पड़ सकती।”²³ न केवल इतिहासकारों ने बल्कि साहित्यकारों ने भी इस जन-प्रतिरोध को अपना विषय बनाया।

1857 को लेकर सबसे मुख्य औपनिवेशिक धारणा है कि यह एक आकस्मिक ‘विद्रोह’ था जो सैनिकों ने धार्मिक कारणों से की थी तथा इसी से जुड़ी दूसरी अवधारणा भी है कि यह तत्कालीन शासकों और सामंतों की लड़ाई थी। चार्ल्स बाल, जी. डब्ल्यू. फॉरेस्ट, टी. आर. होम्स, एम. इनर, जे. डब्ल्यू. के. जी. एफ.

मैकमन, जी. बी. मैलेसन, एर्ल राबर्ट्स आदि ने इसे इसी रूप में देखा। आर. एन. राय कहते हैं कि "इनकी राय निश्चित रूप से एर्ल स्टेनले के रिपोर्ट के आधार पर बनी थी, जो उस समय भारत के राज्य के सचिव थे, जिन्होंने संसद के लिए 1857 के कारणों की रिपोर्टिंग करते हुए, भीषण प्रस्फुटन के लिए 'विद्रोह' पद का प्रयोग किया था।"²⁵ चार्ल्स बाल ने भी अपनी पुस्तक 'The history of indian mutiny a detailed account of the sepoy insurrection in India and a concise history of the great military events which have tended to consolidate british empire in hindustan' में इसे सिपाही विद्रोह ही कहा है। इसे 1857 पर पहला ऐतिहासिक वृत्तांत माना जाता है।²⁵ डी. एन. त्रिपाठी कहते हैं— "लंदन में 1858 में प्रकाशित अपने नोट्स 'ऑन द रिवाल्ट इन नार्थ-वेस्ट प्राविंसेज ऑफ इंडिया' में चार्ल्स रायकिज ने मूलतः और अनिवार्यतः इसे एक सैनिक विद्रोह की संज्ञा दी।...दूसरी तरफ, कुछ समकालीन अंग्रेजों ने इसे मुख्यतः मुसलमानों की एक करतूत की तरह देखा। रॉबर्ट्स, मिसेज कूपलैंड, एलेक्जेंडर डफ, और कई अन्य लोगों ने इस विद्रोह को ब्रिटिश शासन और उसके प्रभुत्व के विरुद्ध मुसलमानों का षड्यंत्र कहा।"²⁶

अब जब कि इसके 150 साल पूरे हो गये हैं, इस पर नये अध्ययनों ने इसे एक नयी दिशा दी है। उन तमाम अवधारणाओं को लगभग खारिज करते हुए एक नये नज़रिये के इसका अध्ययन किया गया। और अभी तक इसका अध्ययन जारी है। प्रो. प्रदीप सक्सेना इस संबंध में कहते हैं— "देखना होगा कि 1857 के इतिहास-रचयिता लाखों लोग, यानी हमारे पुरखे जो अंग्रेजों की इतिहास-सामग्री में जाहिल, आवारा, बदमाश या पण्डीज़ कहलाये, वे धीरे-धीरे अपना महत्त्व प्राप्त कर रहे हैं।... हमारा कहना है कि यह घटना इतनी बड़ी, काल ओर देश के विस्तार में अपूर्व और ऐतिहासिक थी, जिसके माध्यम से तब के साम्राज्य और आज के साम्राज्य के बीच जो खुले दमन, लूट, छल, फरेब पर आधारित सूत्र मौजूद और सक्रिय हैं, उन्हें समझा जा सके तथा उस विराट इतिहास का ऐसा मूल्यांकन किया जा सके जिससे राष्ट्र, राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय और जातीय अवधारणाओं, नवजागरण की बहसों और देश के विघटन के, साम्प्रदायिक विभाजन के, ठोस संकट की समस्याओं के संदर्भ में कुछ प्रकाश मिल सके। और वह इसलिए मिल सकता है कि आज इतनी साम्रगी सामने आ चुकी है कि इसके पुर्नमूल्यांकन का काम जो लंबे समय से

ड्यू है, वह सुसंगत ढंग से किया जा सकता है।.... क्योंकि अपने निकट इतिहास को जानना, निकट भविष्य के निर्माण के लिए सदैव ज़रूरी रहा है, और क्योंकि आज की समस्याओं का चरित्र स्पष्ट करने में 1857 की भूमिका असंदिग्ध है। तब इसका वास्तविक इतिहास क्यों न लिखा जाये फिर से? विस्तृत और यथातथ्य!"²⁷

1857 के जनविद्रोह को यथातथ्य सामने लाने का प्रयास भी हुआ है। उस औपनिवेशिक धारणा कि —यह मात्र एक सैनिक या सामंतों का ही विद्रोह था, जनता की उसमें कोई भागीदारी नहीं थी— को तथ्यों के आईने में नकार दिया गया। इस संबंध में कुछ उद्धरण पर्याप्त होंगे।

पी. सी. जोशी अपने लेख 'हमारे इतिहास में 1857' में इस धारण को तथ्यों के प्रकाश में सामने लाते हैं। वह कहते हैं कि, "सर्वप्रथम यह विवाद अंग्रेज शासक वर्ग के अन्दर ही उठाया गया था। ईस्ट इण्डिया कंपनी के पक्षकारों ने कंपनी के शासन की कमज़ोरियों को छिपाने के लिए भारतीय विद्रोह को सिपाही—बगावत बता कर इसके महत्त्व को अवमूल्यित किया था। ईस्ट इण्डिया कंपनी के विरोधियों, औद्योगिक बूर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधियों ने उपर्युक्त चरित्रांकन की अपर्याप्तता को दिखाते हुए यह तर्क दिया था कि राष्ट्रीय विद्रोह था।" आगे अपने लेख में जोशी जी जस्टिस मैकार्थी का हवाला देते हैं— "जस्टिस मैकार्थी ने कहा : "तथ्य यह था कि उत्तरी और पश्चिमी—उत्तरी प्रांतों के बड़े भाग में चारों तरफ देशी जातियों का अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह था। केवल सिपाहियों ने ही विद्रोह नहीं किया था—किसी माने में भी यह मात्र 'सिपाही बगावत' नहीं थी। हिंदुस्तान की अंग्रेज—अधीनता के विरुद्ध यह सिपाहीयों की शिकायतों, राष्ट्रीय घृणा और धार्मिक कट्टरता का मिला—जुला रूप था। इसमें देशी राजे—रजवाड़े और देशी सैनिक सम्मिलित थे। मुसलमान और हिंदू अपने पुराने धार्मिक विद्वेष भुलाकर ईसाइयों के विरुद्ध साथ—साथ थे।"²⁸

प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक और 1857 पर गंभीर कार्य करने वाले डा. रामविलास शर्मा का कहना है कि, "सन् सत्तावन का संघर्ष एक महान जनक्रांति था। वह जनक्रांति इसलिए था कि उसमें जनता ने सक्रिय रूप से भाग लिया था।... इस क्रांति की मूल धारा अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध थी। उसका मूल उद्देश्य

राजनीतिक था— अंग्रेजों को निकालकर देश में अपनी सत्ता कायम करना। इस राजनीतिक उद्देश्य के अंतर्गत और भी सामाजिक उद्देश्य थे। जनता अंग्रेजी न्याय—व्यवस्था से क्षुब्ध थी। इसीलिए उसने हर जगह कचहरियाँ जलाई, जेलों के दरवाजे खोल दिये, अंग्रेजों ने जिनकी ज़मीनें छीन ली गयी थीं, उन्होंने किसानों के सहयोग से नये मालिकों को हटाकर उन पर अधिकार कर किया।”²⁹

अठारह सौ सत्तावन का केवल सिपाही विद्रोह कहना उचित नहीं है। यह लड़ाई सिर्फ धार्मिक भावनाओं के आहत होने के कारण पैदा हुए असंतोष का परिणाम नहीं थी। इस महाविद्रोह में जिस तरह के प्रतिरोध—क्षेत्र निर्मित हुए थे, वह केवल रियासतें और राज्य छिन जाने के कारण नहीं हुए थे। इस पहले मुक्ति—संग्राम के इतने रूप थे, इतने कारण थे कि पूरी मुकम्मल तस्वीर के लिए अभी बहुत कुछ खोजना और जानना शेष है। अंग्रेजों ने अपने आरंभिक राज में ही लूट—खसोट और शोषण का नया मानक स्थापित कर दिया था। जनता इस अमानवीय परिस्थितियों से त्रस्त थी। किंतु जनता के पास मुक्ति की आकांक्षा भी थी। यही कारण है कि अपनी मारक परिस्थितियों से मुक्ति के लिये सामान्य हिंदुस्तानी भी उस क्रांति के महासागर में कूद पड़ा था। इस महा—विद्रोह में मजदूर, किसान, छोटा—बड़ा सामंत, राजा, नवाब, मुल्ला—मौलवी, धार्मिक जन, पत्रकार सभी ने सक्रिय भगीदारी निभायी थी। मार्क्स ने इसे उचित ही जन—विद्रोह समझा था।

आर. एन. राय ने 1857 एंड आफ्टर लिटरेरी रिप्रिजेन्टेशन की भूमिका में 1857 में जनता की भूमिका को रेखांकित किया है— “...पर्याप्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिपाहियों का विद्रोह अंततः समाज के सभी वर्गों—स्थानीय देशी शासकों, जनसेवक, किसानों, कारीगरों, मुल्ला—मौलवियों, दुकानदारों, मछुआरों, दलित और आदिवासियों को सम्मिलित करता हुआ एक लोकप्रिय विद्रोह में तब्दील हो गया।” आगे प्रो. राय प्रख्यात इतिहासकार बिपिन चंद्र का उद्धरण देते हुए लिखते हैं— “अवध में अंग्रेजी राज के खिलाफ लड़ते हुए मारे गये 150000 लोगों में से 100000 आम जनता थी। यहाँ तक कि जिन लोगों ने विद्रोह में भाग नहीं लिया था, वह भी न केवल विद्रोहियों के प्रति सहानुभूति रखते थे बल्कि जो सिपाही अंग्रेज सरकार के प्रति वफ़ादार सिपाहियों का बहिष्कार भी किया। जनता

में विद्रोह इतना भावनात्मक मुद्दा हो गया था कि ब्रिटिश शासन ने पूरे गाँव को जलाने तथा ग्रामीण और शहरी लोगों का जनसंहार में इसका हल ढूँढा। जनता में भय उत्पन्न करने के लिए बिना मुकदमे के ही उन्होंने फाँसी और लोगों को लटकाने का प्रदर्शन किया।” और आगे आकर प्रो. राय यह कहते हैं कि इस मुक्ति संग्राम में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी के पर्याप्त सबूत हैं— “हमारे पास आम जनता की सक्रिय भागीदारी के पर्याप्त साक्ष्य हैं जो ब्रिटिश सिपाहियों से भालों और कुल्हाड़ियों, तीरों और धनुषों, लाठियों, हँसियों और बेडौल बंदूकों से लड़ रहे थे। किसानों ने मात्र पृष्ठरक्षक, हाशिए की ही भूमिका नहीं निभायी। वे केवल विद्रोहियों के रूप में शहर ही नहीं गये बल्कि नज़दीकी क्षेत्रों में अपनी रहनुमाई के लिए विद्रोहियों को बुलाया भी।”³⁰

इसी क्रम में यह बताना भी बेहद ज़रूरी है कि 1857 में महिलाओं और आदिवासियों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि बाद में 1857 को महिलाओं और दलितों के निगाह से भी देखा जाने लगा। रानी लक्ष्मीबाई तथा मातादीन, झलकारीबाई आदि इसी उत्तर औपनिवेशिक इतिहास लेखन की उपज हैं। आज 1857 का अध्ययन करते समय समाज के इन वर्गों के योगदान को भी रेखांकित करना होगा।

इस तरह से हम देखते हैं कि 1857 की लड़ाई, असफल होने के बावजूद, बहुत से मायनों में अहमियत रखती है। यह भारतीय संस्कृति का सबसे अहम मोड़ है। इसने भारतीय इतिहास की धारा को तय किया है। साथ ही न केवल भारतीय जनमानस के प्रतिरोध को व्यक्त करता है बल्कि साहित्यिक और अकादमिक स्तर पर भी उस पूरी औपनिवेशिक चेतना, औपनिवेशिक प्रणाली, औपनिवेशिक शासन और औपनिवेशिक इतिहास-लेखन का विरोध करता है। 1857 की लड़ाई ने भारतीय बुद्धिजीवी को बहुत गहरे तक प्रभावित किया। इतिहासकारों ने तो इस पर अध्ययन किया ही किया, साहित्यकारों ने भी इसे अपना विषय बनाया।

वस्तुतः इतिहास को देखने का एक नज़रिया होता है। इतिहास में महत्वपूर्ण है कि तथ्यों को किस प्रकार देखना है और किन-किन तथ्यों को देखना है। इतिहास-लेखन अमूमन सत्ता वर्ग से संबंधित तथ्यों को ही रेखांकित करता है। इतिहास में जनता का कोई उल्लेख नहीं होता है। इतिहास में लोक-जगत का कोई वर्णन नहीं होता है। इतिहास में हमेशा इन्हें हाशिए पर डाल दिया जाता है—“इतिहास आमतौर पर विजितों नहीं अपितु विजेताओं द्वारा लिखा जाता है और राष्ट्र की पराजय युद्धक्षेत्र में ही नहीं बल्कि इतिहास-लेखन के क्षेत्र में भी होती है। विजेता पक्ष पराजितों की आवाज़ दबाने की कोशिश करता है और अपना दृष्टिकोण लादने की। स्मृति से वंचित पराजित लोग अपना इतिहास खो देते हैं तथा विरोधियों द्वारा बताये हुए पाठ को ही स्वीकार करने लगते हैं। 1857 में यही हुआ जब भारतीय विद्रोह कुचल दिया गया और किसी को भी ब्रिटिश कारवाइयों के विरुद्ध कुछ भी कहने, लिखने या एक शब्द बोलने की इजाजत नहीं दी गयी।”³¹ इसके बरअक्स साहित्य उपेक्षितों एवं लोक को स्थान देता है। साहित्यकार आम आदमी के पक्ष में खड़ा होकर चीज़ों को देखता है। और इतिहास इन्हें खारिज नहीं कर सकता, क्योंकि वह लोक-स्मृतियों पर आधारित होता है। हितेंद्र पटेल कहते हैं कि “....यह ज़्यादा ज़रूरी है कि लोगों ने भूतकाल की घटनाओं का ‘आत्म-इतिहास’ अपने तरीके से लिखने की कोशिश की है। जैसा कि 1857 के इतिहास लेखन के प्रसंग में लोक स्मृतियों में मौजूद है। हिंदी के कथाकार अमृतलाल नागर के ‘गदर के फूल’ में इतिहास के इस रूप को देखा जा सकता है। इन चेष्टाओं को इतिहास अगर खारिज कर दे तो इतिहास को इस प्रश्न का उत्तर देना पड़ेगा कि आखिरकार ये ‘आत्म-इतिहास’ किन मानकों पर खारिज होंगे और इन मानकों को बनाने वाले कौन हैं?”³²

राही मासूम रज़ा की लंबी कविता ‘क्रांति कथा 1857’ में यह तमाम तत्त्व देखे जा सकते हैं। यह 206 पृष्ठों में लिखी और पंद्रह खंडों में बँटी है। पूरी कविता 1857 की कहानी को पूरी संवेदना के साथ प्रस्तुत करती है। हालाँकि कविता में कहीं-कहीं उसके लंबे कलेवर और अत्यधिक भावुकता के कारण झोल-सा भी आ गया है। किंतु फिर भी इस कविता का महत्त्व है। वह महत्त्व है इसका जन पक्षधर होना। लोक-स्मृति पर आधारित होना। इसलिए यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ बन

जाता है। इसमें कवि की कल्पना और लोक आधारित तथ्यों का बखूबी मिश्रण किया गया है। यही इस कविता की ताकत है। भूमिका में राही मासूम रज़ा इसे स्पष्ट करते हैं कि क्यूँ साहित्यकार इतिहासकार से अलग होता है— “असल में शायर ज़िन्दगी का नक़लनवीस नहीं होता कि नुक़ते के मुक़ाबले नुक़ता और मरकज़ के मरकज़ नक़ल कर दे, वह तो अपनी हर तख़लीक़ में खुद अपनी शख़्सियत का कोई—न—कोई जुज़ मिलाता है और यूँ एक चीज़ वजूद में आती है जो पहले न थी। शायर नक्क़ाल नहीं होता। वह ख़ालिक होता है—और वह नाकिद होता है, वह अपनी रद्वोक्बूल से क़दरों की कीमत का ताइयुन करता है।”³³

साहित्यकार और इतिहासकार में तथ्यों को चुनने और देखने का ही अंतर होता है। हितेंद्र पटेल ने हेडेन व्हाइट के माध्यम से इसे स्पष्ट करते हैं— “हेडेन व्हाइट ने एक बहुत सरल तरीके से इसकी व्याख्या की है— हम मानें कि तथ्य कुछ इस प्रकार हैं— a, b, c, d, e.....। इसको इतिहासकार जब पूरी ईमानदारी के साथ भी रखेगा तो वह इस रूप में आएगा— a b C d E....। किसी दूसरे इतिहासकार के लिए वह इस रूप में आ सकता है— A b c D e....। यानी यह इतिहासकार पर निर्भर है कि वह किस तथ्य को प्रमुखता देगा और किसे नहीं।”³⁴ और इसीलिए हितेंद्र पटेल एक वाजिब सवाल उठाते हैं कि क्या साहित्य में वर्णित इतिहास से इतिहास को न समझना चाहिए? क्या उसे काल्पनिक तथ्य कह कर खारिज कर देना उचित है? वह 1857 के हवाले से कहते हैं कि, “साहित्य में उपस्थित यह इतिहास 1857 के अध्येताओं के लिए चुनौती है। क्या इसे कपोल—कल्पना मानकर इतिहास के अध्ययन क्षेत्र से बाहर रखा जाए या इसे भी इतिहास का ही अंग मानकर चला जाए? दूसरी बात लोक कृतियों या चेतना में मौजूद इन नायकों की छवि और उन पर रचित लोकगीतों को किस रूप में देखा जाए?” यहाँ हितेंद्र पटेल फिर से हेडेन व्हाइट का हवाला देते हैं— “यहाँ हेडेन व्हाइट पर फिर से लौटकर देखना उचित होगा। वे मानते हैं कि इतिहास से प्रश्न किस तरह पूछा जाए कि इतिहास अधिक प्रामाणिकता के साथ उपस्थित हो। समझने के लिए रचनात्मक लेखन से तकनीक सीखना चाहिए।”³⁵ राही मासूम रज़ा ठीक इसी बात की चर्चा करते हैं कि साहित्यकार भी अपने ढंग से तथ्यों को चुनता है और किन तथ्यों पर जोर देना है— “शायर को इसका अहसास होना चाहिए कि उसने किसी चीज़ का इंतखाब क्यों नहीं किया। इसी सूरत में वह उन चीज़ों पर जोर दे सकता है

जिसका उसने इंतख़ाब किया है और उसी सूरत में उसे मालूम हो सकता है कि उसे अपनी मुन्तख़ब चीज़ों पर कहाँ और कितना ज़ोर देना चाहिए।”³⁶ फिर भूमिका में ही रही इसे स्पष्ट करते हैं कि उन्होंने आखिरकार क्यों इस असफल क्रांति को ही चुना है— “मैं इस बात का जवाब दे सकता हूँ कि मैं ने 1857 का इंतख़ाब क्यों किया ? मैंने आखिर 100 साल के बाद पलट कर उस ‘शिकस्त खुरदा’ इन्क़लाब की लड़ाई की तरफ़ देखने की ज़रूरत क्यों महसूस की ? उन्नीसवीं सदी की लड़ाई से आज बीसवीं सदी में क्या नतीजे अक्स करना चाहता हूँ? मैं कहना चाहता हूँ कि अच्छे इंसानों की जीत हुई है, जीत हमेशा होगी।”³⁷

आगे स्पष्ट रूप से रही कहते हैं कि 1857 की क्रांति का चरित्र कैसा भी रहा हो, उन्होंने तो इसका इसलिए चुनाव किया है क्योंकि यह औपनिवेशिक शासन के खिलाफ़ थी और यह बात ही अपने आप में बेहद महत्वपूर्ण है (रही यह बात 1957 में कह रहे थे) वह लिखते हैं कि “....इस वक़्त मुझे इससे बहस नहीं कि वह लड़ाई कैसी थी। उसकी रहनुमाई जिनके हाथों में थी, उनका मक़सद क्या था।.... इस वक़्त तो मैं सिर्फ़ यह कहना चाहता हूँ कि वह लड़ाई अंग्रेज़ी तसल्लुत के खिलाफ़ थी।”³⁸ लेकिन हम देखते हैं कि आज भी बहुत से बुद्धिजीवी 1857 को सामंतों और मात्र सैनिकों का एक विद्रोह मात्र मानते हैं। ऐसा लगता है कि उनकी औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति नहीं हुई है। कुछ चिंतकों ने तो और आगे बढ़कर 1857 की लड़ाई के असफल होने को भारतीय जनता के हित में उचित ही बताया।³⁹ उस समय भी (1857 की लड़ाई में) ऐसे लोग थे जिन्होंने मानसिक रूप से यह स्वीकार कर लिया कि अंग्रेज़ उनसे बेहतर हैं। ऐसे लोगों के लिए जो औपनिवेशिकता से मुक्त नहीं हो पाये रही उनको गुमराह बतलाते हैं और कहते हैं— “मैं कहना यह चाहता हूँ कि 1857 के बाद जिन लोगों ने जेहनी शिकस्त तस्लीम कर ली वे गुमराह लोग थे” और जिन लोगों ने औपनिवेशिकता के खिलाफ़ हार नहीं मानी वही लोग सच्चे क्रांतिकारी और एक स्वाधीन भारत का सपना देखने वाले लोग थे — “और जिन लोगों ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ किसी न किसी शक़ल में लड़ाई जारी रखी वे दूरबीन थे और मैं ज़ोर इस बात पर देना चाहता हूँ कि अगर आज किसी लड़ाई में हम हार जाँएँ तो इसके यह मानी नहीं है कि हम जंग हार गये।”⁴⁰

राही का मानना था कि जो लड़ाई 1857 में शुरू हुई थी, वह 15 अगस्त सन् 1947 में पूर्णता को प्राप्त हुई— “यह नज़म में 15 अगस्त सन् 1947 से पहले नहीं लिख सकता था। मगर उस दिन लड़ाई खत्म हो गई जो 9 मई, 1857 को शिदत की एक मखसूस मंज़िल तक पहुँच गई थी।” और आगे यह भी कहते हैं कि “लड़ाई तो उस वक़्त ख़त्म होगी जब हम जीत जायेंगे। हम न मैदान से हटें चाहे तो सदियाँ हट जाएँ।”⁴¹ राही यहाँ बहुत ही महत्वपूर्ण बात की ओर संकेत कर रहे हैं। दरअसल 1857 की लड़ाई औपनिवेशिक आधिपत्य और औपनिवेशिक नीतियों के खिलाफ़ शुरू हुई थी। यह भारतीय स्वाभिमान को जगाने और उसको हासिल करने की लड़ाई थी। और यह लड़ाई तब तक चलेगी जब तक हमारा पूरी तरह से विऔपनिवेशीकरण नहीं हो जाता है। जब—जब हम औपनिवेशिक चाल के शिकार होंगे तब—तब यह लड़ाई लड़ी जाएगी।

किसी देश के ऊपर जबरन आधिपत्य जमाना, किसी की आज़ादी छीन लेना मानवीयता के विरुद्ध है। अगर इस रूप में 1857 को देखा जाए तो यह बर्बरीयत के खिलाफ़ इंसानियत को ज़िंदा करने की लड़ाई थी। एक साहित्यकार इसे इसी रूप में देखना पसंद करता है। उसके लिए इतिहास केवल तथ्यों और आँकड़ों का पिटारा भर नहीं है। इतिहास उसके लिए मानव—जाति के विकास और मानवीयता की रक्षा करने का एक उद्गम है। राही कहते हैं कि इतिहास उनके लिए मानवीयता में आस्था पैदा करने का काम करता है— “इस बात को वाज़ा करने के लिए हिंदुस्तानी तवारीख़ ने मुझे 1857 से कोई बेहतर मिसाल नहीं दी, इसलिए मैंने 1857 का इंतख़ाब किया। लेकिन 1857 इस नज़म का मौँजू नहीं है। इसका मौँजू कोई सन् नहीं है इसका मौँजू इन्सान है। जो कभी नहीं हारता। इन्सान के न हारने का यकीन मुझे इन्सान की तवील तवारीख़ ने दिलाया है। मेरे नज़दीक तवारीख़ का मसवत काम यही है कि वह इन्सानियत पर हमारे यकीन को मोहकम करती रहती है।”⁴²

इतिहासकार और साहित्यकार के बीच यही फर्क भी होता है। यही कारण है कि 1857 के बाद जितना ऐतिहासिक दस्तावेजों से इस महान लड़ाई में जनता की भागीदारी का पता चल रहा है, कमोबेश उतना ही या संभवतः उससे ज़्यादा साहित्यिक रचनाओं और लोक में दर्ज रचनाओं के माध्यम से भी पता चल रहा है। राही कहते हैं कि 1857 को चुनने के पीछे उनका मक़सद बस यही था कि इसमें जनता की पूरी भागीदारी निश्चित तौर पर थी और यह आज़ादी की लड़ाई औपनिवेशिक सरकार के खिलाफ़ थी— “ज़ाहिर है कि शायर इन चीज़ों को मुव्वरिख की निगाह से नहीं देखता, शायर की निगाह से देखता है इसलिए वाज़ औकात मुव्वरख़ीन इससे इख़लाफ़ करते हैं। इस बात पर मुव्वरख़ीन में इख़लाफ़े राय मुमकिन है (और है भी) कि 1857 आज़ादी की लड़ाई नहीं थी। रजवाड़ों की पेंशन की लड़ाई थी। बहादुरशाह और नाना साहब को अपनी-अपनी पेंशन की कमी का शदीद ऐहसास था। लक्ष्मीबाई दामोदर को गद्दी पर बिठाना चाहती थी, इसलिए इस तबक़े ने ग़ैर-मुतमइन हिंदुस्तानी फौजियों का इस्तेमाल किया, मुझे इससे गरज़ नहीं। मैं तो इतना जानता हूँ कि यह लड़ाई अंग्रेज़ों के खिलाफ़ हुई। उन्नीसवीं सदी के हिंदुस्तानी (शुमाली हिंदुस्तान) समाज के समान तबक़ों ने इस लड़ाई में शिरकत की। (हालाँकि अब नये अध्ययनों से यह बात भी साबित हो गयी है कि न केवल उत्तरी भारत बल्कि दक्षिण भारत क्या समूचा देश इस लड़ाई में कूद पड़ा था।) यही बात अहम है। मेरे लिए इस बात में कोई अहमियत नहीं रह जाती कि इन तमाम तबक़ों के मुक़ासिद अलग-अलग थे— इन तमाम बातों को निगाह में रखने के बावजूद मैंने 1857 का इंतखाब किया।”⁴³

इस कविता में कवि 1857 के भारतवर्ष में चला जाता है। वह कल्पना की निगाह से उस महान घटना को घटते हुए देखता है। इस लंबी कविता का पहले अध्याय का नाम है— “यह आदमी की गुज़रगाह”। इसमें अंग्रेज़ी शासन में देश के भयभीत वातावरण का वर्णन तथ्यों के आधार पर किया गया है। कविता शुरू होते ही यह कह देती है कि देश में भय और अत्याचार का माहौल है। पहली ही पंक्तियों से इसके संकेत मिल जाते हैं—

“हर तरफ अंधेरा है रोशनी नहीं मिलती

दूर-दूर ढूँढे से जिंदगी नहीं मिलती”, फिर आगे कहते हैं कि इस राह पर भयानक सन्नाटा पसरा हुआ है—

“कौन—सी जगह है यह

कुछ पता नहीं चलता

इस सड़क पे क्या कोई

काफ़िला नहीं चलता

रास्ता भी और दिल भी

सायँ—साँय करता है

एक सहमा—सहमा है

इक धड़कते डरता है”⁴⁴

कानपुर में हुआ औपनिवेशिक दमन विख्यात है। इसमें कई सौ लोगों को सड़क पर सरेआम फाँसी दे दी गयी थी। वह सड़क आज भी मौजूद है। राही अपनी कविता में उस ऐतिहासिक सड़क का जिक्र करना नहीं भूलते हैं। भूमिका में भी वह इस सड़क का जिक्र करते हुए कहते हैं कि यह काल्पनिक सड़क नहीं बल्कि ऐतिहासिक सड़क है, जिसका पता खुद अंग्रेज़ इतिहासकार Key ने दिया था और ऐसी केवल एक सड़क ही नहीं है बल्कि ऐसी कई सड़कें हैं— “सबसे पहले मैं एक सड़क पर जाता हूँ जिसके दोरोया दरख्तों पर लोगों की लाशें लटक रही हैं। यह सड़क मनगढ़ंत नहीं है, हिंदुस्तान में कई ऐसी सड़कें हैं। लेकिन जिस सड़क पर मैं गया, वह इलाहाबाद से कानपुर की तरफ जाती है। यह वह तवारीखी सड़क है जिसे शेरशाह ने काफ़लों के लिए बनवाया था और जिसे अंग्रेज़ों ने लाशों के लिए इस्तेमाल किया। इस सड़क का पता मुझे अंग्रेज़ मुक्बरिख Key ने दिया था।”⁴⁵ जैसा कि भूमिका में राही उस सड़क पर जाने का (अपनी कल्पना द्वारा कवि उस परिवेश और वातावरण में पहुँच कर चीज़ों को देखता है) कविता में जिक्र करते हुए कहते हैं—

“कोई हवा से यह कह दे वह यह चिराग बुझाये
 कि इस सड़क पे अँधेरा ही था तो अच्छा था
 हर इक दरख्त में फंदा, हर एक शाख पे लाश
 मैं इस सड़क पे अकेला ही था तो अच्छा था
 ये रास्ते पे हैं मसलूब कौन लोग आखिर
 यह रास्ता है कि वीरानियों का जंगल है
 सड़क के दानों तरफ़ यह दरख्त लाशों के
 यह जिंदगी की गुज़रगाह है कि मक़तल है।”⁴⁶

इस अध्याय में कवि उन रास्तों से गुज़रता है, जहाँ कभी 1857 की लड़ाई लड़ी गयी थी और जहाँ अंग्रेज़ी शासन की बर्बरता और दमन की निशानियाँ दर्ज हैं। अंग्रेज़ी शासन की क्रूरता की गवाहियाँ उस रास्ते के टूटे और जले घर, उजाड़ दिए गए मंदिर—मस्जिद, अधजली लाशें और लाशों से लदे पेड़ देते हैं। कवि पेड़ों से पूछता है—

“दरख़्तों तुम ही बताओ, कोई इशारा कर दो
 तुम्हारी शाखों को लाशों के फल दिये किसने
 यह लूटी किसने तहारत तुम्हारे साये की
 यह रंग शामो सहर के बदले दिये किसने”⁴⁷

कवि जैसे—जैसे इस रास्ते पर आगे बढ़ता है, उसे अंग्रेज़ सिपाहियों का आतंक और अधिक दिखाई देने लगता है। 1857 की लड़ाई में अंग्रेज़ी शासन का इतना ख़ौफ़ था कि एक पात्र के रूप में कविता में उपस्थित कवि बार—बार यह कहने पर मजबूर हो जाता है कि वह फ़िरंगी नहीं है। कई स्थान पर वह लोगों को यह भी कहते हुए सुनता है कि आहिस्ता बोलो कहीं कोई फ़िरंगी नहीं आ रहा हो—

“सुन लो, यह माँ हूँ, कोई फ़िरंगी नहीं हूँ मैं”
 “अरे बाबा ज़रा आहिस्ता बोलो
 मैं कुछ क़दमों की आहट सुन रही हूँ
 फ़िरंगी तो नहीं फिर आ रहे हैं”⁴⁸

जैसा कि पहले अध्याय में कहा गया है कि उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार देश को माँ के रूप में देखता है। यहाँ भी कवि देश के लिए माँ का रूपक प्रयोग में लाता है। इस अध्याय में भी वह जिन रास्तों से गुज़रता है, वहाँ एक माँ का रूपक गढ़ लेता है। यह माँ देश है। कवि देश यानि कि माँ से पूछता है कि तुम्हारी यह हालत किसने की है ? तुम्हारा बेटा कहाँ गया ? तो माँ जवाब देती है—

“जुजै फिरंगी भला और कौन आएगा

यह न बतलाऊँगी और फिर क्या हुआ

यह न बतलाऊँगी और फिर क्या हुआ

भाइयों बहनों को यह मेरा लाडला!

ढूँढते ढूँढते थक के सो भी गया

यह न बतलाऊँगी और फिर क्या हुआ”⁴⁹

इस रास्ते से गुज़रते हुए और औपनिवेशिक क्रूरता की निशानियों को देखते हुए और एक माँ की आपबीती सुनते हुए अंत में कवि कहता है—

“मरना भी हो तो क्या करना

आगे तो चलना ही होगा

जुल्मत से जब ठन ही गयी है

लौ की तरह जलना ही होगा”⁵⁰

पहला अध्याय यहीं पर समाप्त हो जाता है। दूसरे अध्याय का नाम है ‘क्रांति-कथा’। यह 4 पृष्ठों में ही समाप्त हो जाती है लेकिन यह बहुत कसी हुई है। इसमें झोल कम है। इसमें कवि लोक-शैली में सत्तावन की (1857) कथा सुनाता है—

“सुनो भाइयो सुनो भाइयो, कथा सुना सत्तावन की

कान खोलकर सुनो कथा है क्रांति के पहले सावन की”⁵¹

इस में कवि उन कारणों का संकेत करता है, जिनके कारण पूरा देश इस लड़ाई में कूद पड़ा था। किसी भी प्रतिरोध का सबसे मुख्य कारण होता है अन्याय और अत्याचार। यहाँ भी कवि पहले यही कारण बतलाता है—

“बंदीघर में लोटा थाली पर बंदी टकराये

अंग्रेजों ने लाठी के बादल उन पर बरसाये

इत्ती इत्ती बात पे फौजी जब देखो गरमाये

हालत यह थी जो बोले वह तोपों में उड़ जाये”⁵²

आगे कवि कहता है कि देश टैक्स और बेरोजगारी की समस्या से जूझ रहा था। किसानों पर भारी टैक्स लगा हुआ था और अपने को आधुनिक विश्व का निर्माता कहने वाला देश अपने औपनिवेशिक देश का सारा माल लूटने पर तुला हुआ था। देश में किसानों पर टैक्स, आम जनता में फैली बेरोजगारी और अन्याय पर 1857 पर काम करने वाले अध्येताओं ने तथ्यों और हवालों के साथ लिखा है। यहाँ मन्मथनाथ गुप्त का उद्धरण इस पर प्रकाश डालता है— “अंग्रेजों ने पलासी के पहले ही जिस नीति का प्रवर्तन किया था और जिसे उन्होंने बड़ी प्रचंडता के साथ जारी रखा था, उसी का अंतिम नतीजा 1857 था। कंपनी ने एक के बाद एक पुराने राजकुलों को ख़तम कर अपने में मिला लिया था, यहाँ के उद्योग—धंधों को ज़बरदस्ती कुचल डाल कर हजारों लोगों को या तो खेती करने पर मजबूर किया था, जबकि खेतों पर यों ही बहुत भारी बोझ था, या उन्हें मर जाने के लिए बाध्य किया था। उन्होंने मामूली डाकूओं की तरह राजघराने के खजाने की लूट कर उनके स्वामियों को दर—दर का भिखारी बना दिया था, सैकड़ों संधिपत्रों को तोड़ डाला था। ऐसी हालत में यदि अंग्रेजों के विरुद्ध एक विद्रोह हुआ तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।”⁵³ इस अध्याय में कवि इन कारणों को गिनाता है और उनसे उपजे जनता के क्रोध को वर्णित करता है—

“सत्तावन के आते आते देश की हालत यह थी

खेतों और खलिहानों के दिल धड़के और आँख उठी

गुस्से में बल खाती थी हर राह हर इक पगडंडी

अंग्रेजों के पाप की गगरी अब छलकी तब छलकी
 इक इक तीली टूट चुकी थी अंग्रेजों के चिलमन की
 सुनो भाइयों सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की
 हलके कन्धों पर रखा था टैक्स का बोझा भारी
 फौजों तक इक दौड़ लगी थी, थी ऐसी बेकारी
 चूनर का चेहरा उतरा था, कुम्हलाई थी सारी
 पूर पूर थी पूरावख की फिर भी प्यासी नारी
 घोर अंधेरा है जीवन में ज्योत बुझी उन नैनन की
 सुनो भाइयों सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की⁵⁴

1857 की लड़ाई भारतीय जनता के स्वाभिमान की भी लड़ाई थी। और संभवतः इसी के परिणामस्वरूप पूरा देश इस लड़ाई में कूद पड़ा था। कवि भी भारतीय जनता के जग उठे स्वाभिमान को देखता है और पाता है कि सभी वर्गों एवं जातियों के लोग एकजुट होकर इस लड़ाई में कूद पड़े हैं—

“राजा हो या प्रजा हो, शहरी हो या देहाती
 वह ज़रबफ़्त हो, ढाके का मलमल हो, या हो लंगोटी
 मंदिर हो या मस्जिद, वह बधना हो या हो थाली
 अपनी—अपनी दुनिया में सबने वह जी में ठानी
 आखिर कोई चीज़ है यारा ग़ैरत अपने आँगन की
 सुनो भाइयों सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की⁵⁵

और साथ ही कवि यह भी देखता है कि काशी के पंडित और पटना के मुल्ला, जाट, भोजपुर के लोग, अवध की जनता, जौनपुर, बलिया, गाजीपुर, आजमगढ़, बक्सर, छपरा, मेरठ, अलीगढ़, कायमगंज, इलाहाबाद गरज कि पूरा देश की अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति पाना चाहता था। इस स्वाधीनता के दर्शन के लिए पूरा देश औपनिवेशिक शासन के खिलाफ़ उठ खड़ा हुआ था और उनकी चूलें हिल उठी थीं। इस प्रकार के दो-तीन उद्धरण कविता में आते हैं—

“अब श्मशान को ले चलते हैं अर्थी इस गोरे शासन की
सुनो भाइयों सुनो भाइयों, कथा सुनो सत्तावन की”⁵⁶

तथा यह भी कि

“डोल रही थी इक इक चूल इस अंग्रेजी सिंहासन की
सुनो भाइयों सुनो भाइयों, कथा सुनो सत्तावन की”⁵⁷

तीसरे अध्याय का नाम है— ‘तूफ़ान से पहले’। इस अध्याय में कहानी और आगे बढ़ती है। कवि देखता है कि राजा (मुग़ल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र) परेशान है। प्रजा परेशान है। देश अंग्रेज़ों की नीतियों से त्रस्त है। हर जगह अत्याचार और अन्याय का राज है। द्वितीय अध्याय में हमने देखा था कि ब्रिटिश राज द्वारा स्थापित रेल—व्यवस्था को लेकर हर एक भारतीय उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार कटु दिखाई पड़ता है। ‘मय्यादास की माड़ी’ में भी रेल को अजगर और दैत्य कहा गया है। इस अध्याय में भी रेल को साँप से उपमा दी गयी है और इसे खेतों के लिए बेहद नुकसानदेह बताया गया है। द्वितीय अध्याय में शेखर बंदोपाध्याय और गाँधी जी के हवाले से यह बताया जा चुका है कि रेलगाड़ी ने किस तरह से भारतीय खेतों को नुकसान पहुँचाया था। इस अध्याय में भी इन स्थितियों का संकेत किया गया है—

“यह रेल की पटरी है कि धामिन की है जोड़ी
छू लें जिसे यह साँप वह हो जाते हैं कोढ़ी
भगवान को डसने पे तुले बैठे हैं मूज़ी
इनके लिए इन्सान है किस खेत की मूली
देहातों को आवाज़ दो आफ़त की घड़ी है
पटरी नहीं खेतों के यह जंजीर पड़ी है।”⁵⁸

कवि यह भी देखता है कि किस प्रकार देश में अराजक स्थिति हैं। लोग घर से बेघर हो गये हैं। अत्याचारी ज़मींदार और अंग्रेज़ अफ़सर दोनों ही किसान का खून चूस कर अपना घर भर रहे हैं। कवि कहता है—

“दुनिया में नहीं बढ़के फिरंगी से सितमगर
 घरवाले भी हैं बेघर जो बेघर थे वह दर दर
 कल तक जो न थे कुछ वह भी बन बैठे हैं अफसर
 खेतों के खज़ानों पे ज़मींदारों के अजगर”⁵⁹

कवि कहता है कि पुरानी सामंतवादी व्यवस्था में किसानों की हालत कहीं बेहतर थी। इस औपनिवेशिक शासन ने तो लगान का भारी बोझ किसान के ऊपर रख दिया जिससे किसान की कमर ही टूट गयी। मन्मथनाथ गुप्त कहते हैं कि, “पुरानी सामंत श्रेणी के अधिकांश रूप में नष्ट हो जाने के बाद ब्रिटिश शासन से उनका नाराज़ होना स्वाभाविक था। यहाँ के उद्योग-धंधों के नष्ट हो जाने से जो कारीगर श्रेणी का बोझ जमीन पर पड़ा, इससे कारीगरों की तो ख़ैर दुर्दशा हुई ही, किसानों की हालत भी बिगड़ी, और आम तरह से सबका जीवन संबंधी मानदंड घट गया।”⁶⁰ यही कारण है कि ऊपर गुप्त जी ने अंग्रेज़ों की तुलना में चोरों से की है। ‘रंगभूमि’ का विश्लेषण करते समय हमने देखा कि प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में डाकूओं के मुख से इस शासन की बुराई करवाते हैं और ब्रिटिश शासन की तुलना में डाकूओं को मानवीय भावना से युक्त दिखाया है। यहाँ भी कवि भी इतना आक्रोशित है कि वह चोरों और उचक्कों को अंग्रेज़ों से बेहतर बतलाता है —

“पिछले राजा जैसे भी थे अच्छे थे अंग्रेज़ों से
 आँख निकल आई खेतों की सख़्त लगान के फ़न्दों से
 घर की दुनिया उजड़ी, उजड़ी उन नैनों का जादू बंद
 एक लगान अदा करने में खुल खुल बाजूबंद
 अंग्रेज़ों की जेब में जा पहुँची अपनी बदहाली तक
 गेहूँ की बाली से लेकर कानों की हर बाली तक
 साहब लोगों से तो अच्छे निकले चोर उचक्के भी
 खेतों की चुगली खाते हैं इन तारों के खम्बे भी”⁶¹

किसान, खेतों और यहाँ के लघु उद्योगों को नष्ट करके यहाँ पश्चिमी औद्योगिकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। कवि कहता है—

“जलती हुई करघे का धुआँ आने लगा है

मलमल भी विलायत से यहाँ आने लगा है”⁶²

जब अत्याचार और अन्याय अपना सीमा से आगे बढ़ जाता है तब जनता के पास बस एक ही चारा होता है कि वह बगावत कर दे। यहाँ भी कुछ ऐसा ही होता है। इस अन्याय और अत्याचारी शासन से मुक्ति पाने के लिए पूरा देश इस लड़ाई में कूद पड़ा। कवि कहता है—

“मिखमंगा हो, धोबी हो, वह भंगी हो कि नाई

साधू हो कि जोगी हो, वह बाबा हो कि माई

वह गाँव का मुखिया हो, कि बीबी का हो भाई

जो आया सिपाही के लिए यह खबर आई

या राह में, या गाँव में उसने यह सुना है

हर गाँव, हर शहर बगावत पे तुला है

हर गाँव में हर शहर में एलान हुआ है

यह काम कुछ इस तरह भी आसान हुआ है

तनख्वाहों के बँटने का भी सामान हुआ है

दरबार से दिल्ली के यह फरमान हुआ है

जीते तो बड़ा नाम भी दौलत भी मिलेगी

काम आए, तो राह में जन्नत भी मिलेगी”⁶³

यहाँ अध्याय समाप्त हो जाता है। इसके बाद फिर ‘क्रांति—कथा’ के नाम से चौथा अध्याय है। वस्तुतः हर एक अध्याय के बाद क्रांति—कथा नाम से अध्याय है। इसमें कवि बड़े उल्लासपूर्वक यह बतला रहा है कि क्रांति का बिगुल बज चुका है और बड़े व्यवस्थित ढंग से जनता अंग्रेजी शासन से लोहा लेने को तैयार हो रही

हैं। यहाँ हम उस औपनिवेशिक इतिहास लेखन का विरोध भी पाते हैं जिसमें कि यह बताया गया था कि यह लड़ाई आकस्मिक थी। मन्मथनाथ गुप्त प्लासी युद्ध के बाद हुए विद्रोहों जिसमें 1764 का बंगाल सेना में हुआ विद्रोह, 1795 का सिपाही विद्रोह, 1806 में वेल्लौर का विद्रोह, वहाबी विद्रोह आदि का हवाला देने के बाद स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह (1857) कोई आकस्मिक विद्रोह नहीं था— “इस प्रकार हम देखते हैं कि 1857 में जो विद्रोह हुआ, वह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यह जो बतलाया जाता है कि 1857 के सिपाही विद्रोह का कारण कारतूस में चर्बी या इस किस्म की कोई और बात थी, बिल्कुल ही ग़लत है। 1857 जैसी बड़ी घटना एक छोटी-सी तथा तात्कालिक घटना के कारण नहीं हुआ करती है... इस घटना (कारतूस में चर्बी) को अधिक से अधिक एक चिनगारी मात्र कहा जा सकता है जिससे पहले से जो बारूदखाना तैयार था, उसमें आग लग गयी।”⁶⁴

यह आंदोलन कितना संगठित एवं व्यवस्थित था, इसका अंदाज़ा तो औपनिवेशिक सरकार भी नहीं लगा पायी थी। औपनिवेशिक इतिहासकारों ने तो सचेत ढंग से इस पर पर्दा डालने का प्रयास किया, किंतु बाद के अध्ययनों से यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो गयी। मन्मथनाथ गुप्त 1857 के पीछे के व्यवस्थित संगठन एवं संचालन पर प्रकाश डालते हैं— “कहा जाता है कि जब विद्रोह के लिए कहा गया तो हजारों हिंदू तथा मुसलमान सिपाहियों ने क्रमशः गंगाजल और कुरान हाथ में लेकर अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह में शिरकत करने का वचन दिया। चूंकि इस संगठन के नेता और कर्ता-धर्ता राजा तथा नवाब थे इसलिए इसमें धन की कमी नहीं हुई। सभी बातें अत्यंत गुप्त तरीके से होती थीं, और विद्रोहियों के एक गिरोह की बात दूसरे गिरोह को मालूम नहीं हो पाती थीं। विद्रोह के संगठन के कर्ता तथा दूत फकीर तथा साधु का भेष पहनकर इधर-से-उधर दौड़ रहे थे। विद्रोह के पांच केंद्र थे—बिठूर, दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता, सतारा। सब तैयारी हो चुकी थी।”⁶⁵

कवि इन स्थितियों का वर्णन करते हुए कहता है—

“उत्तर भारत में पूरब से पच्छिम तक तय्यारी
 डग, डग, डग, डग, बजी डुगडुगी क्या कहता है मदारी
 नट आए तो कूद-फाँद में इनकी मारामारी
 कठपुतली का नाच देखने आएँगे नरनारी
 कठपुतली के नाच की गत पर क्रांति की गरम हवा सनकी
 सुनो भाइयो, सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की
 छावनी में पटना की आते थे अक्सर एक मुल्ला
 उजली दाढ़ी, उजला कुरता और उजला पाएजामा
 मुद्दत तक गोरे नहीं समझे क्या मक़सद था उनका
 रखके किताबों में लाते थे शहर से संदेशा
 आज़ादी के दीवानों को फ़िक्र नहीं थी तन मन की
 सुनो भाइयो, सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की”⁶⁶
 कवि वहाबी विद्रोहियों का ज़िक्र करते हुए कहता है—
 ‘पटना के सब मुल्ला यूँ तो कहने को थे वहाबी
 लेकिन सर से पाँवों तलक थे सारे मुल्ला हिंदी
 उन सबने जब चार तरफ़ यह घोर निराशा देखी
 तब कुरान के जुज़दानों में एक कटार सी चमकी
 उन सबने तब पाल बनाई पैगंबर के दामन की
 सुनो भाइयो, सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की”⁶⁷

1857 की लड़ाई हिंदू-मुसलमान दोनों ने मिलकर लड़ी थी। ऊपर गुप्त जी ने इस तथ्य का खुलासा भी किया है। कवि भी कहता है कि आज़ादी पाने के लिए दोनों एक हो गये थे—

“वह काग़ज ज़न्नार की दोड़ी और तरबीह का दाना
 हिंदू मुस्लिम एके का था एक अमिट अफ़साना
 एक सतर काबा थी उसकी एक सतर बुतखाना
 दो सतरों के बीच में था आज़ादी का पैमाना
 एक जुबाँ है हिंदू मुस्लिम दोनों दिलों की धड़कन की
 सुनो भाइयो, सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की”⁶⁸

अगला अध्याय "अकेला तूफान" है। इस अध्याय में 31 मई को मेरठ की छावनी में किये गये मंगल पांडे और उनके साथियों के विद्रोह का वर्णन किया गया है। संभवतः मंगल पांडे को ही अकेला तूफान प्रतीकात्मक रूप से कहा गया है। इस में चर्बी लगे कारतूस और आटे में हड्डी मिलाने, अपने धार्मिक संस्कार पर हमले को लेकर भारतीय सैनिकों के क्षोभ और मातादीन से मंगल से हुई बहस आदि का ऐतिहासिक तथ्यों को लेकर कथा कही गयी है। अगला अध्याय 'क्रांति-कथा' है। इसमें मंगल पांडे के ललकार के बाद का वर्णन है कि पूरे देश में एक सनसनी दौड़ गयी। इस विद्रोहियों ने रोटी पर अपना संदेश लिख-लिख कर एक जगह से दूसरी जगह सूचनाएँ भिजवाईं। कवि रोटी द्वारा भेजे जाने वाले संदेशों का वर्णन करते हुए कहता है—

“रात के गहरे सन्नाटे में गाँव से मुखिया निकला
धीरे धीरे उसने काटा अगले गाँव का रस्ता
दस्तक दी उस गाँव के मुखिया के दर पर वह जागा
बाहर निकला जब वह, मुखिया तब उसने क्या देखा
रोटी देख के उसने पसारी झोली अपने दामन की
सुनो भाइयो, सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की
पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन पहुँची इक सरगोशी
इस मुखिया ने रोटी दे दी उस मुखिया ने ले ली
मेरठ के अतराफ में फैली इससे इक बेचैनी
हर मुखिया के दर पर पहुँची यूँ ही दो दो रोटी
दो रोटी में क्रांति छुनी थी बात थी उठती गर्दन की
सुनो भाइयो, सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की”⁶⁹

इस रोटी पर प्रचारित किये जा रहे संदेश को अंग्रेजी शासन समझ नहीं पायी और रोटी-संदेश ने पूरे देश में क्रांति का समौ बांध दिया—

“रोटी के पैरों में गोरे डाल न पाये बेड़ी

रोटी पूजा की थाली बनका हर घर में चमकी

हिंदुस्तानी दिल ने ही रोटी की भाषा समझी

बाँके छैले होश में आये टोपी कर ली तिरछी

रातें जाग रही थीं ऐसी हालत थी हर आँगन की

सुनो भाइयो, सुनो भाइयो, कथा सुनो सत्तावन की”⁷⁰

इसके बाद के दो अध्यायों ‘पहली किरण’ तथा ‘क्रांति-कथा’ में मेरठ से फैली क्रांति की चिंगारी ने कैसे आग का रूप धारण कर लिया, कैसे देश की जनता इस में कूद पड़ी और अंग्रेजी सेना की कहाँ-कहाँ हार हुई, का पूरे विस्तार से वर्णन है। अगले अध्याय ‘चाँदनी चौक में चरागाँ है’ में विद्रोहियों की जीत के जश्न का वर्णन है। बहादुरशाह जफ़र के अपने महल में विद्रोहियों की जीत की सूचना से प्रफुल्लित हो जाने को भी कवि दर्ज करता है। अगले अध्याय ‘गंगा के उजले धार पर’ में कवि अंग्रेजों की बौखलाहट और भारतीय विद्रोहियों के बढ़े हुए हौसले की कहानी सुनाता है। लेकिन वह बड़े अफ़सोस के साथ यह भी कहता है कि अंग्रेजी फ़ौज के आगे भारतीय विद्रोहियों की हार हो जाती है। जश्न मातम में तब्दील हो जाता है। कवि हार के ज़िम्मेदार कुछ कारणों का भी उल्लेख करता है। अगले अध्याय ‘मैं हूँ अब इक लफ़्ज़’ में बहादुरशाह जफ़र के कवि व्यक्तित्व के माध्यम से उनके पूरे चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। बूढ़े बहादुरशाह जफ़र की विवशता का मार्मिक चित्रण इस अध्याय में किया गया है। अंग्रेजी शासन ने बहादुरशाह जफ़र को उनके ही महल में कैद कर दिया है। बाकी अन्य विद्रोही भी मारे जा चुके हैं। केवल रानी लक्ष्मीबाई बची हैं। बहादुरशाह जफ़र अपनी असमर्थता को धिक्कारते हैं। खुद को अपने देश की जनता का मुजरिम करार देते हैं—

“ऐ दिल्ली तू जैसी भी हो

मैंने तुझसे प्यार किया है

मैंने तुझको छोड़ने से इन्कार किया है

मैं इन अंग्रेजों का नहीं

तेरा कैदी हूँ!”⁷¹

अगले अध्याय 'कलम मंजिले दुश्वार को आसँ कर दे' में कवि रानी लक्ष्मीबाई की वीरता की गाथा बड़े जोश से सुनाता है। यह अध्याय 30 पृष्ठों का है और पूरे अध्याय में आद्योपांत रानी के शौर्य, साहस और वीरता का बखान दर्ज है। मार्क्सवादी आलोचक प्रो. कुवैरपाल सिंह लिखते हैं— "वे (राही मासूम रज़ा) सबसे अधिक प्रभावित महिलाओं की भूमिका से थे। पहली बार भारत की स्त्रियों ने अपनी प्रतिभा, त्याग और बलिदान से एक नया इतिहास बनाया। 1857 में उन्होंने खाली हज़रत महल की भूमिका का ही चित्रण नहीं किया है, सबसे अधिक महत्त्व रानी लक्ष्मीबाई तथा उनकी सहयोगी साधारण स्त्रियों को दिया है।....

रानी लक्ष्मीबाई पर राही ने अपने महाकाव्य में 40 पृष्ठ लिखें हैं। शायद इतनी लंबी कविता हिंदी के किसी कवि ने नहीं लिखी,...राही ने रानी के हर पक्ष का चित्रण किया है।"⁷²

रानी लक्ष्मीबाई के मौत के साथ ही 1857 की लड़ाई ख़त्म हो जाती है। इस हार के बाद शायर व्यथित ज़रूर है लेकिन वह कहता है कि हम इस लड़ाई को भूल नहीं सकते हैं। इसें हम अपनी यादों में ताज़ा रखेंगे। यह लड़ाई अभी ख़त्म नहीं हुई है। लड़ाई तो अब शुरू हुई है—

“हम न इसको कभी यूँ जाँ से गुज़रने देंगे

हम इसे याद बना लेंगे, न मरने देंगे

टूट कर बरसेगी, यह ऐसी घटा है शायर

अब तो इस जंग का आगाज हुआ है शायर”⁷³

अगला अध्याय 'गोमती' नाटक की शकल में है। यह 1857 के महाविद्रोह के बाद के उजड़ चुके लखनऊ का चित्र प्रस्तुत करता है। 1857 में जीत के बाद अंग्रेज़ों ने किस तरह आम निहत्थे लोगों को प्रताड़ित किया, उनपर भयानक अत्याचार किया, विद्रोहियों का बदला आम लोगों से लिया। यह अध्याय अंग्रेज़ों की इस बर्बर कृत्य को दर्ज करता है। यहाँ लखनऊ पूरे देश का रूपक बन जाता है। परदे के उठते ही जो दृश्य सामने आता है, वह लखनऊ का दर्द बयाँ करते हैं— “एक लुटा हुआ बाज़ार। कहीं—कहीं से अब भी धुआँ निकल रहा है। सामान बिखरा पड़ा है। कुछ लाशें भी पड़ी हुई हैं।

गाहे-बगाहे बन्दूक चलने और लोगों के चीखने की आवाज़ें आती हैं। बूढ़ा दुखित है, बुत के सामान खड़ा, लुटे हुए बाज़ार को देख रहा है। कोरस गाना गाता है।⁷⁴ 1857 के सफ़र पर निकला शायर जब लखनऊ पहुँचता है तो वह लखनऊ को पहचान नहीं पाता है और बार-बार उस बूढ़े आदमी से यही पूछता है कि 'राही अब थक के चूर है बाबा/लखनऊ कितनी दूर है बाबा।' बूढ़ा आदमी उससे कहता है कि 'लखनऊ? कैसा लखनऊ शायर/तुमको है किसकी जुस्तजू शायर/दिल का बाज़ार लुट गया शायर/लखनऊ अब कहाँ रहा शायर।'⁷⁵ बंदूक चलने की आवाज़ नज़दीक आती है। लोगों के चीखने और कराहने की आवाज़ आनी शुरू हो जाती है। बूढ़ा डर के मारे लाशों के ढेर में छुपने की कोशिश करता है। वह शायर से भी कहता है कि वह भी इसी तरह लाशों के ढेर में छुप कर अपनी जान बचाए। औरतों और बच्चों का गिरोह चीखता-चिल्लाता हुआ दूसरी ओर निकल जाता है। उसके पीछे अंग्रेज़ सिपाहियों का एक झुंड भी गोलियाँ चलाता हुआ आता है।⁷⁶ इसके बाद गोमती का प्रवेश होता है। अंग्रेज़ सिपाही गोमती की तलाश में ही हैं। गोमती, शायर और बूढ़े के बीच बहुत ही मार्मिक संवाद होता है। अंग्रेज़ सिपाही गोमती को ढूँढ़ ही लेते हैं। और गोमती को सलीब पर लटका देते हैं। थोड़ी देर बाद गोलियों की आवाज़ से स्टेज गूँज उठता है। सिर्फ़ शायर ज़ख्मी हालत में बचता है। कोरस गाना गाता है और नाटक समाप्त हो जाता है। अंतिम अध्याय 'इख़्तामिया' में शायर 1875 के सफ़र से वापस लौट आया है। वह इस महाविद्रोह को 'आम जनता की आज़ादी की आरजू' कहता है। गुलामी का बीड़ा उतार फेंकने की आरजू ही थी जिसने पूरे देश को एकजुट किया था और आज़ादी पाने की एक नयी राह दिखायी थी। शायर कहता है कि 1857 भारत के लिए एक नयी सुबह, एक नयी किरण है—

“मेरी आवाज़ पे आवाज़ दे, ऐ आरज़े वतन!

वादिए गंगों—जमन ! मेरे ख़्यालों के चमन !

देख वह सुबह हुई, फूट रही है वह किरण

सुन मेरे पैरों की चाप ओर मेरे दिल की धड़कन

जाग ! दीवानों के दामन की हवा लाया हूँ

तोहफ़ए खूने शहीदाने वफ़ा लाया हूँ।”⁷⁷

इस प्रकार अपने लेखों और अपनी कविताओं के माध्यम से राही औपनिवेशिक इतिहासलेखन, औपनिवेशिक नीतियाँ तथा औपनिवेशिक प्रणालियों की समीक्षा करते हैं और उन्हें अलोकतांत्रिक तथा अमानवीय सिद्ध करते हैं। देसी जनता और उनके प्रतिरोध को रेखांकित करते हैं और एक मानवीय संस्कृति के निर्माण की पक्षधरता करते हैं।

संदर्भ

1. औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति शिक्षा और संस्कृति की राजनीति, नगूगी वा थ्योंगो, अनुवादक—आनंदस्वरूप वर्मा, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 1999, नई दिल्ली, पृ. 113
2. औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष, के. एन. पनिककर, अनुवादक—आदित्य निगम, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 2003, नई दिल्ली, पृ. 130
3. औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति शिक्षा और संस्कृति की राजनीति, नगूगी वा थ्योंगो, अनुवादक—आनंदस्वरूप वर्मा, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 1999, पृ. 167—168
4. वही, पृ. 197—198
5. औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष, के. एन. पनिककर, अनुवादक—आदित्य निगम, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 2003, पृ. 77
6. वही, पृ. 84
7. वही, पृ. 132—133
8. औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति शिक्षा और संस्कृति की राजनीति, नगूगी वा थ्योंगो, अनुवादक—आनंदस्वरूप वर्मा, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 1999, पृ. 114
9. वही, पृ. 128
10. वही, पृ. 118
11. वही, पृ. 114—115
12. वही, पृ. 119
13. पोस्टकोलोनियल थ्यरी, ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन, लीला गांधी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998, पृ. 27—28
14. औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति शिक्षा और संस्कृति की राजनीति, नगूगी वा थ्योंगो, अनुवादक—आनंदस्वरूप वर्मा, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 1999, पृ. 120—121
15. लगता है बेकार गये हम, राही मासूम रज़ा, वाणी प्रकाशन, 1999, नई दिल्ली, पृ. 9
16. वही, पृ. 11
17. वही, पृ. 15
18. वही, पृ. 21
19. वही, पृ. 89—90

20. खुदा हाफिज कहने का मोड़, राही मासूम रज़ा, वाणी प्रकाशन, 1999, नई दिल्ली, पृ. 34
21. वही, पृ. 52
22. 1857 महाक्रांति या महाविद्रोह, संपा. प्रदीप सक्सेना, प्रवीण प्रकाशन, 2008, नई दिल्ली, पृ. 7
23. वही, पृ. 173
24. 1857 एंड ऑफ्टर : लिटरेरी रिप्रिजेंटेशन्स, संपा. आर. एन. राय, अनीता सिंह, अर्चना कपूर, पेनक्राफ्ट इंटरनेशनल, 2009, नई दिल्ली, पृ. 17
25. वही, पृ. 39
26. 1857, बगावत का दौर, संपा. द्वारिकाप्रसाद चारुमित्र, मुरली मनोहरप्रसाद सिंह, अनभै साँचा, जुलाई-दिसंबर 2007, पृ. 50
27. 1857 महाक्रांति या महाविद्रोह, संपा. प्रदीप सक्सेना, प्रवीण प्रकाशन, 2008, नई दिल्ली, पृ. 9-10
28. वही, पृ. 202-203
29. वही, पृ. 440
30. 1857 एंड ऑफ्टर: लिटरेरी रिप्रिजेंटेशन्स, संपा. आर. एन. राय, अनीता सिंह, अर्चना कपूर, पेनक्राफ्ट इंटरनेशनल, 2009, पृ. 19-20
31. 1857: इतिहास का पुर्ननिर्माण, मुबारक अली, अनुवाद: अशोककुमार पांडेय, प्रगतिशील वसुधा-76, संपा. कमला प्रसाद, जनवरी-मार्च 2008, पृ. 107
32. 1857 भारत का पहला मुक्ति संग्राम, संपादक-देवेद्र चौबे, बद्रीनारायण, हितेंद्र पटेल, प्रकाशन प्रकाशन संस्थान, 2008, पृ. 9
33. क्रांतिकथा 1857, राही मासूम रज़ा, संपा. एवं संक. कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, 2009, भूमिका
34. 1857 भारत का पहला मुक्ति संग्राम, संपादक-देवेद्र चौबे, बद्रीनारायण, हितेंद्र पटेल, प्रकाशन प्रकाशन संस्थान, 2008, पृ. 8-9
35. वही, पृ. 15
36. क्रांतिकथा 1857, राही मासूम रज़ा, संपा. एवं संक. कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, भूमिका
37. वही, भूमिका

38. वही, भूमिका
39. मेरी तेरी उसकी बात, राजेंद्र यादव, हंस, जून 2006, पृ. 28
40. क्रांतिकथा 1857, राही मासूम रज़ा, संपा. एवं संक. कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, भूमिका
41. वही, भूमिका
42. क्रांतिकथा 1857, राही मासूम रज़ा, संपा. एवं संक. कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, भूमिका
43. वही, भूमिका
44. वही, पृ. 21
45. वही, भूमिका
46. वही, पृ. 22
47. वही, पृ. 25
48. वही, पृ. 28
49. वही, पृ. 30
50. वही, पृ. 32
51. वही, पृ. 33
52. वही, पृ. 33
53. 1857 महाक्रांति या महाविद्रोह, संपा. प्रदीप सक्सेना, प्रवीण प्रकाशन, 2008, नई दिल्ली, पृ. 106
54. क्रांतिकथा 1857, राही मासूम रज़ा, संपा. एवं संक. कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 34
55. वही, पृ. 35
56. वही, पृ. 34
57. वही, पृ. 36
58. वही, पृ. 46
59. वही, पृ. 46
60. 1857 महाक्रांति या महाविद्रोह, संपादक—प्रदीप सक्सेना, प्रवीण प्रकाशन, 2008, पृ. 107

61. क्रांतिकथा 1857, राही मासूम रज़ा, संपादन एवं संकलन— कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, पृ. 47
62. वही, पृ. 49
63. वही, पृ. 51
64. 1857 महाक्रांति या महाविद्रोह, संपादक—प्रदीप सक्सेना, प्रवीण प्रकाशन, 2008, पृ. 105—106
65. वही, पृ. 106—107
66. क्रांतिकथा 1857, राही मासूम रज़ा, संपादन एवं संकलन— कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, पृ. 42
67. वही, पृ. 52
68. वही, पृ. 53
69. वही, पृ. 55
70. वही, पृ. 76
71. वही, पृ. 173
72. क्रांतिकथा 1857, राही मासूम रज़ा, संपादन एवं संकलन— कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, पृ. 203
73. वही, पृ. 207
74. वही, पृ. 208
75. वही, पृ. 208
76. वही, पृ. 210—211
77. वही, पृ. 227

अध्याय छह

राही मासूम रज़ा की भाषा और
उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ

राही मासूम रज़ा की भाषा और उत्तर औपनिवेशिक यथार्थ

जैसा पिछले अध्यायों में हमने देखा कि औपनिवेशिक विमर्शों ने न केवल आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण को ही अपना हथियार बनाया बल्कि सांस्कृतिक रूप से भी उपनिवेशित देशों पर भीषण हमला बोल दिया। इसके लिए औपनिवेशिक विमर्शों ने उपनिवेशित और उपनिवेशक को लेकर अनेक मिथकों और छवियों का निर्माण किया। इन मिथकों ने औपनिवेशिक साम्राज्यवादी कुकृत्यों को एक वैधानिकता प्रदान की। इन मिथकों को पहले खूब प्रचारित किया गया जिसमें यूरोपीय साहित्यकारों ने भी भरपूर योगदान दिया। एडवर्ड सईद ने इस ओर ईशारा किया है। वस्तुतः इन मिथकों के सहारे उपनिवेशकर्त्ता देश उपनिवेशित देश के आंतरिक संरचना को धीरे-धीरे कमज़ोर करता हुआ, उसके मन-मस्तिष्क पर सदियों के लिए सवार हो जाता है— “उपनिवेशित देश में हीनता-बोध का मिथ गढ़कर और शिक्षा-पद्धति के जरिये इसको पुनः परिचित करा कर इसे उपनिवेशित के दिलो-दिमाग के भीतर पैबस्त कर दिया गया। एक बार ऐसा हो गया तो, इन मिथकों ने एक ऐसे कोण को अर्जित कर लिया जिसके द्वारा उपनिवेशित अपने आप को उपनिवेशक के आईने से देखने लगा। इस भीतर तक धँसे हीनता-बोध के मिथ ने उपनिवेशित के सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन की बुनावट को भीतर-भीतर खाना शुरू कर दिया।”¹ ऐसा ऐतिहासिक चेतना और शिक्षा के ढाँचे को नष्ट करके हुआ। ओम. पी. जुनेजा कहते हैं कि “इतिहास-निर्माण की प्रक्रिया से बाहर उठाकर फेंके जाने के पश्चात् उपनिवेशित अपने आप को लेकर शंकित हो गया और अपने बौद्धिक, सामाजिक, धार्मिक और यहाँ तक कि अपने शारीरिक हीनताबोध के मिथ को उसने स्वीकार कर लिया।... यहाँ तक कि शिक्षा, जिसे उपनिवेशक की ज़रूरतों के मुताबिक ढाला गया था, ने उपनिवेशित को उसके एक सुनिश्चित ढाँचे में रखा। उपनिवेशक उपनिवेशित के अतीत को इतिहास के तथ्यात्मक ढाँचे को बदल कर नष्ट कर देता है तथा उपनिवेशित के ऐतिहासिक अतीत को अपने हित के लिए विरूपित एवं विकृत कर देता है। गलियों के नाम

THESIS

बदल कर, अपने नायकों की प्रतिमाएँ लगवाकर, अपने देश के आर्किटेक्ट मुताबिक भवन निर्माण करके, उपनिवेशक उपनिवेशित की स्मृति से अतीत को हर तरह से मिटा देने को प्रयास करता है और उसमें (उपनिवेशित) में अपनी ही सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति वैर भाव उत्पन्न कर देता है।... और अंत में उपनिवेशक एक दूसरी भाषा का प्रयोग करना भी सीखाता है।”²

भाषा प्रायः उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन का केंद्र बिंदु रही है। उपनिवेशवाद के दौरान, उपनिवेशक आम तौर पर उपनिवेशित जनता पर अपनी भाषा को थोपता है तथा देसी जनता के मानस में उनकी अपनी ही मातृभाषा के प्रति अप्रीति उत्पन्न कर देता है। कुछ जगहों पर तो उपनिवेशकों ने व्यवस्थित ढंग से देसी भाषाओं का उन्मूलन किया और उनके बोलने तक पर पाबंदी लगा दी। अफ्रीकी महाद्वीप के कई देशों में स्थापित उपनिवेशवादी स्कूलों में देसी भाषा का प्रयोग वर्जित एवं दंडनीय था। इस प्रकार के औपनिवेशिक कठोर नियमों के कारण अपनी भाषा को उपनिवेशित विस्मृत कर बैठा और स्वाधीनता के उपरांत भी वह उपनिवेशक की ही भाषा का प्रयोग करने लगा। यह एक ख़तरनाक स्थिति थी। उपनिवेशित द्वारा अपनी भाषा को विस्मृत कर देने का संबंध केवल भाषा तक ही सीमित नहीं रहता है, उसके भीतर अपनी संस्कृति के प्रति भी वैर भाव उत्पन्न हो जाता है। इस संबंध में अफ्रीकी उत्तर औपनिवेशिक चिंतक न्गूगी वा थ्योंगो ने पर्याप्त विचार प्रस्तुत करते हुए दिखाया है कि किस प्रकार भाषा संस्कृति की वाहक होती है और किस प्रकार भाषाई साम्राज्यवाद स्थापित किया जाता है। न्गूगी किसी भी देश के लिए उसकी अपनी भाषा की महत्ता बताते हुए कहते हैं— “भाषा उस समुदाय विशेष के सांस्कृतिक जगत की वाहक है और उस जगत के अंदर उस समुदाय की अपनी विशिष्टताएँ हैं और इन विशिष्टताओं के साथ यह धारणा जुड़ी हुई है कि सही क्या और गलत क्या है, अच्छा और बुरा क्या है, सुंदर और असुंदर क्या है। संक्षेप में कहें तो उसके पास नीति और सौंदर्यबोध की समूची प्रणाली है जो भावनाओं, आवेगों और प्रवृत्तियों से संबद्ध है और यही उनकी पहचान और अस्मिता का आधार तैयार करती है, या उनके होने का उन्हें एहसास कराती है।”³ आगे न्गूगी भाषा पर होने वाले साम्राज्यवादी हमले को रेखांकित करते हुए कहते हैं— “साम्राज्य निर्माताओं को हमेशा इसकी जानकारी रही और शासित लोग अपने भविष्य की

कल्पना कैसे करें, इसे आकार देने के प्रयास में उन्होंने स्पष्ट तौर पर देखा कि शासित समुदाय के अभिजनों को उनकी भाषाओं से असंबद्ध करने और साम्राज्यवादी सत्ता की भाषाओं को उनके मस्तिष्क में अक्षरशः प्रत्यारोपित करने का कितना महत्त्व है। जहां परंपरागत अभिजात वर्ग ने प्रत्यारोपण का विरोध किया क्योंकि वे अपनी भाषाओं और संस्कृतियों से बेहद गहराई के साथ जुड़े थे, साम्राज्य निर्माताओं ने नए स्कूलों और कालेजों के आपरेशन थिएटरों में बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक शल्य चिकित्सा के ज़रिए एक नए अभिजात वर्ग का निर्माण कर दिया।⁴

जहाँ तक उत्तर औपनिवेशिक चिंतकों का सवाल है, भाषा को लेकर उनमें दो मत थे। पहला मत था कि देसी भाषाओं की ओर पूर्णतः लौट आना चाहिए। इसमें न्गूगी वा थ्योंगो ही सबसे मुख्य थे। दूसरा मत था कि उपनिवेशकों के इस दंभ कि उनकी भाषा श्रेष्ठ है, ईश्वरीय भाषा है, और इसे असभ्य (उपनिवेशक) नहीं बोल सकता है, को तोड़ने के लिए उनकी ही भाषा को अपने देश तथा परिवेश के अनुसार ढाल कर प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार के चिंतकों में अफ्रीकी चिनुआ अचेबे मुख्य थे।

जिन रचनाकारों ने सबसे उग्र रूप से अंग्रेज़ी भाषा का विरोध किया, उनमें न्गूगी सबसे मुख्य थे। उन्होंने सफलतापूर्वक अंग्रेज़ी में लेखन के पश्चात अपनी मातृभाषा 'गिकियू' में पूरी तरह से लिखना आरंभ कर दिया। अपनी पुस्तक 'Decolonising the mind' में उनका कहना है कि भाषा केवल विश्व को ही व्याख्यायित करने साधन मात्र नहीं है, वह खुद को भी समझने का एक ज़रिया है। उनके लिए अंग्रेज़ी भाषा अफ्रीका पर एक सांस्कृतिक बम की तरह गिरा है, जिसने आम अफ्रीकियों की चेतना से देसी संस्कृति और इतिहास को विस्मृत कर दिया है। फलस्वरूप अफ्रीका एक नये प्रकार की गुलामी में फँस गया है।

न्गूगी के लिए अपनी मातृभाषा गिकियू की तरफ लौटना न केवल गिकियू परंपरा की ओर लौटना था, बल्कि अपने गतिशील वर्तमान को स्वीकारने तथा उसे संप्रेषणीय भी बनाना था। न्गूगी के लिए भाषा और संस्कृति अभिन्न अंग हैं। भाषा की हानि होने पर संस्कृति का भी ह्रास होती है।

दूसरी तरफ़ अफ्रीका के नाइजीरिया के चिनुआ अचेबे हैं, जो अंग्रेज़ी भाषा में ही लिखने की वक़ालत करते हैं। अचेबे के अनुसार इस भाषा में वह अपने भावनाओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति ज़्यादा असरदार ढंग से कर सकते हैं। अचेबे का कहना है कि, “मुझे लगता है कि मेरे अफ्रीकी अनुभवों की असरदार अभिव्यक्ति अंग्रेज़ी भाषा में ही हो सकेगी। लेकिन इसके लिए एक नई अंग्रेज़ी गढ़नी होगी, जो अपनी उद्गम भूमि के पूरी तरह अनुरूप तो होगी लेकिन नए अफ्रीकी परिवेश के अनुसार वह थोड़ी बदली हुई होगी।”⁵

भाषाई साम्राज्यवाद पद चिंतन करने वाले अन्य उत्तर औपनिवेशिक चिंतकों में बिल ऐशक्राफ्ट, सलमान रश्दी, एजाज़ अहमद, हरीश त्रिवेदी और मकरंद परांजपे आदि हैं।

भाषायी साम्राज्यवाद और भारत :

औपनिवेशिक देशों में भाषा की दृष्टि से भारत की स्थिति थोड़ी भिन्न रही है। भारत विविधताओं का देश है। भौगोलिक स्थिति, स्रोतों, जनसांख्यिकी, संस्कृति, भाषा आदि में विविधता पायी जाती है। भाषा में विविधता इस देश की एक प्रधान विशेषता थी। संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल 22 भाषाओं के अतिरिक्त हज़ारों तो बोलियाँ हैं। भाषाओं की यह विविधता ही भारतीय संस्कृति को बहुरंगी आयाम प्रदान करते हैं।

भारत में हिंदी-उर्दू विवाद की शुरुआत ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत में मज़बूती से स्थापित होने के बाद ही परिलक्षित होने लगती है। चूँकि भारत में अंग्रेज़ी का सीधा मुकाबला, किसी एक भाषा से न होकर अनेक बोलियों से मिलकर बनी तथा दो शैलियों वाली भाषा जिसे हिंदुस्तानी कहा जा सकता है, से था। यहाँ अंग्रेज़ी के साम्राज्यवादी विस्तार के लिए इन दोनों शैलियों के मध्य विभेदक रेखा खींच कर तथा उन्हें धार्मिक आवरण पहना कर ही, इस लक्ष्य को हासिल करने में सुविधा हुई।

हिंदी-उर्दू दो शैलियों में लिखे जाने वाली एक ही भाषा थी। यह समानता भाषाई आधार पर थी। रामविलास शर्मा हिंदी-उर्दू को धर्म के आधार पर अलग-अलग भाषा मानने का जोरदार विरोध करते हैं और कहते हैं— “स्पष्ट है कि संसार में एक हिंदुओं की भाषा, एक मुसलमानों की भाषा, एक बौद्धों या ईसाइयों

की भाषा नहीं है। भाषाओं का निर्माण और विकास धर्म के आधार पर नहीं हुआ। धार्मिक विचारधाराओं के कारण उनके लिखने-बोलने वालों ने उनमें कुछ नई विशेषताएँ पैदा की हों, वह दूसरी बात है। भाषा का सम्बन्ध जातीयता से है, किसी जाति के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास से है। जाति और धर्म एक वस्तु नहीं है। ईरानी, इराकी, तुर्की जातियाँ इस्लाम धर्म मानती हैं किन्तु इनकी अपनी-अपनी भाषाएँ हैं, उन जातियों के प्रदेशों में हिन्दु-मुसलमान दोनों ही उन भाषाओं को बोलते हैं, उनमें अपना सांस्कृतिक कामकाज करते हैं।”⁶

रामविलास शर्मा भाषाई आधार पर इन दोनों भाषाओं को सामान मानते हुए कहते हैं कि, “उर्दू का बोलचाल वाला रूप वही या प्रायः वही है जो हिन्दी का है। इस रूप का एक नाम खड़ी बोली है। इसे बोलने वाले हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई अनेक धर्मों के लोग हैं। इस रूप को न तो मुसलमानों ने जन्म दिया, न उसे अवध और बिहार में फैलाने में एकमात्र उन्होंने भाग लिया। फ़ारसी के राजभाषा रहने के कारण इस खड़ी बोली में फ़ारसी के सैकड़ों शब्द आये। फ़ारसी के माध्यम से सैकड़ों अरबी शब्द भी खड़ी बोली में आये।”⁷ प्रसिद्ध उर्दू साहित्येतिहासकार एहतेशाम हुसैन का कहना है कि, “भाषाई दृष्टिकोण से सच्चाई यही है, यह कहना सही नहीं है कि हिन्दी-उर्दू दो भाषाएँ हैं। किसी भी भाषाविद ने यह मत नहीं दिया है।”⁸ ‘बाबाए-उर्दू’ कहे जाने वाले अब्दुल हक़ का कहना है कि, “यह एक एकदम स्पष्ट तथ्य है और आगे किसी भी प्रकार की गुंजाइश नहीं रहती है कि जो भाषा हम बोलते और लिखते हैं और जिसे उर्दू नाम से पुकारते हैं, वह हिन्दी से निकली है और हिन्दी से ही बनी है।”⁹ आबे-हयात जैसा कवियों का जीवनवृत्त लिखने वाले मौलाना हुसैन आज़ाद ने कहा— “यह बात सभी जानते हैं कि हमारी भाषा उर्दू का उद्गम ब्रज भाषा में है।” 1874 के अंजुमने पंजाब के एक भाषण में उन्होंने कहा कि उर्दू अपने मूल में ब्रजभाषा या भाखा (हिन्दी) से निकली है जो सभी जानते हैं कि संस्कृत से निकले हैं....उर्दू भाषा से निकली है; जो शब्द पहले से उसमें विद्यमान थे, वे रहे और नये शब्द जोड़े गये।¹⁰ अंग्रेज़ी में उर्दू अदब का इतिहास लिखने वाले रामबाबू सक्सेना ने उर्दू का उद्गम ब्रजभाषा को न मानकर पश्चिमी हिन्दी (खड़ी बोली) में ढूँढा है— “अपने मूल से उर्दू सदियों से दिल्ली तथा मेरठ के आसपास बोले जाने वाली पश्चिमी हिन्दी की एक बोली है और जो सीधे शौरसेनी प्राकृत से जुड़ती है।”¹¹

लेकिन उर्दू अदब और भाषा पर विचार करने वाले एक अन्य विचारक शम्सुर्रहमान फ़ारूकी ने हिंदी को उर्दू भाषा से निकली हुई भाषा मानते हैं, हालाँकि उनका कहना है कि उर्दू शब्द का प्रयोग तो 1780 के आस-पास हुआ। वह अपने उर्दू अदब का इतिहास में कहते हैं कि, “आज जिसे उर्दू कहते हैं, उसके प्रारंभिक नाम हिंदवी, हिंदी, देहलवी, गुजरी, दकनी तथा रेख़्ता थे.... यह द्रष्टव्य है कि वास्तव में, यहाँ तक कि बारहवीं शताब्दी में जब हिंदी शब्द का प्रयोग होता था तो उसका मतलब उर्दू था— उर्दू एक भाषा के नाम के लिए 1780 के आसपास पहली बार घटित होना प्रतीत होता है।¹² फ़ारूकी यह भी कहते हैं कि उर्दू शब्द की शुरुआत दिल्ली के पुराने नाम शाहजहाँनाबाद के लिए प्रयुक्त होता था जो बाद में शाहजहाँनाबाद शहर में प्रयुक्त होने वाली भाषा के लिए ही कहा जाने लगा।¹³ कुछ इसी तरह के विचार इंशा अल्लाह तथा सैयद अहमद खाँ ने भी प्रकट किये हैं। इंशा अल्लाह खाँ ने मूलतः फ़ारसी में लिखी अपनी रचना ‘दरियाए लताफत’ में उर्दू को शाहजहाँनाबाद शहर की भाषा कहा है— “(शाहजहाँ द्वारा अपनी राजधानी परिवर्तित करने पर नया शहर शाहजहाँनाबाद कहलाया) बहुत से विशेषज्ञ और भाषा में माहिर एक साथ इकट्ठा हुए और आम सहमति से बहुत सी भाषाओं से कुछ अच्छे शब्द छाँटकर और उन चुने हुए शब्दों में कुछ औचित्यपरक परिवर्तन तथा अभिव्यंजना में बदलाव करके दूसरे लोगों से अलग एक नयी ज़बान तामीर की और उसे उर्दू कहा।”¹⁴ सैयद अहमद ने भी शाहजहाँनाबाद के बसने और वहाँ एक नयी भाषा के जन्म लेने की बात कही है, किंतु उन्होंने उसे नयी भाषा ही कहा है, उर्दू नहीं कहा है।¹⁵

यहाँ हम पाते हैं कि जिन विद्वानों ने ब्रजभाषा और फ़ारसी मिश्रित भाषा को हिंदी-उर्दू का आधार बनाया है, उन्होंने कबीर, तुलसी, सूर, रसखान, रहीम तथा अन्य भक्त कवियों की कविता की चर्चा की किंतु जिन विद्वानों ने खड़ी बोली और फ़ारसी मिश्रित भाषा को अपने अध्ययन का आधार बनाया उन्होंने शेख वज्ही, वली तथा अन्य कवियों की कविताओं की चर्चा करते हैं। इनकी व्याख्याएँ एवं अनुप्रयोग अलग-अलग हों इनमें एक समान तत्त्व है वह है हिंदी-उर्दू को इन्होंने धर्म के आधार पर नहीं देखा तथा इन दोनों भाषाओं को भारतीय परंपरा का ही अंग माना।

अब प्रश्न उठता है कि आखिर किन परिस्थितियों में हिंदी-उर्दू में विभेद उत्पन्न हो गया और इससे भी दो कदम आगे बढ़कर इन्हें धार्मिक रूप दे दिया गया। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है कि हिंदी-उर्दू में विभेद ईस्ट इण्डिया कंपनी के भारत में स्थापित हो जाने के बाद ही लक्षित होना आरंभ होता है। चंद्रबली पांडेय अपनी पुस्तक 'भाषा का प्रश्न' में गार्सा द तासी को उल्लिखित करते हैं, जिसमें तासी ने हिंदी-उर्दू विभेद के पीछे ईस्ट इंडिया कंपनी को जिम्मेदार ठहराया है। तासी का कहना है— "यह ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति थी उर्दू को हिंदी से अलग समझा जाये। फलस्वरूप यह नया उर्दू साहित्य जो उस दौर में निर्मित हुआ उसमें सदैव अरबी तथा फ़ारसी शब्द रहे; वस्तुतः, उन्होंने एक अधिमान्य निरूपण प्राप्त कर लिया था। यह नया साहित्य स्कूलों में प्रचारित किया गया।"¹⁶ मोहम्मद हसन भी साफ़ तौर पर इस विभाजन का दोषी अंग्रेज़ों को ही मानते हैं— "ऐसी हालत में अंग्रेज़ यहाँ आए और उन्होंने मुश्तरका धारे का रुख मोड़कर उन ताकतों की हिमायत की जो मज़हबी अहिया की अलंबरदार थीं। तारीख़, तमदुन और जुबान के बारे में उन नज़रियात को उजागर किया गया, जो अलहदगी की तरफ़ रहनुमाई करते थे। जुबान को भी उन्होंने मज़हब से मुताल्लिक कर दिया और यह समझकर कि खड़ीबोली बिला शिरकत ग़ैरे हिंदुस्तान की आम जुबान होने की मुस्तहक़ है, उन्होंने इसकी शक्लो सूरत को इस क़दर तब्दील और मस्ख़ करने की कोशिश की कि वह एक दूसरे की मुख़ालिफ़ हो गई और बहुत बड़े लिसानी झगड़े का पेशखेमा बनीं।"¹⁷

ईस्ट इंडिया कंपनी ने फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना यूँ तो भारतीय शिक्षा-व्यवस्था को सुधारने के लिए थी, किंतु ग़ौर से देखा जाये तो इस प्रणाली को स्थापित करने के पीछे भी उनके अपने औपनिवेशिक हित सधते थे। किसी भी औपनिवेशिक सरकार को उपनिवेश देश में लंबे समय तक टिकने के लिए औपनिवेशित देश के आचार-विचार, रहन-सहन और वहाँ के परिवेश को जानना और समझना ज़रूरी होता है। और इसके लिए औपनिवेशित देश की भाषा का ज्ञान अत्यावश्यक होता है। इस कालेज को स्थापित करने का एक मुख्य कारण यही था। अपने शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए उन्हें ऐसे सिविल सर्वेंट्स की

आवश्यकता थी, जिन्हें यहाँ की भाषा का ज्ञान हो। फोर्ट विलियम कालेज के रेगुलेशन 9 की प्रस्तावना में कहा गया कि भारत में एक ऐसी संस्था तथा अध्ययन, शिक्षा एवं अनुशासन के सिस्टम की आवश्यकता है, जो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को स्थिरता तथा अच्छा शासन दे सके तथा सम्मानीय ईस्ट इंडिया कंपनी की सम्मान तथा हितों की पूर्ति कर सके।¹⁸ 5 सितंबर 1800 ई. को बंगाल से जो न्यायिक पत्र कालेज के डायरेक्टर को भेजा गया था, उसमें भी ईस्ट इंडिया के प्राथमिक हितों के लिए तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के लिए जरूरी बताया गया था।¹⁹ यही संभवतः वह नीति थी जो बाद में चलकर मैकाले के 1835 के उस प्रसिद्ध टिप्पणी में व्यक्त हुई थी।²⁰ हिंदी-उर्दू के बीच विवाद का जन्म फोर्ट विलियम कालेज में ही हुआ। कालेज के हिंदुस्तानी के प्रोफेसर जॉन बार्थविक गिलक्राइस्ट जो कि भाषाई पाठ्यपुस्तकों के प्रभावशाली लेखक थे, इसके जन्मदाता के रूप में हमारे सामने आते हैं। फ्रेन्चेस्का ओर्सिनी का कहना है कि गिलक्राइस्ट जो कि हिंदी और उर्दू के संरक्षक थे, ने इसे एक सातत्य की तरह देखा, जिसमें हिंदी एक गँवारू थी, गैर फारसीकृत होने के कारण निम्न स्तर की थी और फारसीकृत होने के कारण उर्दू उच्च स्तर की तथा हिंदुस्तानी इन दोनों के बीच की भाषा थी। गिलक्राइस्ट ही संभवतः वह पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने भाषा को लिपियों और धर्मों से जोड़ कर देखा। उनके हिसाब से उर्दू और हिंदुस्तानी, फारसी लिपि में, व्यापक रूप से उत्तरी भारत के मुसलमानों की भाषा थी, जबकि देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी इस इलाके के हिंदुओं की भाषा थी।²¹ गिलक्राइस्ट ने हिंदी (हिंदवी) तथा उर्दू को मुसलमानों से जोड़ कर किस प्रकार देखते हैं, उसकी एक बानगी उनके इस उद्धरण में देखी जा सकती है। गिलक्राइस्ट का कहना है— “हिंदवी को मैंने हिंदुओं की एक विशेष संपत्ति माना है और अतः निरंतर मैंने इसे भारत की पुरानी भाषा के तौर पर प्रयुक्त किया है जो मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व प्रचलन में थी और अब वास्तव में हिंदुस्तानी के मूल या आधार रूप में उनके बीच गठित हो रही है जो अरबी तथा फारसी के मिश्रण से बनी एक अपेक्षाकृत नवीन अधिरचना है।”²²

इस प्रकार औपनिवेशिक शासन में हर भाषा एवं उसकी शैली को क्षेत्र, जाति या धर्म से जोड़ा गया। हिंदी और उर्दू को हिंदू-मुसलमान की भाषा बना कर, उसे धार्मिक रूप प्रदान किया गया। अब इस सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देना बाकी था। इसको व्यावहारिकता का रंग देने के लिए 1805 में गिलक्राइस्ट ने लल्लू लाल और मीर अम्मन को फोर्ट विलियम कालेज में शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तक लिखने के लिए नियुक्त किया। लल्लू लाल को हिंदी (संस्कृतनिष्ठ) और मीर अम्मन को उर्दू (फ़ारसीनिष्ठ) भाषा में पुस्तकें रचने का आदेश दिया गया। फलस्वरूप लल्लू लाल ने इतनी तत्सम प्रधान भाषा लिखी कि खुद गिलक्राइस्ट के नाम के आगे साहेब शब्द का प्रयोग नहीं किया। वीर भारत तलवार इस तथ्य का उल्लेख राजा शिव प्रसाद सितारेहिंद के संदर्भ में करते हुए कहते हैं कि, “लल्लूलाल हिंदी के पहले लेखक थे, जिन्होंने अपने ग्रंथ प्रेमसागर में सचेत रूप से प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का बहिष्कार किया था। शिवप्रसाद ने खड़ी बोली के साहित्यिक विकास लिखते हुए हिंदी और उर्दू दोनों को, विदेशी विजातीय शब्दों से शुद्ध करने की कोशिशों की निंदा की।... बाग़ोबहार के लेखक मीर अम्मन ओर प्रेमसागर के लल्लूलाल, दोनों को बनावटी भाषा लिखनेवाला बताया। “लल्लूलाल ने फ़ारसी का इस कदर बहिष्कार किया कि खुद अपने बॉस गिलक्राइस्ट के लिए साहेब शब्द का इस्तेमाल नहीं किया। वे यह भी भूल गये कि खुद उनके नाम का आधा हिस्सा लाल फ़ारसी शब्द का है।”²³ गिलक्राइस्ट की इस योजना ने स्पष्टतः हिंदी-उर्दू को दो फाड़ में बाँट डाला।

भाषा-विभेद के बाद बारी लिपि-विभेद की थी। यहाँ भी औपनिवेशिक चाल को देखा जा सकता है। बहुत सूक्ष्मता से यह काम अंजाम दिया गया। औपनिवेशिक नीति के तहत हमेशा दो वर्गों में से कभी एक को उठाया, दूसरे को गिराया, कभी दूसरे को उठाया, पहले को गिराया। रामविलास शर्मा इस औपनिवेशिक नीति की तरफ़ इशारा करते हुए कहते हैं— “अंग्रेज़ों के राज में गाँवों की पुरानी व्यवस्था तो टूटी, लेकिन उसने सामन्तवाद ओर सामन्ती संस्कृति को भी मज़बूत भी किया। इसी जर्जर सामन्ती संस्कृति पर उन्होंने अपनी तहज़ीब का ताज रखा। हिन्दीभाषी इलाके को उन्होंने कई सूबों में बाँटा, यहाँ ताल्लुकदारों और नवाबों को पाला-पोसा, और भाषा के मामले में जातीय उत्पीड़न का एक नया

तरीका निकाला। कभी हिन्दुओं को दबाया, मुसलमानों को उभारा, कभी हिन्दुओं को उभारा और मुसलमानों को दबाया। कचहरी, अदालत और पुलिस में वह ज़बान चलाई के किसान कभी समझ ही न सके और उसे ठगने और लूटने में उन्हें आसानी हो। इस तरह एक तरफ उर्दू की धारा बही, दूसरी तरफ हिन्दी की।²⁴ इस बात की झलक हमें उनकी लिपि संबंधी विचारों के द्वैत में दिखायी देता है। संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) में न्यायालय के राजकाज की लिपि फ़ारसी थी। लेकिन ठीक उसी समय पड़ोसी प्रांत बिहार में अदालतों की लिपि फ़ारसी लिपि को हटा कर पहले कैथी, फिर नागरी कर दिया। 1870 में कैथी लिपि का प्रस्ताव रखा गया हालाँकि 1876 में निरंतरता के कारण फ़ारसी लिपि को ही बनाये रखने का प्रस्ताव आया किंतु तब ग्रियर्सन ने कहा कि कैथी बिहार से लेकर गुजरात तक संपूर्ण तथा सुरुचिपूर्ण देवनागरी के साथ-साथ चलती है। सर स्टुअर्ट वैली ने, जो तत्कालीन पटना के कमिश्नर थे, कहा था कि यह जनता की इच्छाओं के अनुरूप है, यद्यपि उन्होंने यह भी स्वीकार किया था कि नागरी लिपि का प्रयोग ज़मींदार प्रयोग करते हैं। फिर 1882 में कैथी को समाप्त कर दिया, नागरी लिपि को प्रचलन में लाया गया। हालाँकि 1875 के बाद से नागरी लिपि को छापेखाने की सामग्रियों पर लागू कर दिया गया था, और हाथ से लिखित सामग्री कैथी में ही लिखी जाती थी। 1880 में फ़ारसी लिपि को समाप्त कर दिया गया।²⁵

इन तमाम तथ्यों को देखने के बाद इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि हिंदी-उर्दू विवाद का जन्म औपनिवेशिक योजनाओं के ही गर्भ से हुआ था। और बाद में इसका असर घातक साबित हुआ। यह देश-विभाजन में एक प्रमुख कारक बना। यह विवाद भारतीय समाज में इतने गहरे तक धँसा कि 1947 के बाद भी इस विवाद से निकला न जा सका। भारतीय अवसरवादी राजनीति ने भी इस विवाद को हल करने के बजाए भड़काया ही। उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार इन विवादों की जड़ में जाकर समस्या का समाधान ढूँढने की कोशिश करते नज़र आये हैं। इस्मत चुगताई, मंटो, राजेंद्र सिंह बेदी, कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, अमरकांत आदि ऐसे ढेरों नाम हैं, जो इस विवाद से परे जाकर हिंदुस्तानी भाषा में लिखते रहे और साथ-ही-साथ इस विवाद का कारण और हल भी ढूँढते रहे। राही मासूम रज़ा ने भी लेखन के लिए आम हिंदुस्तानी भाषा का प्रयोग किया और अपने लेखों में इस विवाद के कारणों की भी समीक्षा की।

राही मासूम रज़ा हिंदी-उर्दू विभेद पर बहुत ही विचारोत्तेजक बात करते हैं। वह न केवल हिंदी-उर्दू भाषा और लिपि के विवाद पर विचार करते हैं, बल्कि काव्य भाषा, बोलचाल की भाषा और गद्य-भाषा पर भी विचार करते हैं। अपने साहित्यिक लेखों के संग्रह 'खुदा हाफ़िज़ कहने का मोड़' में वह इस विषय की पड़ताल करते हैं।

अपने पहले ही लेख 'प्यारे लिखूँ कि प्रिय' में वह भारतीय भाषाई विभिन्नता के बीच एकता की हिमायत सांस्कृतिक एकता के माध्यम से करते हुए कहते हैं— "हाँ, कोई ये सवाल ज़रूर कर सकता है कि इतनी भाषाओं और इतनी राष्ट्रीयताओं के एक देश का 'कल्चर' एक इकाई कैसे हो सकता है। मैं बताता हूँ, सारे हिंदुस्तान में अनाज खाया जाता है। आँगन चौकोर नहीं होता, दरवाज़े पूरब-पश्चिम होते हैं और बेसिला हुआ लिबास हमारा लिबास है यानी साड़ी-धोती से कफ़न तक—यानी बुनियादी तौर पर खाना, लिबास और मकान सारे हिंदुस्तान में एक हैं। अब रहा प्रश्न भाषाओं का। सिंधी और उर्दू के अलावा कोई भाषा दाएँ से बाएँ नहीं लिखी जाती। सिंधी और उर्दू की लिपि फ़ारसी है।"²⁶ अपने अगले लेख में राही बहुत ही सूक्ष्मता से इस बात की ओर इशारा करते हैं कि काव्य-भाषा और बोलचाल की भाषा में अंतर होता है। बोलचाल की भाषा कथा-भाषा के करीब होती है। इसी क्रम में राही 'मीर अम्मन' के बरअक्स 'तिलिस्माते होशरुबा' लिखने वाले 'नासिख' की भाषा को बोलचाल की भाषा करार देते हैं। भाषा-अध्ययन में प्रायः 'नासिख' की भाषा की उपेक्षा की गयी है। अगर नासिख की भाषा को भाषाविद् अपने अध्ययन का आधार बनाते तो संभवतः हिंदी-उर्दू का विभेद न होता। राही यहाँ उस प्रश्न पर भी विचार करते हैं, जिस पर भाषाविद् विचार कर चुके हैं कि, "खुसरू ने ग्यारहवीं सदी में जिस भाषा को पहचाना था, वह सत्रहवीं सदी तक क्या करती रही?" राही जिस भाषा का अनुरेखण कर रहे हैं वह हिंदवी या हिंदी है। इसका जवाब देते हुए राही कहते हैं— "...इसका मतलब यह हो सकता है कि यह भाषा ब्रज, अवधी और डिंगल जैसी महान् भाषाओं के राज्य में धीरे-धीरे अपनी जगह बनाती रही और अपने आप को उस दिन के लिए तैयार करती रही, जिस दिन यह ब्रज, अवधी और डिंगल को हरा कर अपने वजूद का ऐलान करनेवाली

थी। और यह अजीब बात है कि जिस दिन इस हिंदवी का सूर्य उदय हुआ उसी दिन ब्रज, अवधी और डिंगल का सूर्य मंद हो गया हो।²⁷ राही का मानना है कि भाषा का अध्ययन करते समय काव्य-भाषा और गद्य-भाषा जो कि बोलचाल की भाषा होती है, के बीच के अंतर को ध्यान में रखना होगा। वह कहते हैं— “कारण यह है कि काव्य-भाषा चाहे कितनी भी बोलचाल की भाषा दिखाई देती हो, परंतु वह एक नकली भाषा होती है और इसी में उसका हुस्न है। परंतु कथा-भाषा यदि नकली हो जाय तो कहानी मारी जाती है।... और सच पूछिए तो इसीलिए मैं मीर ‘अम्मन’ की ‘बागो-बहार’ की बातें नहीं कर रहा हूँ। ‘बागो-बहार’ लिखी गयी थी, सुनाई नहीं गई थी। और यही वजह है कि ‘बागो-बहार’ की भाषा बोलचाल की भाषा दिखाई देने के बाद भी बोलचाल की भाषा नहीं है। मीर अम्मन की भाषा काव्य-भाषा है, परंतु ‘तिलिस्मे होशरुबा’ सुनाई गयी थी और उसका सुनाया जाना इस बात का सुबूत है कि उसमें जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उन्हें, ‘नासिख’ का लखनऊ न सिर्फ यह, कि समझता था, बल्कि उनके प्रयोग का भी बुरा नहीं मानता था।”²⁸ इस लेख के अंत में राही स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि हिंदी-उर्दू विभेद औपनिवेशिक शासन, विशेषकर फोर्ट विलियम कालेज की देन है। और हिंदी-उर्दू विभेद ने विभाजन जैसी त्रासदी के मूल में था— “.... और यदि आज यह देख सकें तो फिर आप यह भी देख सकेंगे कि पाकिस्तान वास्तव में कब और कहाँ बनना शुरू हो गया था, पाकिस्तान की बुनियाद सच पूछिए तो उन्नीसवीं सदी के आरंभ में पड़ गयी थी, कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में गिलक्राइस्ट नाम के एक अंग्रेज़ ने पाकिस्तान की बुनियाद डाली थी.....।”²⁹

अपने अगले लेख ‘उर्दू साहित्य की भारतीय आत्मा’ के आरंभ में ही राही कहते हैं कि लिपि-विवाद अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी भाषा की देन है। वह अपनी बात तार्किक ढंग से रखते हुए कहते हैं कि, “उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक यही हिंदवी देहलवी, हिंदी, उर्दू-ए-मुअल्ला और उर्दू कही गई। अब लिपि का झगड़ा खड़ा नहीं हुआ था, क्योंकि यह तो वह ज़माना था कि जायसी अपनी अवधी फ़ारसी लिपि में लिखते थे और तुलसी अपनी अवधी नागरी लिपि में। लिपि का झगड़ा तो अंग्रेज़ों की देन है।”³⁰ राही कहते हैं कि लिपि के विवाद में पड़कर एक सच्चा

भारतीय लेखक अपनी उस विरासत को नहीं भूल सकता है जिसमें भाषा धर्म के आधार पर नहीं बँटी थी और किसी भी बोली या भाषा का लेखक हो वह पढ़-पढ़ाया जाता था— “मेरे पुरखों ग़ालिब और मीर के साथ सूर, तुलसी और कबीर के नाम भी आते हैं। लिपि के झगड़े में मैं अपनी विरासत और अपनी आत्मा को कैसे भूल जाऊँ? न मैं एक लिपि की तलवार से अपने पुरखों का गला काटने को तैयार हूँ और न मैं किसी को यह हक़ देता हूँ कि वह दूसरी लिपि की तलवार से मरी, ग़ालिब और अनीस की गर्दन काटे। आप खुद ही देख सकते हैं कि दोनों तलवारों के नीचे गले हैं मेरे ही बुजुर्गों के।”³¹

राही अपने चिंतन में सांप्रदायिकता के खिलाफ़ थे। वह हर उस चाल का विरोध करते थे जिससे सांप्रदायिकता का जन्म हुआ या होता है। यही कारण है कि वह भाषा, लिपि एवं साहित्य को धर्म के आधार पर देखने के घोर विरोधी रहे हैं। उर्दू को उन्होंने कभी मुसलमानों की भाषा नहीं माना। उसे हिंदी की ही एक शैली मानते हैं और यह भी आग्रह करते हैं कि यह शैली केवल मुसलमानों की ही नहीं, बल्कि हिंदुस्तान की है। उनका कहना है— “दूसरी बात भी इसी शब्द से जुड़ी है। और हर वह बात यह है कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है। अव्वल तो भाषा और धर्म का रिश्ता जोड़ना ही गलत है। अरबी क्या मुसलमानों की ज़बान है। अरब ईसाई क्या अंग्रेज़ी बोलते हैं। बंगला किसकी भाषा है ? रवींद्रनाथ ठाकुर की या नज़रूल इस्लाम की ? यदि भाषा में धर्म फेंटा जाएगा, तो भाषा अमृत नहीं रह जाएगी, विष रह जाएगी। और यदि हम यह मानते हैं कि उर्दू हिंदी की एक शैली है तो यह शैली केवल मुसलमानों की कैसे हो सकती है ? यह बात कहकर दरअसल में हम सांप्रदायिकता के हाथ मज़बूत करते हैं।”³² राही एक नये साहित्येतिहास को लिखने की माँग करते हैं, जहाँ सांप्रदायिकता न हो, ऐसा विभेद न हो— “हम साहित्यकार हैं और हम में हिंदू-मुसलमान की सतह से ऊपर उठ कर सोचने की हिम्मत होनी चाहिए। आइए, हिंदी साहित्य का एक नया इतिहास लिखें और अपने बच्चों को बताएँ कि जायसी और तुलसी की ही तरह हमारे यहाँ मीर, ग़ालिब भी गुज़रे हैं।

और जो हम यह न कर पाएँ, तो कम-से-कम यह ऐलान करने की हिम्मत करें कि हम हार गए।”³³

राही के एक लेख का नाम ही है ‘कबीर, गिलक्राइस्ट और राँची’। इसमें राही का स्पष्ट रूप से मानना है कि हिंदी-उर्दू विवाद फोर्ट विलियम कालेज के एक अध्यापक गिलक्राइस्ट ने जन्म दिया था और यही कारण है कि यह अस्वाभाविक विभेद था और यह देश-विभाजन में एक प्रमुख कारक बना। ऐसी औपनिवेशिक नीति का विरोध करना, उत्तर औपनिवेशिक रचनाकार का स्वाभाविक प्रकार्य भी है और दायित्व भी है। राही कहते हैं— “इस झगड़े को सुलझाने के लिए फोर्ट विलियम के पहले के हिंदुस्तान में जाना पड़ेगा। पाकिस्तान का रिज़ोल्यूशन मुस्लिम लीग ने लाहौर में पास नहीं किया था। पाकिस्तान का रिज़ोल्यूशन गिलक्राइस्ट नामी एक अंग्रेज़ ने फोर्ट विलियम में रखा था जिसे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने पास किया था। भाषाओं के इतिहास में पहली बार लिपि के आधार पर भाषा को अलग करने की और हिंदुओं के लिए एक ‘लिंगुआ फ्रेंका’ बनाने की बात छेड़ कर उर्दू को मुसलमानों के सर मढ़ने की कोशिश की गई। फोर्ट विलियम की इस परंपरा का विरोध करना पड़ेगा। क्योंकि यह परंपरा देश की एकता को तोड़ती है। मैं गिलक्राइस्ट की गढ़ी हुई हिंदी को नहीं मानता। मैं उसका विरोध करता हूँ क्योंकि वह आदमी को आदमी से धर्म के नाम पर अलग करती है।”³⁴

इसके अतिरिक्त राही अपने उपन्यासों में उर्दू-हिंदी विवाद का जिक्र करते हुए उसे देश की एकता के लिए घातक करार देते हैं। ‘टोपी शुक्ला’ में इस तरह का एक पूरा प्रसंग है जहाँ कट्टर हिंदू महिला उर्दू में ही बोलती हैं और हिंदी को गँवारों की भाषा मानती हैं और एक कट्टर मुस्लिम महिला अपनी मातृभाषा भोजपुरी को ही मरते दम तक गले लगाए होती हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि राही औपनिवेशिकता प्रदत्त हिंदी-उर्दू विभेद का प्रतिरोध करते हैं और उसे देश की एकता के लिए घातक मानते हैं।

संदर्भ

1. पोस्ट कोलोनियल नॉवेल नैरेटिब्स ऑफ कोलोनियल कॉनसियस्नेस, ओम. पी. जुनेजा, क्रियेटिव बुक्स, नई दिल्ली, 1995, पृ 3
2. वही, पृ. 3-4
3. औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति शिक्षा और संस्कृति की राजनीति, नुगी वा थ्योगो, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 1999, पृ. 36
4. वही, पृ. 37
5. वही, पृ. 68
6. भारत की भाषा समस्या, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, 1978, पृ. 132
7. वही, पृ. 137
8. ए हाऊस डिवाइडेड, द ओरीजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ हिंदी/हिंदवी, अमृत राय, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984, पृ. 5
9. कदीम उर्दू, अब्दुल हक, कराची, 1961, पृ. 45
10. ए हाऊस डिवाइडेड, द ओरीजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ हिंदी/हिंदवी, अमृत राय, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984, पृ. 18
11. ए हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर, रामबाबू सक्सेना, इलाहाबाद, 1927, पृ. 1
12. हिस्ट्री ऑफ उर्दू लैंग्वेज, शम्सुर्रहमान फारूकी, ऑक्सफोर्ड प्रकाशन, 2000, 22-23
13. वही, पृ. 24
14. ए हाऊस डिवाइडेड, द ओरीजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ हिंदी/हिंदवी, अमृत राय, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984, पृ. 20
15. वही, पृ. 20
16. वही, पृ. 11
17. हिंदी अदब की तारीख, मुहम्मद हसन, एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2012, पृ. 140
18. वही, पृ 9
19. वही, पृ. 9
20. मैकाले ने एक ऐसी शिक्षा-व्यवस्था को लागू करने को कहा था जिससे 'व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग पैदा होगा जो अपने खून और रंग में तो भारतीय होगा लेकिन अपनी रुचियों, विचारों, नैतिक मूल्यों और मेधा में अंग्रेज़ होगा।'

21. बिफोर द डिवाइड : हिंदी एंड उर्दू लिटरेरी कल्चर, संपादन— फ्रेन्चेस्का ओरेनी, ओरिएंट ब्लैक स्वान, 2010, पृ. 3
22. ए हाऊस डिवाइडेड, द ओरीजिन एंड डेवेलपमेंट ऑफ हिंदी/हिंदवी, अमृत राय, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984, पृ. 2
23. रस्साकशी, वीरभारत तलवार, सारांश प्रकाशन, 2006, पृ. 72
24. भारत की भाषा समस्या, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, 1978, पृ. 88
25. www.virginia.edu/soasia/system/kisan/papers/concepts.html, बार्डर, लेंग्वेज, पीजेंटस, नेशनस : कोलोनियल कांसेप्ट्स इन इंडिया, पीटर रॉब, ड्राफ्ट कॉपी, 1997, वाल्टर हाजर चार्ल्सविले कांफ्रेंस
26. खुदा हाफिज़ कहने का मोड़, राही मासूम रज़ा, वाणी प्रकाशन, 1999, पृ. 22
27. वही, पृ. 25
28. वही, पृ. 25–26
29. वही, पृ. 30
30. वही, पृ. 31
31. वही, पृ. 32
32. वही, पृ. 99
33. वही, पृ. 101
34. वही, पृ. 104–105

उपसंहार

उपसंहार

आज उत्तर उपनिवेशवादी साहित्य और उत्तर औपनिवेशिक चिंतन विश्व-साहित्य के परिदृश्य पर अधिकाधिक व्यवहृत होने वाला अनुशासन है। इस चिंतन ने लगातार अपने आप को संशोधित एवं परिवर्तित किया है। अपने आरंभिक अर्थ-संकुचन से इसका अर्थ-विस्तार हुआ। पहले यह मुख्यतः उपनिवेशों द्वारा औपनिवेशिकता से मुक्ति के पश्चात के कालखंड का सूचक था, लेकिन अब इसका प्रयोग एक स्वतंत्र अवधारणा के संदर्भ में होने लगा है। कहने का आशय यह है कि जब उत्तर उपनिवेशवाद जैसा पद आया, तो पहले इसका अर्थ कालक्रम के सूचक के रूप में लिया गया। बाद में यह राजनीतिक रूप से मुक्ति वाला अर्थ देने लगा, किंतु तेज़ी से बदलते विश्व-परिदृश्य, जीवन-मूल्य तथा विभिन्न विचारों एवं व्यवहारों के बीच बदलते रिश्तों के कारण इसने एक नया स्वरूप ग्रहण कर लिया। अब माना जाने लगा कि 'उत्तर उपनिवेशवाद' सिद्धांत के तौर पर किसी कालक्रम का सूचक न होकर, एक स्वतंत्र अवधारणा है, जिसकी मदद से ग़ैर पश्चिम के अध्येताओं ने उन तमाम भ्रामक पाठालोचनाओं एवं साहित्यिक कसौटियों पर प्रश्न खड़ा कर दिया, जिन्हें अब तक पूरी दुनिया मानती आयी थी। इस विमर्श के कदम यहीं नहीं रुके; इसने और आगे बढ़कर पूरब की कृतियों के ही संबंध में नहीं, बल्कि पश्चिम की मानक कृतियों का भी अपने नज़रिये से पुनर्पाठ किया।

1970 में सर्वप्रथम हमज़ा अल्वी तथा जॉन एस सोल ने इस शब्द का प्रयोग किया। हालाँकि चिंतन के तौर पर 1970 से काफी समय पहले अनेक चिंतकों ने इस कार्य को अपनी-अपनी दृष्टियों से किया। इस संदर्भ में सभ्यता-धर्म-समाज-संस्कृति-राजनीति के क्षेत्र में विवेकानंद, गांधी और टैगोर का चिंतन अत्यंत महत्वपूर्ण है। फूको, देरिदा, ग्राम्शी, अल्थ्यूस्सर आदि ने मुख्यतः भाषा, साहित्य, संस्कृति, परंपरा, सत्तागत विमर्शों एवं नीतियों की अवधारणा पर विचार किया। सीधे तौर पर उत्तर औपनिवेशिक विमर्श से इनका संबंध न रहा हो, किंतु इस विमर्श की सैद्धांतिकी एवं चिंतन की आधारभूमि इनके चिंतन के आधार पर ही बनी।

एक विचार के रूप में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौर के ख़त्म होने के बाद अनेक आज़ाद देशों में नये साहित्य के सृजन के साथ ही इसका जन्म हो गया था। 20वीं सदी के अंतिम दशक तथा 21वीं सदी के आरंभ के साथ ही इस सिद्धांत को विश्वव्यापी प्रचार मिला। इससे पहले यह सिद्धांत—अध्ययन केवल उच्च संस्थानों एवं प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों तक ही सीमित रहा किंतु अब इस विषय पर केंद्रित पाठ्यक्रमों का भी प्रारंभ हुआ, जिससे इसका प्रसार—प्रचार तीव्रता से हुआ। 1958 में फ्रांज़ फ़ैनन की कृति 'The wretched of the earth' प्रकाशित होने के उपरांत औपनिवेशिक देशों के समक्ष यह रहस्य खुला कि उपनिवेशीकरण के दौर में उनका न केवल राजनैतिक—आर्थिक रूप से ही बेइंतहा शोषण हुआ, बल्कि सांस्कृतिक रूप से भी उन्हें खोखला कर दिया गया है। अतः औपनिवेशिकता से राजनैतिक मुक्ति का तब तक कोई अर्थ नहीं रह जाता, जब तक मानसिक रूप से औपनिवेशिकता से मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती। मानसिक औपनिवेशिकता से मुक्ति तभी संभव है जब हम (उपनिवेशित) अपने देश की संस्कृति और साहित्य का नये सिरे से अध्ययन करें। सन् 1978 में उत्तर उपनिवेशवाद को एक सिद्धांत में विकसित किया एडवर्ड सईद ने। उन्होंने उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन को नयी दिशा दी और उन्होंने यह कार्य अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Orientalism' (प्राच्यवाद) में किया। सईद ने पश्चिम के क्लासिकी आलोचनात्मक मानदंडों की खामियों का उद्घाटन किया, साथ ही उन मानदंडों पर महान् सिद्ध की गयी रचनाओं का पुर्नपाठ प्रस्तुत कर बुद्धिजीवियों का ध्यान इस अध्ययन की ओर खींचा। उन्होंने किसी भी काल में लिखी गयी रचना को इस दृष्टि से देखने का रास्ता खोला। सईद ने अपने से पूर्व के चिंतकों से प्रेरणा तो अवश्य ग्रहण की, किंतु साथ ही इनके सिद्धांतों को पूरब के संदर्भ में व्याख्यायित भी किया। सईद के इस कार्य से इस सैद्धान्तिकी को साहित्यिक आयाम के साथ—साथ एक स्पष्ट राजनीतिक आयाम भी मिल गया। इस तरह इस विमर्श को अकादमिक अध्ययन के केंद्र में स्थापित करने का श्रेय फ़ैनन और सईद को जाता है। सईद के बाद होमी. के. भाभा एवं गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक का नाम उल्लेखनीय है। भाभा और स्पीवाक भी सईद की भाँति अस्सी के दशक के आरंभ में उत्तर औपनिवेशिक चिंतन के प्रमुख स्वर बन गये थे। उत्तर औपनिवेशिक सिद्धांत के भीतर भाभा के कुछ सिद्धांत तो बहुत ही विचारोत्तेजक थे। सईद ने जहाँ भौतिकवादी सैद्धान्तिकी (materialist theoretical) को अपने चिंतन में प्रमुखता दी,

वहीं भाभा ने मनोविश्लेषणवाद को। भाभा सिग्मंड फ्रायड, उत्तर संरचनावादी जैक्स लैकन और फ़ैनन से प्रभावित थे। भाभा के सिद्धांतों में एम्बीवैलेंस (ambivalence) और मिमिक्री (mimicry) प्रमुख हैं। 1976 में स्पीवाक की पुस्तक 'द ला ग्रामोलोजी' का अंग्रेज़ी अनुवाद 'आफ़ ग्रामटोलोजी' प्रकाशित हुई, जो जैक्स देरिदा की पुस्तक 'द ला ग्रामोलोजी' का अंग्रेज़ी अनुवाद है। इस अनुवाद के बाद से स्पीवाक एक ऐसी मौलिक उत्तर औपनिवेशिक आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हुई, जिन्होंने साम्राज्यवाद के विखंडनवादी पाठों और विउनिवेशीकरण के लिए किये गए संघर्षों पर बल दिया तथा मार्क्सवाद, स्त्री संबंधी आधारवाक्यों पर प्रश्नचिह्न लगाया। स्पीवाक ने देरिदा के विखंडनवादी विचार को व्यापक बनाने का जिम्मा लिया। साहित्यिक आलोचना को घेरकर यूरोपीय ज्ञानोदय के दर्शन, श्रम और पूँजी जैसी आर्थिक समस्याओं पर भी अचानक सवाल खड़े कर देना— स्पीवाक के इस प्रकार के विस्फोटक चिंतन ने उत्तर औपनिवेशिक चिंतन—जगत को हतप्रभ कर दिया। उन्होंने उत्तर औपनिवेशिक चिंतकों की उस भूमिका पर सवाल उठाए, जिसके तहत सामाजिक संचरना पर उठने वाले प्रश्नों को नज़रअंदाज़ किया गया था। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श को ठोस आधार प्रदान करने वाले इन चिंतकों के बाद एजाज़ अहमद, अब्दुल जॉन मोहम्मद, लिंडा हचसन, बिल ऐशक्राफ़्ट, आइमे सेजायर, फ्रेडरिक जेम्सन, टेरी ईगल्टन आदि उत्तर औपनिवेशिक विमर्शकारों ने इसे और आगे बढ़ाया है।

उत्तर उपनिवेशवाद को तब तक नहीं समझा जा सकता है जब तक उपनिवेशवाद को नहीं समझा जाता। उपनिवेशवाद का तात्पर्य है— शक्तिशाली राज्य द्वारा अपनी भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए किसी अन्य राज्य पर कब्ज़ा जमाना तथा अपनी संप्रभुता का विस्तार करना। उपनिवेशकर्ता राज्य मुख्य रूप से उपनिवेशित देश के श्रम, स्रोत और उसके बाज़ार का अधिग्रहण करते हैं तथा साथ ही अपनी सामाजिक—सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई संरचनाओं का निर्माण करके देशी जनता पर उसे थोप देते हैं। इसे सांस्कृतिक साम्राज्यवाद (Cultural Imperialism) के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। सीधे—सीधे यह कहा जा सकता है कि यह बलशाली राज्य द्वारा कमज़ोर राज्य में एक राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हस्तक्षेप की व्यवस्था है।

उपनिवेशवाद प्रायः इस विश्वास पर भी कायम किया जाता है कि उपनिवेशकर्ताओं की नैतिकता तथा उसके मूल्य देशी जनता के मूल्यों और नैतिकता से श्रेष्ठ हैं। नस्लवाद के साथ भी इसका संबंध जोड़ा जा सकता है। पश्चिमी जगत में यह मान्यता थी कि ग़ैर यूरोपीय असभ्य जनता के ऊपर शासन करने के लिए दैवीय रूप से गोरे लोगों को बनाया गया है। उपनिवेशवाद के दौरान उपनिवेशकर्ता देश एक नया मूल्य, नये विश्वास, विदेशी भाषाएँ, अजनबी-रिवाज लेकर आते हैं, उन्हें स्थापित करते हैं और फिर उपनिवेशित देश के ऊपर थोपकर चले जाते हैं, जिसे बाद में वह देश बिना-सोचे ढोता रहता है। यूरोपीय साम्राज्य ने औपनिवेशिक शासन के दौरान दुनिया को भौगोलिक रूप से दो हिस्सों में बाँट दिया—पश्चिम तथा पूरब। दोनों की अलग-अलग व्याख्याएँ की, जैसे पूरब (प्राच्य) संवेदनशील, पिछड़ा एवं असभ्य है, जबकि पश्चिम अनुशासित तार्किक, सभ्य एवं विकसित है। इसके साथ ही वह यह भी प्रचारित करता रहा कि जिन काले एवं भूरे लोगों पर वह राज कर रहा है, वे श्वेत लोगों के ऊपर बोझ थे— *white men's burden*। नियति ने श्वेत लोगों को शासन करने के लिए ही बनाया है, ताकि वे काले एवं भूरे पूरब वालों को सभ्य बना सकें। यूरोपीय साम्राज्य के बाद भी उपनिवेशवाद के दौर के अनुभवों को इसी तरह से प्रचारित किया जाता रहा। इसमें सबसे प्रमुख समस्या थी— थोपी गयी हीनता। यहीं पर उत्तर औपनिवेशिक जैसा पद आया। उत्तर औपनिवेशिक चिंतन कुछ खास विषयों को केंद्र में रखकर अकादमिक अध्ययन की दिशा को नया आयाम देना चाहता है। नस्लीय श्रेष्ठता-बोध का विरोध, लैंगिक भेद-भाव का विरोध, हाशियाकरण का विरोध, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का विरोध, प्राच्यवाद का विरोध, भाषाई तथा किसी भी प्रकार की वर्चस्ववादी अवधारणा का विरोध, प्रतिमानीकरण का विरोध, विस्थापन का विरोध, नव्य-उपनिवेशवाद का विरोध तथा जनता के प्रतिरोध का समर्थन आदि ऐसे विषय हैं, जो साहित्य में इससे पहले कभी रेखांकित नहीं किये गये। साहित्य में इन विषयों के रेखांकन के परिणामस्वरूप अनेक नये तथ्य एवं सच सामने आये, जिन्होंने साहित्य एवं इतिहास के पठन-पाठन की दिशा ही बदल दी। यह अपने आप में स्वतंत्र अवधारणा होते हुए भी मुख्य रूप से यूरोपीय साम्राज्यवाद के कायम होने से लेकर आज तक के साहित्य एवं संस्कृति को अपने अध्ययन का विषय बनाता है। यही कारण है कि यह

औपनिवेशिक युग के साहित्य एवं इतिहास में उपर्युक्त विषयों की पड़ताल करता है, साथ ही औपनिवेशिक युग के साहित्य एवं इतिहास के आधार पर कुछ नवीन विषयों को भी रेखांकित करता है। इसके साथ ही यह स्वातंत्र्योत्तर साहित्य एवं इतिहास में भी इन विषयों का अध्ययन करते हुए अपने दायरे को व्यापकता प्रदान करता है। उत्तर औपनिवेशिक चिंतन का यह स्वरूप ही इसे अन्य स्वातंत्र्योत्तर विमर्शों से अलग करता है।

यह स्वाभाविक ही है कि औपनिवेशिक शोषण के शिकार देशों के अकादमिक जगत ने इस विमर्श का स्वागत किया। ऐसे देशों को 'तीसरी दुनिया' कहा गया। जहाँ तक भारतीय संदर्भ में उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी की बात है, भारत भी दो सौ वर्ष तक पश्चिमी साम्राज्यवादी औपनिवेशिक तंत्र का भुक्तभोगी रहा। अतः हमारे अनुभव भी कमोबेश वही थे, जो अफ्रीकी, कैरेबियाई या लातीनी अमेरिकी देशों के थे। भारतीय साहित्यिक-जगत में सर्वप्रथम अंग्रेजी एवं उर्दू भाषा ने इस सैद्धांतिकी पर विचार-विमर्श करना शुरू किया। आज हिंदी साहित्य-जगत में उत्तर औपनिवेशिक विमर्श के उपयोग की संभावनाएँ देखी जा रही हैं। कुछ हिंदी आलोचकों ने इस वैचारिकी पर हिंदी साहित्य को परखने की कोशिश की है। 1857 के बाद भारतीय साहित्य में औपनिवेशिक नीतियों के प्रति असंतोष और पश्चिम से टकराव को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया जा सकता है। यह सत्ता, व्यवस्था एवं बहुसंख्यक के प्रतिकार के रूप में भी विकसित हुआ। आज़ादी के वास्तविक अर्थ अथवा वास्तविक मुक्ति की खोज को इस विमर्श से जोड़ा जा सकता है। आज के अनेक चेतनाओं के साहित्य पर भी उत्तर औपनिवेशिक विमर्श का प्रभाव है। इस दृष्टि से किसी भी काल की रचना का विश्लेषण किया जा सकता है। इसके आधार पर अनेक रचनाकारों-आलोचकों के रचना-कर्म का अथवा उनकी कृतियों का अध्ययन किया जा सकता है, किंतु इस सैद्धांतिकी का भारतीय अनुकूलन किये बिना यह निरर्थक होगा, क्योंकि इस सैद्धांतिकी का जन्म भी पश्चिम में हुआ था। अतः इसे मानक बनाकर किसी औपनिवेशिक देश के अनुभवों को सूचीबद्ध करना समीचीन प्रतीत नहीं होता। एजाज़ अहमद, जसबीर जैन, जयदेव, हरीश त्रिवेदी, मीनाक्षी मुखर्जी, मकरंद परांजपे तथा अरुण मुखर्जी आदि उत्तर औपनिवेशिक

सैद्धांतिकी पर काम करने वाले चिंतकों ने इस की उपादेयता के साथ-साथ अपर्याप्तता को भी रेखांकित किया है। वस्तुतः किसी उपनिवेशित देश की अपनी समस्याएँ भी होती हैं जो औपनिवेशिक छाया से मुक्त होती हैं। अतः केवल औपनिवेशिक शासन प्रदत्त समस्याओं पर ही केंद्रित रहने से वो जस-की-तस मुँह बाये खड़ी रहती हैं। उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी यूरोकेंद्रित रहते हुए औपनिवेशिक समस्याओं पर ही विचार करती है, जो भारतीय संदर्भ में अपर्याप्त है। इस सैद्धांतिकी की अपर्याप्तता को रेखांकित करने का आशय इसको निरर्थक सिद्ध करना नहीं बल्कि उसको परिमार्जित करना है। दरअसल उत्तर औपनिवेशिक सैद्धांतिकी हमें नित्य बदलते समाज में अपनी आलोचना-पद्धतियों से लेकर चिंतन प्रणालियों तक में निरंतर परिमार्जन एवं परिष्कार की दृष्टि देती है। यही विशिष्टता उसको पिछली तमाम अनुशासनात्मक पद्धतियों से बेहतर बनाती है। अतः भारतीय संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता के लिए इसकी पुनर्व्याख्या आवश्यक है।

भारतीय साहित्य चिंतन के संदर्भ में देखा जाए तो नस्लीय श्रेष्ठता-बोध का नकार, लैंगिक श्रेष्ठता-बोध का नकार, सभ्यता-विमर्श और यहाँ तक कि सबाल्टर्न से जुड़ा विमर्श आदि पहले से मौजूद रहा है। उत्तर औपनिवेशिक चिंतन ने हाशियाकरण, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, प्राच्यवाद, प्रतिमानीकरण और नव-उपनिवेशवाद का विरोध तथा जनता के प्रतिरोध के माध्यम से इस क्षेत्र में नई दृष्टि दी। इसके साथ ही देश-विभाजन की त्रासदी, औपनिवेशिक इतिहासलेखन, देश का सामासिक अनलिखा इतिहास, उससे उपजा विस्थापन, पुनर्वासन, सांप्रदायिकता, भाषाई विभेद —हिंदी और उर्दू के संदर्भ में— अल्पसंख्यकों के भीतर बैठे भय की समस्या आदि के रेखांकन का भी श्रेय उत्तर औपनिवेशिक चिंतन को ही जाता है।

उपर्युक्त के संदर्भ में राही मासूम रज़ा के साहित्य का अध्ययन भी संभव है। राही स्वतंत्र्योत्तर भारत के एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं। हालाँकि वह कोई उत्तर औपनिवेशिक चिंतक नहीं हैं, किंतु उन के लेखन में कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व मौजूद हैं, जो उत्तर औपनिवेशिक विमर्श का हिस्सा हैं। जहाँ तक उनके लेखन में उत्तर औपनिवेशिक तत्त्वों या चेतना को रेखांकित करने का सवाल है, तो इसे उनके

संपूर्ण साहित्य में नहीं ढूँढा जा सकता। औपनिवेशिक विमर्शों एवं उनके साम्राज्यवादी दबावों के चलते देश-विभाजन, सांप्रदायिकता, विभाजन, बर्जुआ राजनीति तथा भाषाई विभेद का विरोध आदि ही उत्तर औपनिवेशिक चिंतन के आयामों से जुड़ता है। राही के लेखन में उत्तर औपनिवेशिक तत्त्वों की पड़ताल हम तीन संदर्भों में कर सकते हैं। पहला संदर्भ देश-विभाजन तथा सांप्रदायिकता के साथ-साथ बर्जुआ किस्म की राजनीति और सरकारी व्यवस्था तंत्र का है। दूसरा संदर्भ अपनी परंपरा, उसकी स्मृति तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत को सहेज कर रखने का है तथा तीसरा संदर्भ भाषा के प्रति अत्यधिक संवेदनशील दृष्टिकोण का है। पहला संदर्भ राही के उपन्यासों के साथ-साथ उनके लेखों में भी दिखायी पड़ता है। दूसरा संदर्भ कविता के साथ-साथ लेखों में स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। तीसरा संदर्भ उनके समूचे लेखन-शैली में दिखायी पड़ता है।

राही का समूचा लेखन अपने समय की कहानी कहता है। यह समय ब्रिटिश राज द्वारा जाते-जाते देश को बाँट जाने का समय है। यह समय देश के बँट जाने से हमारी चेतनाओं के बँट जाने का भी समय है। यही कारण है कि यह सांप्रदायिकता के उभार का समय है। विस्थापन का समय है। किसानों की विवशता का समय है। मुसलमान ज़मींदारों के पतन का समय है। अल्पसंख्यक मुसलमानों के भय का समय है। राही के उपन्यासों में देश-विभाजन, सांप्रदायिकता और किसानों की समस्या के साथ-साथ हमारी साझी संस्कृति की टूटन, नस्लीय चेतना के विरोध आदि का भी चित्रण किया गया है। लेकिन इनमें भी सांप्रदायिकता और देश-विभाजन की समस्या ही मुख्य रूप से चित्रित है। राही के संपूर्ण लेखन में सांप्रदायिकता एक ज्वलंत मुद्दा है। 'आधा गाँव', 'टोपी शुक्ला' और 'ओस की बूँद' में पाकिस्तान विमर्श, सांप्रदायिकता— उससे उपजा अल्पसंख्यक मुसलमानों का भय; साथ ही मुसलमानों का विस्थापन, मुसलमानों की कांग्रेस निष्ठा और मुस्लिम लीग का विरोध, सांप्रदायिकता से ग्रसित भाषा— हिंदी-उर्दू विवाद और साझी संस्कृति का चित्रण हुआ है। राही अपने उपन्यासों में सांप्रदायिकता को औपनिवेशिक लेखन का परिणाम मानते हुए औपनिवेशिक लेखन का विरोध करते हैं। वे सामासिक संस्कृति के प्रबल समर्थन करते हैं। वह इस औपनिवेशिक मानसिकता का विरोध

करते हैं कि भारतीय मुसलमान एक अलग कौम हैं जो इस देश में समाहित नहीं हो सकती। राही यह मानते हैं कि भारतीय मुसलमान भले ही बाहर से आये हों, लेकिन उन्होंने इस देश में खुद को समाहित कर लिया है। 'कटरा बी आर्जू' में वह नव-औपनिवेशिक स्थितियों का विरोध करते हैं, जिसमें देश की बागडोर उपनिवेशवादियों द्वारा प्रभावित पूँजीपतियों के एक ऐसे वर्ग के पास चली गयी, जिसे आज़ादी का झंडा फहराने के साथ ही विरासत में औपनिवेशिक प्रबंध-व्यवस्था भी मिल गयी थी।

राही ने अपने लेखों में भी इस नव-औपनिवेशिक सत्ता दलों के साम्राज्यवादी चरित्र पर चोट की है और यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि हमें जो दागदार आज़ादी मिली, वह हमारे तत्कालीन दलाल पूँजीपति वर्ग के अंग्रेजों से समझौता करने के एवज़ मिली थी। अपने लेखों में वह औपनिवेशिक इतिहास-लेखन का विरोध भी करते हैं। पाकिस्तान-निर्माण के पीछे तथा भाषाई विभेदों के लिए राही ने खुलकर अंग्रेजी नीतियों को ज़िम्मेदार ठहराया। यही नहीं बल्कि उन्होंने इस औपनिवेशिक चेतना का विरोध भी किया। और उनके इसी औपनिवेशिकता से मुक्त चेतना का परिणाम उनकी एक बड़ी कविता 'क्रान्ति-कथा' है जिसमें उन्होंने 1857 में अंग्रेजी राज के अत्याचार और दमन की नीतियों को बेबाकी से उद्घाटित किया है। 'क्रान्ति-कथा' में 1857 की कहानी तो कही ही गयी है जिसके आधार पर पाठक उसमें उत्तर औपनिवेशिक तत्त्वों का रेखांकन कर सकता है, इसके साथ-ही-साथ इस कविता की भूमिका में राही ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे उनके औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त होने और औपनिवेशिक मानसिकता पर किये गये प्रहार को स्पष्टतः दर्शाते हैं।

राही के लेखन में न केवल चिंतन एवं विचार के स्तर पर बल्कि भाषा एवं उसकी भंगिमाओं के स्तर पर भी उत्तर औपनिवेशिक तत्त्वों का रेखांकन किया जा सकता है। राही अपने लेखन में व्यंग्य-शैली का जिस तरह से प्रयोग करते हैं, भाभा के मिमिक्री वाले सिद्धांत को प्रतिपादित करता है। भारतेन्दु तथा बालमुकुंद गुप्त के संदर्भ में इसका हमने विचन किया है। राही उपन्यास को भारतीय कहन-परंपरा के अनुसार रचते हैं। हालाँकि राही से पूर्व भी उपन्यास एवं कहानी

आदि को पश्चिमी विधा मानते हुए भी रचनाकारों ने भारतीय कहन-परंपरा के मुताबिक उसको ढाल लिया था। रेणु और भीष्म साहनी के संदर्भ में यह हमने देखा लेकिन इसके अतिरिक्त प्रेमचंद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, हरिशंकर परसाई आदि के यहाँ भी यह देखा जा सकता है। राही ने प्रेमचंद को छोड़कर उपर्युक्त रचनाकारों के मुकाबले में न केवल पश्चिमी कहन-परंपरा बल्कि पश्चिमी औपन्यासिक ढाँचे को ही तोड़ डाला। यूरोपीय उपन्यास शास्त्र में कथाकार का पाठक से रू-ब-रू होने से परहेज किया जाता था। कथाकार अप्रत्यक्ष रहकर कथा का संचालन करता था। इसके सफल प्रयोग भी किये गये। राही मासूम रज़ा उस भारतीय मौखिक परंपरा से प्रभावित थे जहाँ कथा-वाचक का हस्तक्षेप कहानी में बार-बार होता था। मसलन कथा-वाचक का यह कहना कि 'आँखों देखी और कानों सुनी कहता हूँ, अगर झूठ होतो कौआ काटे या अल्लाह की लानत' आदि। इससे कथा-वाचक पाठक को अपना आत्मीय बना लेता है। राही यह काम बहुत कुशलता से करते हैं यद्यपि कभी-कभी जब किस्सागोई की इस प्रविधि में जब वह चूकते हैं, तब उपन्यास की कथा-रस-ग्रहण में बाधा भी उत्पन्न हो जाती है। किंतु अपने अधिकतर उपन्यासों में वह इसे निबाह ले गये हैं। देखा जाये तो उन्होंने अप्रत्यक्षता के सिद्धांत को चुनौती दी है। इसके अतिरिक्त राही ने उपन्यास के परंपरागत शैलीक्रम को भी तोड़ा है। पश्चिमी औपन्यासिक संरचना में पहले भूमिका ही आती है। किंतु जब हम 'आधा गाँव' उपन्यास को पढ़ते हैं तो हमें पता चलता है कि भूमिका उपन्यास के ठीक बीच में है। यह राही के औपनिवेशिक संरचनाओं से मुक्त होकर रचनारत रहने का ही परिणाम था। साथ ही इसमें न तो कोई नायक है, न कोई मुख्य पात्र और न ही कोई कथा-वस्तु मुख्य है। इस उपन्यास की भाषा भी नयी है, एक विशेष प्रकार की भाषा जो न उर्दू है न हिंदी बल्कि भोजपुरी उर्दू है, जो ठेठ स्थानीयता की उपज है। राही ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह उनके उपन्यासों के पात्रों के व्यक्तित्व से काटकर नहीं देखा जा सकता है।

इस प्रकार निष्कर्षतः राही मासूम रज़ा के लेखन में उत्तर औपनिवेशिक तत्त्वों को रेखांकन किया जा सकता है, साथ ही उनका लेखन उत्तर-औपनिवेशिक भारत के यथार्थ को भी प्रतिबिंबित करता है।

ग्रंथ—सूची

आधार ग्रंथ—सूची

सहायक ग्रंथ—सूची (हिंदी)

सहायक ग्रंथ—सूची (अंग्रेज़ी)

लेख तथा पत्र—पत्रिकाएँ

वेब—लेख

शब्दकोश

आधार ग्रंथ-सूची

1. रज़ा, राही मासूम : आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004 ।
2. रज़ा, राही मासूम : टोपी शुक्ला, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007 ।
3. रज़ा, राही मासूम : ओस की बूँद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004 ।
4. रज़ा, राही मासूम : कटरा बी आर्जू, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1988 ।
5. रज़ा, राही मासूम : लगता है बेकार गये हम, संपा. एवं संक.—कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999 ।
6. रज़ा, राही मासूम : दिल एक सादा कागज़, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973 ।
7. रज़ा, राही मासूम : खुदा हाफ़िज़ कहने का मोड़, संपा. एवं संक.—कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999 ।
8. रज़ा, राही मासूम : सिनेमा और संस्कृति, संपा. एवं संक.—कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001 ।
9. रज़ा, राही मासूम : क्रांतिकथा 1857, संपा. एवं संक.— कुँवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009 ।
10. रज़ा, राही मासूम : मैं एक फेरीवाला, संपा. एवं संक.— कुँवरपाल सिंह, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2004 ।

अन्य आधार ग्रंथ-सूची

1. प्रेमचंद : रंगभूमि, फुलसर्किल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001 ।
2. रेणु, फणीश्वरनाथ : मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004 ।
3. साहनी, भीष्म : मय्यादास की माड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1988 ।

सहायक ग्रंथ-सूची (हिंदी)

1. अज्ञेय : खुले में खड़ा पेड़, स्मृति और काल, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 1999।
2. आनंद, राम : सं. प्रेमचंद रचनावली 7, जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1996।
3. आनंद, राम : सं. प्रेमचंद रचनावली 9, जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1996।
4. कृष्ण, प्रणय : उत्तर औपनिवेशिक साहित्यिक और सामाजिक विमर्श तथा हिंदी साहित्य, शोध-प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2007।
5. गाँधी, मोहनदास करमचंद : हिंद स्वराज, सर्व सेवा संघ-प्रकाशन, वाराणसी, 2012।
6. चतुर्वेदी, रामस्वरूप : हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000।
7. चौबे, देवेन्द्र : 1857 भारत का पहला मुक्ति संग्राम, संपा- बट्टीनारायण, हितेंद्र पटेल, प्रकाशन प्रकाशन संस्थान, 2008।
8. ठाकुर, रवींद्रनाथ : रवींद्रनाथ के निबंध (तीन भाग), अनु. विश्वनाथ नरवणे, साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण 1964 (2009)।
9. तलवार, वीरभारत, रस्साकशी : 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत, सारांश प्रकाशन, 2006।
10. तिवारी, रामचंद्र : हिंदी उपन्यासों का विकास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
11. त्रिपाठी, विश्वनाथ : हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1982।
12. थ्योंगो, न्यूगी वा : औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति शिक्षा और संस्कृति की राजनीति, अनु. आनंदस्वरूप वर्मा, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 1999।
13. द्विवेदी, हजारीप्रसाद : हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1952 (1988)।

14. देउस्कर, सखाराम गणेश : देश की बात, अनु. बाबूराव विष्णु पराङ्कर, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2005।
15. देसाई, ए. आर. : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन, नई दिल्ली, 1976।
16. नंदी, आशिस : राष्ट्रवाद बनाम देशभक्ति, रवींद्रनाथ ठाकुर और इयत्ता की राजनीति, अनु. अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005।
17. नामदेव : भारतीय मुसलमान : हिंदी उपन्यास के आईने में, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009।
18. पचौरी, सुधीश : उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996।
19. पचौरी, सुधीश : नव-साम्राज्यवाद और संस्कृति, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995।
20. पनिकर, के. एन. : औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष, अनु. आदित्य निगम, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2003।
21. पांडेय, मैनेजर : आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005 (2008)।
22. पांडेय, मैनेजर : अनभै साँचा, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 2002।
23. पांडेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981 (2009)।
24. पामदत्त, रजनी : आज का भारत, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2000।
25. प्रियंवद भारत विभाजन की अंतःकथा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2009।
26. पुनियानी, राम : सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक, अनु. रामकिशन गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005।

27. बंद्योपाध्याय, शेखर : पलासी से विभाजन तक, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ. 139, ओरिएंट लांगमैन, दिल्ली, 2004।
28. मज़ाज, असरारुल हक़ : आहंग, एजुकेशनल बुक हाऊस, अलीगढ़, प्रथम संस्करण 2003।
29. मधुरेश : संपा. मैला आँचल का महत्त्व, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004।
30. रणसुभे, सूर्यनारायण : हिंदी उपन्यास : विविध आयाम, पुस्तक संस्थान प्रकाशन, कानपुर, 1977।
31. राय, गोपाल : हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002।
32. राय, गोपाल : उपन्यास की संरचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006।
33. राय सत्या : संपा. भारत में उपनिवेशवाद, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
34. वर्मा, निर्मल : शताब्दी के ढलते वर्षों में, पत्थर और बहता पानी, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2000।
35. वर्मा, निर्मल : साहित्य का आत्म-सत्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006।
36. वर्मा, निर्मल : सर्जना पथ के सहयात्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006।
37. शर्मा, रामविलास : भारत की भाषा समस्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978।
38. शर्मा, रामविलास : सन् सत्तावन की राज्य क्रांति और मार्क्सवाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1990।
39. शर्मा, रामविलास : भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद (दो भाग), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982।
40. शर्मा, हेमंत : संपा. भारतेंदु समग्र, प्रचारक ग्रंथावाली परियोजना, हिंदी प्रचारक संस्थान, 1989।

41. शाही, विनोद : प्राच्यवाद और प्राच्य भारत, आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2007 ।
42. शुक्ल, रामचंद्र : हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 27वाँ संस्करण, संवत् 2050 ।
43. सक्सेना, प्रदीप : संपा. एवं अनु. इतिहास का सच और सच का इतिहास, उद्भावना प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003 ।
44. सक्सेना, प्रदीप : संपा. 1857 : महाक्रांति या महाविद्रोह, प्रवीण प्रकाशन, 2008 ।
45. सरकार, सुमित : आधुनिक भारत 1885–1947, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002 ।
46. सिंह कुँवरपाल : संपा. राही और उनका रचना–संसार, शिल्पायन, दिल्ली, 2004 ।
47. हक, अब्दुल : क़दीम उर्दू कराची, 1961 ।
48. हमज़ातोव, रसूल : मेरा दाग़िस्तान,, अनु.– डॉ. मधुलाल मधु, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007 ।
49. हसन, मोहम्मद : हिंदी अदब की तारीख़, एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2012 ।
50. हुसैन, सैयद एहतिशाम : उर्दू अदब की तन्कीदी तारीख़, क़ौमी कौन्सिल बराये फ़रोग़ उर्दू ज़बान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1983 ।

सहायक ग्रंथ-सूची (अंग्रेज़ी)

1. Ahmad, Aijaz. In Theory: Classes, Nations, Literatures. Verso, London, 1992.
2. Alun, Munslow. Deconstructing History. Routledge, London, 2006.
3. Ashcroft, William D., Gareth Griffith, and Helen Tiffin (eds.): The Empire Writes Back: Theory and Practice in Post-Colonial Literatures. Routledge, London, 1989.
4. Banerjee, Debadas. Colonialism in Action: Trade, Development and Dependence in Late India. Orient Longman, New Delhi, 1999.
5. Barnes, Leonard. Empire or Democracy: A Study of The Colonial Question. Routledge, London, 1998.
6. Bates, Crispin. Beyond Representation: Colonial and Postcolonial Constructions of Indian Identity. Oxford University Press, New Delhi, 2006.
7. Beniwal, Anup. Represents Partition: History, Violence and Narrative. Shakti Book House, Delhi, 2005.
8. Benson, Eugene. Encyclopedia of Post-Colonial Literatures in English. Routledge, London, 1994.
9. Bhabha, Homi K. The Location of Culture, Routledge, London and New York, 1994.
10. Bhabha, Homi K. (eds.) Nation and Narration, Routledge, London and New York, 1990.
11. Boehmer, Elleke. Colonial and Postcolonial Literature: Migrant Metaphors. Oxford University Press, UK, 1995.
12. Césaire, Aimé. 'Discourse On Colonialism, (Trans.) John Pinkham, Monthly Review Press, New York and London, 1972, First Pub. 1955.

13. Chakraborty, Dipesh, Rochona Majumdar, Sartori Sartori. (eds.) *From The Colonial to The Postcolonial: India and Pakistan in Transition*, Oxford University Press, New Delhi, 2007.
14. Chakraborty, Kaushik. *Decolonising The Revolt of 1857: Colonial Order, Rebel Order, Rebel, Vision and The Shakespearean Weltanschauung of The Bengali Babus*, Readers Service, 2007.
15. Chandhoke, Neera. *Understanding The Post-Colonial World Theory and Method*. Sterling Publishers, New Delhi, 1994.
16. Chatterjee, Amal. *Representations of India 1740-1840: The Creation of India in The Colonial Imagination*, Macmillan, Houndsmill/London, 1998.
17. Chatterjee, Partha. *The Nation and Its Fragments (Colonial and Postcolonial Histories)*. Oxford University Press, New Delhi, 2001.
18. Chatterjee, Partha and Pradi Jeganathan. (eds.) *Community, Gender and Violence*, Permanent Black, Delhi, 2000.
19. Chatterjee, Partha and Raziuddin Aquil. *History in Vernacular*, Permanent Black, Ranikhet, 2008.
20. Chatterjee, Partha. *Princely Impostor: The Kumar of Bhawal and The Secret History of Indian Nationalism*, Permanent Black, Delhi, 2004.
21. Cooper, Fredrick. *Colonialism in Question: Theory, Knowledge, History*, University of California, Barkley/Los Angeles, 2005.
22. Dalmia, Vasudha and Heinrich Van Stieteneron. *Representing Hinduism: The Construction of Religious Traditions and National Identity*
23. Damodaran Vinita, Mayaunnithan-Kumar. (eds.) *Postcolonial India, History, Politics and Culture*, Manohar, 2000.
24. Desai, Gaurav, Supriya Nair. (eds.) *Postcolonisation: An Anthology of Cultural Theory and Criticism*, Oxford, Berg, 2005.

25. Dhareshwar, Vivek, Tejaswini Nirayana, P Sudhir. (eds.) *Interrogating Modernity: Cultures and Colonisation in India*, Seagull Books, Calcutta, 1993.
26. Dube, Saurabh. *Postcolonial Passages: Contemporary History Writing On India*, Oxford University Press, New Delhi, 2004.
27. Eagleton, Terry. *Structuralism and Semiotics, Literary Theory*, Maya Blackwell, Doaba Publications, 2000.
28. Elst, Coenraad. *Decolonising The Hindu Mind: Ideological Development of Hindu Revivalism*, Rupa, New Delhi, 2001.
29. Hobsbawm, Eric J. *Age of Extremes: A History of The World 1914-1991*, Penguin, London, 1996.
30. Horowitz, Irving. Josus De Castro and John Gerassi, *Latin America Radicalism: A Documentary Report of Left and Nationalist Movement*, Jonathan Cape, London, 1969.
31. Fanon, Frantz. *Black Skin, White Masks*. By Charles Lam Markmann, Grove P, New York, 1967.
32. Fanon, Frantz. *The Wretched of the Earth*. By Constance Farrington, Harmondxs Worth, Penguin Books, 1967.
33. Farooqi, Shamsurrahman. *History of Urdu Language*, Oxford, New Delhi, 2000.
34. Foucault, Michel. *The Order of Things: An Archaeology of The Human Sciences*, Vintage Books, New York, 1970.
35. Foucault, Michel *Power/Knowledge: Selected Interviews and Other Writings, 1972-77*. Pantheon, New York, 1980.
36. Gandhi, Leela. *Postcolonial Theory: A Critical Introduction*. Columbia University Press, New York, 1998.
37. Gilbert, Helen and Joanne Tompkins. *Post-Colonial Drama: Theory, Practice, Politics*. Routledge, London, 1996.

38. Gopal, Priyamvada. *Literary Radicalism in India: Gender, nation and the transition to independence*, Routledge, London, 2008.
39. Guha, Ranajit. *History at The Limit of World History*, Oxford University Press, New Delhi, 2002.
40. Guha Ranjit. *Writings on South Asian History and Society*. Oxford University Press, New Delhi, 2005.
41. Guha, Ranajit and Gayatri Chakravorty Spivak. *Selected Subaltern Studies*. Oxford University Press, Calcutta, 1998.
42. Hiddleston, J. *Understanding Postcolonialism*, Rawat Publications, New Delhi, 2012.
43. Hutcheon, Linda. *The Politics of Postmodernism*, Routledge, London, 2005.
44. Inden, Ronald. *Imagining India*, Blackwell, Oxford, 1990.
45. Innes, C. L. *The Cambridge Introduction to Postcolonial Literature in English*. Cambridge University Publication, Cambridge, First South Asian edition 2008.
46. Jain, Jasbir, Veena Singh. (eds.) *Contesting Postcolonialism*, Rawat Publications, Jaipur, 2004.
47. Jian, Jasbir. *beyond postcolonialism: Dreams and Realities of a Nation*, Rawat Publications, New Delhi, 2006.
48. Juneja, Om P. *Post Colonial Novel: Narratives of Colonial Consciousness*. Creative Books, New Delhi, 1995.
49. Khan, M.Q. Bijay Kumardas. (eds.) *Studies in Postcolonial Literature*, Atlantics Pulications, New Delhi, 2007.
50. King, Richard. *Orientalism and Religion: Post-Colonial Theory, India and 'The Mystic East'*, Oxford University Press, New Delhi, 1999.
51. Kosambi, D. D. *Myth and Reality: Studies in the Formation of Indian Culture*, Popular Prakashan, Bombay, 1962.

52. Krishan Shankaran. *Postcolonial Insecurities: India, Sri Lanka and the Question of Nationhood*, Oxford University Press, New Delhi, 2000.
53. Kumar T. Vijay. *Focus India: Postcolonial Narratives of The Nation*, (eds.) Pencraft International, New Delhi, 2007.
54. Lal, Vinay. *The History of History*, Oxford University Press, Delhi, 2006.
55. Lenin, V. I. *Imperialism: The Highest Stage of Capitalism*, Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1947.
56. Loomba, Ania. *Postcolonial Studies and Beyond*, Duke University, Durham/London, 2005.
57. Loomba, Ania, Suvir Kaul. (eds.) *Postcolonial Studies and Beyond*, Permanent Black, Ranikhet, 2005.
58. Mcleod John. *Beginning Postcolonialism*, Manchester University Press, 2000, First South Asian Print, 2007.
59. McClintock, Anne. *Imperial Lather: Race, Gender and Sexuality in The Colonial Contest*, Routledge, London, New York, 1995.
60. Memmi, Albert. *The Colonizer and the Colonized*. Orion Books, New York, 1965.
61. Mohanram, Radhika. (ed.) *Postcolonial Discourse and Changing Cultural Contexts: Theory and Criticism*. Greenwood P, Westport, 1995.
62. Mohanty, Chandra Talpade. *Postcolonial Theory: Contexts, Practices, Politics*. Verso, London, 1997.
63. Mongia, Padmini. *Contemporary Postcolonial Theory: A Reader*, Oxford University Press, New Delhi, 2007.
64. Mukherjee, Meenakshi (ed.) *Early Novels in India*, Sahitya Academy, New Delhi, 2002.

65. Nandi, Ashish. *At The Egde of Psychology: Essays in Politics and Colonialism*, Oxford University Press, Delhi, 1980.
66. Nandi, Ashish. *The Intimate Enemy: Loss and Recovery of Self under Colonialism*, Oxford University Press, Delhi, 1983.
67. Oreni, Frencheska (eds.), *Before The Divide : Hindi and Urdu Literary Culture*, Orient Black Swan, 2010.
68. Padamsee, Alex. *Representations of Indian Muslims in British Colonial Discourse*, Houndsmill, Palgrave, 2005.
69. Pal, Adesh. (eds.), *Decolonisation: A Search For Alternatives*, Creative Books, New Delhi, 2001.
70. Pandey, Gyanendra. *Construction of Communalism in North India*, Oxford, New Delhi, 2009.
71. Pandey, Vishva Mohan. *Historiography of Indian Partition: An Analysis of Imperialistic Writings*, Atlantic, New Delhi, 2003.
72. Panikker, K. N. *Colonialism Culture and Resistance*, Oxford University Press, New Delhi, 2007.
73. Parker, Michael and Roger Starkey, *Postcolonial Literatures: Achebe, Ngugi, Desai, Walcott*, Chennai, Palgrave Macmillan, 2007.
74. Prakash, Bodh. *Writing Partition*. Pearson Education, 2009.
75. Prakash, Gyan. (ed.), *After Colonialism: Imperial Histories and Postcolonial Displacements*. Nj: Princeton University Press, Princeton, 1995.
76. Rai, Amrit. *A House Divided, The Origin and Development of Hindi/Hindavi*, Oxford University Press, New Delhi, 1984.
77. Rai, R. N. (eds.) *1857 and After: Literary Representations*, Pencraft International, New Delhi, 2009.
78. Ramakrishnan, E. V. *Narrating India: The Novel in Search of The Nation*, Sahitya Academy, Delhi, 2005.

79. Rasool, Naz. *Global Issues in Languages, Education and Development Perspectives From Postcolonial Countries*, Orient Longman, Hyderabad, 2007.
80. Sartre, Jean-Paul. *Being and Nothingness: An Essay on Phenomenological Ontology*. Methuen, London, 1957.
81. Singh, Mahendra, *Postcolonialism*, Adhyayan Pubs, New Delhi, 2010.
82. Singh, R. A. and Sanjay Kumar. *Post-Colonial Indian English Writing*: Bahri Publications, New Delhi, 1997.
83. Soyinka, Wole. *Myth, Literature and The African World*. Cambridge University Press, Cambridge, 1990.
84. Spivak, Gayatri Chakravorty. *A Critique of Postcolonial Reason: Toward A History of the Vanishing Present*. Harvard University Press, Cambridge, 1999.
85. Spivak, Gayatri Chakravorty. *The Post-Colonial Critic: Interviews, Strategies, Dialogues*. Routledge, London, 1990.
86. Spivak, Gayatri Chakravorty. Donna Landry and Gerald M Maclean, (eds.) *The Spivak Reader: Selected Works of Gayatri Chakravorty Spivak*. Routledge, New York, 1996.
87. Srivastwa, Neelam. *Secularism in The Postcolonial Novel : National and Cosmopolitan Narratives in English*, Routledge, London, 2008.
88. Srivastava, Ramesh. K. (eds.) *Colonial Consciousness in Black American, African and Indian Fiction in English*, Abs Publications, Jalandhar, 1991.
89. Tarlo, Emma. *Unsettling Memories: Narratives of India's 'Emergency'*, Permanent Black, New Delhi, 1993.
90. Thiongo, Ngugi Wa. *Moving the Centre: The Struggle for Cultural Freedom*. James Currey, London, 1993.

91. Thiongo Ngugi Wa. *Writing Against Neocolonialism*. Vita Books, Wembley, 1986.
92. Thomson and Garette. *Rise and Fulfillment of British Rule in India*, Central Book Depot, Allahabad, 1932.
93. Trivedi, Harish and Meenakshi Mukherjee. (eds.) *Interrogating Post-Colonialism: Theory, Text and Context*. Indian Institute of Advanced Study, Shimla, 1996.
94. Trivedi, Harish. (eds.) *Nation across The World: Postcolonial Literary Representations*, New Delhi, 2007.
95. Vickery, John B. (ed.) *Myth and Literature: Contemporary Theory and Practice*, University of Nebraska Press, Lincoln,
96. Walder, Dennis. *Post-Colonial Literature in English: History, Language, Theory*. Blackwell Pubs, Oxford, 1998, Re. 2002.
97. Young, Robert. *White Mythologies: Writing History and the West*. Routledge, London, 1990.
98. Young, Robert. *Colonial Desire: Hybridity in Theory, Culture and Race*. Routledge, London, 1995.
99. Young, Robert Jr. *Postcolonialism, A Very Short Introduction*, Oxford University Press, New Delhi, 2006.

लेख एवं पत्र-पत्रिकाएँ

1. अली, मुबारक : '1857 : इतिहास का पुनर्निर्माण', अनु. अशोककुमार पांडेय, संपा. कमला प्रसाद, प्रगतिशील वसुधा-76, जनवरी-मार्च 2008, भोपाल।
2. ईगल्टन, टेरी : 'साहित्य और इतिहास', रचना समय, संपा. हरि भटनागर, 2007, भोपाल।
3. ईगल्टन, टेरी : उत्पादक के रूप में लेखक', अनु. रामकीर्ति शुक्ल, संपा. सदानंद शाही, साखी 12, 2005, वाराणसी।
4. कुमार, आशुतोष : संपादकीय, अभिनव भारती, हिंदी विभाग, वार्षिक शोध-पत्रिका, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय. 2006-2008।
5. कुमार, आशुतोष : 'शहर पर उड़ती चीलें', संपा. अरुण कमल, आलोचना, अप्रैल-सितंबर, भीष्म साहनी स्मृति अंक, 2004, पटना।
6. चतुर्वेदी, जगदीश्वर : 'रामविलास शर्मा की इतिहासदृष्टि के कुछ पहलू', संपा. विजय गुप्त, साम्य 26, 2011, अंबिकापुर।
7. त्रिपाठी, डी. एन. : '1857 का इतिहास-विमर्श', संपा. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, अनभै साँचा, जुलाई-दिसंबर 2007, दिल्ली।
8. तिवारी, अजय : 'उत्तर औपनिवेशिक समय में साहित्य', संपा. वेद प्रकाश, कला संकाय शोध-पत्रिका, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, 2010-2011।
9. तिवारी, नित्यानंद : 'मैला आँचलः वर्तमान सृजनशीलता का साक्ष्य', संपा. मधुरेश, मैला आँचल का महत्त्व, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004।
10. त्रिपाठी, विश्वनाथ : 'भीष्म साहनी का उपन्यास 'मय्यादास की माड़ी', संपा. आशुतोष कुमार, अभिनव भारती, हिंदी विभाग, वार्षिक शोध-पत्रिका, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, 2006-2008।
11. त्रिवेदी, हरीश : 'भारतीय अंग्रेजी उपन्यास : हिंदी की दृष्टि में', संपा. राजेंद्र यादव, हंस, जनवरी, 1999।

12. त्रिवेदी, हरीश : एडवर्ड सईद का प्राच्यवाद और भारत, संपा. सदानंद शाही, साखी 15—16, 2007, वाराणसी।
13. पंकज, कुमार : इमरजेन्सी की भयावहता और 'कटरा बी आर्जू', संपा. जयप्रकाश 'धूमकेतु', अभिनव कदम 6—7, नवंबर 2001—अक्टूबर 2002, मऊ।
14. पांडेय, मैनेजर : 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की समस्याएँ', संपा. नामवर सिंह, आलोचना, जनवरी—मार्च, 1979।
15. पांडेय, मैनेजर : 'उपन्यास और यथार्थ : एक टिप्पणी', संपा. राजेंद्र यादव, हंस, जनवरी, 1999।
16. मित्र, सत्यप्रकाश : 'संघर्षशील रचनात्मकता का नया पाठ', संपा. अरुण कमल, आलोचना 17—18, भीष्म साहनी स्मृति अंक, 2004, पटना।
17. मिश्र, शिवकुमार : 'राही मासूम रजा की याद में', संपा. ज्ञानरंजन, पहल 71, 2002, जबलपुर।
18. यादव, राजेंद्र : 'मेरी तेरी उसकी बात' (संपादकीय), हंस, जून 2006।
19. रश्दी, सलमान : 'जैसे कि यह जगह जहाँ गलियों में आप उपन्यास से टकरा जाते हैं', सलमान रश्दी से निवेन की चर्चा, संपा. ज्ञानरंजन, पहल—89, जुलाई 2008, जबलपुर।
20. श्रीवास्तव, रवि : उपनिवेशवाद और भारतीय नवजागरणकालीन चिंतन के अंतर्विरोध, संपा. सदानंद शाही, साखी 15—16, 2007, वाराणसी।
21. सईद, एडवर्ड : 'प्राच्यवाद क्यों?', अनु. रामकीर्ति शुक्ल, संपा. सदानंद शाही, साखी 13—14, 2006, वाराणसी।
22. सईद, एडवर्ड : 'साम्राज्य की सांस्कृतिक अखण्डता', अनु. रामानंद राय, संपा. सदानंद शाही, साखी 13—14, 2006, वाराणसी।
23. सक्सेना, प्रदीप : 1857 के उत्थान और सोवियत संघ के पतन...., संपा. नलिन रंजन सिंह, वरिमा, अंक—1, अक्टूबर 2010, लखनऊ।

वेब-लेख

1. <http://www.postcolonialweb.org/poldiscourse/colondedef.html>
2. इराक़ पर हमले के बाद उत्तर औपनिवेशिक विमर्श, नील लुजारस,
<http://www.lwbooks.co.uk/journals/newformations/articles/59%20lazarus.pdf>, पृ. 17
3. भारत में जनगणना और सांप्रदायिकता की निर्मिति, आर. बी. भगत,,
www.sacw.net/2002/censusandcommunalism.html, पृ. 16
4. www.virginia.edu/soasia/system/kisan/papers/concepts.html, बार्डर,
लेंग्वेज, पीजेंट्स, नेशनस : कोलोनियल कांसेप्ट्स इन इंडिया, पीटर रॉब, ड्राफ़्ट
कॉपी, 1997, वाल्टर हाजर चार्ल्सविले कांफ्रेंस

शब्दकोश (हिंदी, उर्दू एवं अंग्रेज़ी)

1. New Oxford Advanced Learner's Dictionary, Oxford University Press, Printed in India, 2005.
2. फ़िरोज़ुल लोगात, मौलवी फ़िरोज़ुद्दीन, अन्जुम बुक डिपो, दिल्ली, 1998
3. राजपाल शिक्षार्थी हिंदी-अंग्रेज़ी शब्दकोश, डॉ. हरदेव बाहरी, दिल्ली, 2002
4. राजपाल शिक्षार्थी अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दकोश, डॉ. हरदेव बाहरी, दिल्ली, 2002
5. शिप्रा अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दकोश, साफ़्टवेयर
6. स्टारडिक्ट अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दकोश, साफ़्टवेयर
7. शब्दकोश ऑनलाइन